Social Institutions

DSOC102

LOVELY
PROFESSIONAL
UNIVERSITY

SOCIAL INSTITUTIONS

Copyright © 2012 Laxmi Publications (P) Ltd.
All rights reserved

Produced & Printed by
LAXMI PUBLICATIONS (P) LTD.
113, Golden House, Daryaganj,
New Delhi-110002
for
Lovely Professional University
Phagwara

DLP-7764-090-SAMAJIK SANSTHA
Typeset at : Friends Enterprises, Delhi

C—4714/012/02
Printed at : Sanjay Printers & Publishers (P) Ltd., Delhi

(SYLLABUS)
(Social Institutions)

उद्देश्य

- छात्रों को महत्त्वपूर्ण सामाजिक संस्थाओं के परिचय कराने हेतु।
- सामान्य और प्रमुख सामाजिक संस्थाओं की संरचना और समारोह के विषय में छात्रों को परिचित कराने के लिए।

(Objectives)

- To introduce the students to the important social institutions.
- To familiarize the students with the general structure and function of major social institutions.

Sr. No.	TOPICS
1	Economic & Society: Man, nature and social production, Economic system of simple and Complex Societies–barter and ceremonial exchange
2	Economic & Society (Part-2): Market economy and control economy, Jajmani system
3	Family and Marriage: Different forms of family and marriage
4	Family and Marriage (Part-2):Changes in family pattern worldwide, Alternatives to family; Divorce and Separation
5	Kinship : Importance of Kinship
6	Politics in Society: Sociological Theories of Power and Bureaucracy
7	Politics in Society (Part-2): Political Parties and Pressure Groups, Nation State and Citizen ship, Democracy
8	Religion: Types of religious practices: Animism, monism, Pluralism, Sects, Cults
9	Religion in Modern Society: Religion and Science and Secularization
10	Religious revivalism and fundamentalism

(Units) **(CONTENTS)** **(Page No.)**

1.	मानव की अवधारणा (Concept of Human)	1
2.	आर्थिक व्यवस्था (Economic System)	15
3.	आधुनिक आर्थिक व्यवस्थाएँ (Modern Economic System)	24
4.	जजमानी व्यवस्था (Jajmani System)	34
5.	परिवार एवं विवाह (Family and Marriage)	47
6.	विश्व स्तर पर परिवार के स्वरूप में परिवर्तन (Changes in Form of Family at World Level)	68
7.	परिवार का विकल्प : विवाह-विच्छेद (तलाक एवं अलगाव) (Option of Family : Divorce and Separation)	83
8.	नातेदारी व्यवस्था (Kinship System)	98
9.	सत्ता का समाजशास्त्रीय सिद्धांत (Sociological Theory of Authority)	110
10.	नौकरशाही (Bureaucracy)	122
11.	राजनीतिक दल एवं दबाव-समूह (Political Parties and Pressure Groups)	134
12.	राष्ट्र-राज्य, नागरिकता एवं लोकतंत्र (Nation-State, Citizenship and Democracy)	149
13.	धार्मिक व्यवहार के प्रकार : आत्मवाद, मानावाद, बहुदेववाद, संप्रदाय, पंथ (Types of Religious Practices : Animatism, Manaism, Pluralism, Sects, Cults)	168
14.	आधुनिक समाज में धर्म (Religion in Modern Society)	177

नोट

इकाई–1 : मानव की अवधारणा (Concept of Human)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)
प्रस्तावना (Introduction)
1.1 समाज विज्ञानों में मानव की अवधारणा (Concept of Man in Social Sciences)
1.2 समाजशास्त्र में मानव की अवधारणा (Concept of Man in Sociology)
1.3 सामाजिक उत्पादन (Social Production)
1.4 'समाज' का सामान्य अर्थ (General Meaning of Society)
1.5 समाजशास्त्र में समाज का अर्थ (Meaning of Society in Sociology)
1.6 मानव की अवधारणा एवं समाजशास्त्रीय सिद्धांत व उपागम (Concept of Man and Sociological Theories and Approaches)
1.7 प्रत्यक्षवादी समाजशास्त्रीय सिद्धांत में मानव की अवधारणा (Concept of Man in Positivistic Sociological Theory)
1.8 प्रकार्यवादी समाजशास्त्र में मानव की अवधारणा (Concept of Man in Functional Sociology)
1.9 द्वंद्वात्मक एवं निर्वचनात्मक समाजशास्त्र में मानव की अवधारणा (Concept of Man in Dialectical and Interpretative Sociology)
1.10 आलोचनात्मक एवं प्रघटनात्मक समाजशास्त्र में मानव की अवधारणा (Concept of Man in Critical and Phenomenological Sociology)
1.11 भारतीय विचारधारा में मानव की अवधारणा (Concept of Man in Indian Ideology)
1.12 सारांश (Summary)
1.13 शब्दकोश (Keywords)
1.14 अभ्यास-प्रश्न (Review Question)
1.15 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- सामाजिक विज्ञानों में मानव की अवधारणा को समझने में।
- समाजशास्त्र में मानव की अवधारणा का वर्णन करने में।
- मानव की अवधारणा के समाजशास्त्रीय सिद्धांतों की व्याख्या करने में।
- भारतीय विचारधारा में मानव की अवधारणा का उल्लेख करने में।

नोट

प्रस्तावना (Introduction)

पृथ्वी पर जितने जीव हैं, उनमें व्यक्ति (मानव) एक अनूठा प्राणी है। एक ओर उसने अपने ज्ञान के सहारे ब्रह्मांड के रहस्यों को जानने का प्रयत्न किया है तो दूसरी ओर स्वयं मानव भी मानव के लिए चिंतन का विषय रहा है। ग्रीक विद्वानों ने मानव और समाज की प्रकृति पर बहुत विचार किया। उन्होंने यह जानने का प्रयास किया कि मनुष्य की मूल प्रकृति क्या है–वह अच्छा है या बुरा, सामाजिक दृष्टि से उत्तरदायित्वपूर्ण है या स्वार्थी, मानव में जो कुछ है, उसमें से कितना जन्मजात है और कितना पर्यावरण की उपज, मानव व्यक्तित्व की व्यक्तिगत विशेषताएँ क्या हैं तथा वे कौन-सी सामान्य विशेषताएँ हैं जो केवल मानव में पायी जाती हैं और अन्य प्राणियों में नहीं, आदि। मानव की अवधारणा के अंतर्गत प्रमुख रूप से यह विचार किया गया है कि मानव की शारीरिक एवं मानसिक रचना क्या है, उसकी प्रकृति क्या है, मानव और समाज व संस्कृति के बीच क्या संबंध है, क्या व्यक्ति समाज की देन है या समाज व्यक्ति की उपज, आदि। मानव की अवधारणा को धर्मशास्त्र, दर्शनशास्त्र, प्राकृतिक विज्ञानों एवं सामाजिक विज्ञानों में भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों के परिप्रेक्ष्य में देखा गया है। हम यहाँ इन विभिन्न दृष्टिकोणों का उल्लेख करेंगे।

धार्मिक-आध्यात्मिक परिप्रेक्ष्य–धार्मिक दृष्टि से व्यक्ति एवं ईश्वर के संबंधों पर विचार किया गया है। धर्म मानव के जीवन का अंतिम लक्ष्य धर्मानुसार आचरण करते हुए मोक्ष प्राप्त करना मानता है। विश्व में अनेक धर्म हैं, सभी धर्मों में ईश्वर-प्राप्ति के मार्ग एवं साधन अलग-अलग बताए गए है, किंतु साध्य, उद्देश्य एवं मंजिल सभी की एक ही है। धर्म व्यक्ति को नैतिक आचरण करने की प्रेरणा देता है। धर्म अलौकिक शक्ति के भय से व्यक्ति एवं समाज पर नियन्त्रण बनाए रखने का कार्य भी करता है। धर्म व्यक्ति को अलौकिक शक्तियाँ प्राप्त करने की भी प्रेरणा देता है। इन शक्तियों को मानव ध्यान, तपस्या, योग साधना, कर्म एवं भक्ति, आदि के द्वारा प्राप्त कर सकता है। धर्म में मानव को सांसारिक वस्तुओं को त्यागकर स्वयं के कल्याण एवं जन्म-मरण के चक्र से मुक्त होने की बात भी कही गई है।

दार्शनिक-तार्किक परिप्रेक्ष्य–दार्शनिक दृष्टि से मानव को अन्य प्राणियों की अपेक्षा श्रेष्ठ इसलिए माना गया है कि उसमें तर्क-शक्ति है। तर्क के आधार पर वह किसी वस्तु के गुण-अवगुण व अच्छाई-बुराई देख सकता है और समाज को सुसंगठित कर सकता है। दर्शन में नैतिकता का भी स्थान है। अच्छाई-बुराई को तर्क एवं नैतिकता दोनों आधारों पर देखा जा सकता है। नैतिकता समय, स्थान व समाज सापेक्ष है, फिर भी कुछ सार्वभौमिक नैतिक मूल्य हैं जो सभी समाजों में पाए जाते हैं जिनके पालन की मानव से अपेक्षा की जाती है।

प्राकृतिक विज्ञान परिप्रेक्ष्य–मानव को प्राकृतिक विज्ञानों में भिन्न दृष्टि से देखा जाता है। प्राणीशास्त्र मानव की शारीरिक रचना, रक्त-संचार, हृदय, मस्तिष्क एवं अन्य अंगों की रचना व कार्य पद्धति, आदि का अध्ययन करता है। चिकित्सा एवं औषधि विज्ञान में मानव के रोगों, उनके कारणों एवं उपचार तथा स्वास्थ्य लाभ, आदि की विवेचना की जाती है।

1.1 समाज विज्ञानों में मानव की अवधारणा (Concept of Man in Social Sciences)

समाज विज्ञानों ने भी मानव के बारे में अपने-अपने परिप्रेक्ष्य से विचार किया है। **मनोविज्ञान** मानव को जैविक चालकों (Biological Drives) से प्रभावित प्राणी मानता है। मनोविज्ञान में मानव की मन:स्थिति, मूल प्रवृत्तियों, अनुभूतियों, संवेगों, अभिप्रेरणाओं, मनोवृत्तियों, चालकों, आदि का अध्ययन किया जाता है। वह मानव मन के चेतन-अचेतन व अर्द्ध-चेतन पक्षों एवं व्यक्तित्व-निर्माण के विभिन्न पहलुओं का भी अध्ययन करता है। जैविक चालकों का सिद्धांत मानव को समाज का विरोधी मानता है, यह मानव को एक कमज़ोर नियंत्रण वाला प्राणी मानता है जिसकी मूल पुरातन प्रकृति कभी भी सामाजिक दृष्टि से विघटनकारी व्यवहार प्रकट कर सकती है।

अर्थशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य मानव को एक आर्थिक प्राणी के रूप में देखता है। उत्पादन, उपभोग, विनिमय एवं वितरण में व्यक्ति की भूमिका का अवलोकन एवं अध्ययन अर्थशास्त्र का विषय है। यह मानव जीवन में अर्थ को केन्द्रीय विषय मानकर चलता है। संपन्नता और विपन्नता मानव को कैसे प्रभावित करती है, इसका भी यहाँ अध्ययन

नोट

किया जाता है। **राजनीतिशास्त्र** मानव का अध्ययन सत्ता, शक्ति, राज्य आदि के आधार पर करता है। वह व्यक्ति एवं राज्य के संबंधों की भी विवेचना करता है। **इतिहास** व्यक्ति को अतीत की उपज मानकर उसके सामाजिक उद्विकास, भूतकालीन जीवन, समाज व संस्कृति का अध्ययन करता है। **मानवशास्त्र** में मानव के शारीरिक उद्भव से लेकर उसके समाज, संस्कृति, व्यक्ति निर्माण में संस्कृति की भूमिका, उसके आदिम जीवन, अर्थव्यवस्था, राजनीतिक जीवन, कला, भाषा, प्रजाति, धर्म, आदि सभी पक्षों का अध्ययन किया जाता है।

1.2 समाजशास्त्र में मानव की अवधारणा (Concept of Man in Sociology)

समाजशास्त्री मानव को मूल प्रवृत्तियों का दास या अतार्किक प्राणी मानने के बजाय उसे एक सामाजिक प्राणी मानते हैं। उसे एक ऐसी रचना मानते हैं जिसकी मूलप्रवृत्तियों (Instincts) को समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा पालतू बनाया जा सकता है और परिवर्तित किया जा सकता है तथा मानव अपने आप को इस रूप में प्रस्तुत करता है कि वह समाज की अपेक्षाओं की पूर्ति कर सके। मानव समाजीकरण के द्वारा सामाजी मानदंडों (Norms) को सीखकर उनके अनुरूप आचरण करता है। मानव की समाजशास्त्रीय अवधारणा यह मानती है कि समाज में अपराध, बाल-अपराध, आत्महत्या एवं विचलन मानव की मूल प्रवृत्तियों के कारण नहीं वरन् सामाजिक पर्यावरण एवं सामाजिक संरचना की देन हैं। समाजशास्त्री यह मानते हैं कि समाज विरोधी मानव को बदलने के लिए पहले हमें उसकी उन सामाजिक दशाओं को बदलना होगा जो उसे अपराधी बनाती हैं तथा समाज विरोधी कार्य करने को प्रेरित करती हैं। उनकी मान्यता है कि मानव की स्वार्थी एवं समाज-विरोधी प्रवृत्ति को नियन्त्रित किया जा सकता है और उन्हें मानव कल्याण की दिशा में मोड़ा जा सकता है। वे यह भी मानते हैं कि सामाजिक जीवन मानव को विकास एवं आत्माभिव्यक्ति के लिए अधिक स्वतंत्रता प्रदान करता है बजाय उसकी असामाजिक प्रकृति के।

मानव क्या है या समाजशास्त्र में मानव की अवधारणा के बारे में चिंतन, समाजशास्त्र के विकास के साथ-साथ बदलता रहता है। प्रारंभ में समाजशास्त्र जब दर्शनशास्त्र के निकट था तो मानव की अवधारणा को दार्शनिक एवं नैतिक परिप्रेक्ष्य में देखा गया। जब कॉम्ट, वेबर और दुर्खीम जैसे समाजशास्त्रियों ने समाजशास्त्र को दर्शन के प्रभाव से मुक्त कराकर उसे विज्ञान के नजदीक लाने और विज्ञान की श्रेणी में रखने का प्रयत्न किया तो मानव के बारे में भी वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य विकसित हुआ। समाजशास्त्र में अपने जन्म से लेकर अब तक की ऐतिहासिक यात्रा में मानव और समाज के बीच संबंध के बारे में विचारों में भिन्नता पायी जाती है।

समाजशास्त्र में मानव की अवधारणा को दो दृष्टिकोणों से देखा गया है–(*i*) ऐतिहासिक, एवं (*ii*) सैद्धांतिक। ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में यह देखने का प्रयत्न किया गया है कि बदलती सामाजिक संरचना में मानव की समस्याओं को समझने में समाजशास्त्र का क्या योगदान रहा है। सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य में समाजशास्त्र में प्रचलित सिद्धांतों एवं उपागमों में मानव को किस रूप में देखा गया है, का अध्ययन किया जाता है। समाजशास्त्र का जन्म पश्चिमी देशों में हुआ, अत: पश्चिमी सभ्यता, मूल्यों, सामाजिक संरचना, प्रतिमानों आदि का उस पर प्रभाव पाया जाता है। समाजशास्त्रीय विश्व दृष्टिकोण (world view) सार्वभौमिक होने के स्थान पर सांस्कृतिक दृष्टि से पश्चिमी रहा है। अत: समाजशास्त्र में मानव का संबोध (concept) सैद्धांतिक समझ के स्थान पर पश्चिमी सभ्यता व संस्कृति से प्रभावित रहा है। हम यहाँ समाजशास्त्र में मानव के संबोध (अवधारणा) की सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य में विवेचना करेंगे।

नोट्स समाज विरोधी मनुष्य को बदलने के लिए सर्वप्रथम उसकी सामाजिक स्थिति को बदलना होगा। क्योंकि कहीं न कहीं अपराधी तत्व उसकी सामाजिक स्थिति में ही विद्यमान होते हैं। व्यक्ति की सामाजिक परिस्थितियों को सुधारकर उसे मानव-कल्याण की दिशा में मोड़ा जा सकता है।

नोट

1.3 सामाजिक उत्पादन (Social Production)

प्रकृति-मानव-जीवात्मा समष्टि की अवधारणा, जनजातीय भारत की समस्याओं को समझने के लिये एल. पी. विद्यार्थी का एक योगदान है। यह अवधारणा मानव विज्ञान की एक लोकप्रिय, महत्त्वपूर्ण और आज़माए हुए सांस्कृतिक-पारिस्थितिक उपागम (कल्चरल-इकोलॉजिकल ऐप्रोच) पर आधारित है जिसमें मानव व प्रकृति के बीच निरंतर अंत:क्रिया को एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

संस्कृति एक प्रकार से विविध वातावरणों में मानवीय अनुकूलन का दूसरा नाम है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि संस्कृति वातावरण का मानव निर्मित भाग है। इस प्रकार के उपागम में बाहरी स्थितियों को काफी प्रासांगिक माना जाता है। मानव व उसके वातावरण के बीच एक बेहतर व्यवस्था व्यक्तिगत व सामूहिक स्तर पर मानव को उसकी व्यावहारिक आवश्यकता की पूर्ति के साथ जीवित रहने में सहायता करती है। मानव के पास पारिस्थितिकी के साथ अनुकूलन करने की विशाल क्षमता होती है। इस क्षेत्र के विद्वान अर्थात् सांस्कृतिक पारिस्थितिकी के ज्ञाता सदा अनुकूलन के विविध प्रतिमानों की तलाश में रहते हैं। विभिन्न प्रकार के सांस्कृतिक पारिस्थितिक अनुकूलन के प्रतिमान (मॉडल्स ऑफ कल्चरल-इकोलॉजीकल एडेप्टेशन) ही विविध सांस्कृतिक परंपराओं के लिये ज़िम्मेदार होते हैं।

प्रकृति-मानव-जीवात्मा समष्टि पर्यावरण की विभिन्न दशाओं के साथ सामाजिक-सांस्कृतिक संस्थाओं के द्वारा मानव के अनुकूलन की व्याख्या का एक प्रयास है। ऐसा देखा गया है कि समस्त 'जनजातीय भारत' में सामाजिक व्यवस्था की अंत:क्रिया निरंतर पारिस्थितिक दशाओं व धार्मिक समष्टि के बीच चलती रहती है। इसके परिणाम व अनुकूलन के प्रतिमानों का अध्ययन विद्यार्थी ने बिहार की एक आदिम जनजाति मालेर (मल पहाड़िया) के संदर्भ में किया। मालेर बिहार की राजमहल पहाड़ियों में रहने वाली तथा अस्थायी कृषि (शिफ्टिंग कल्टीवेशन) करने वाली एक बहुत पिछड़ी जनजाति है। मालेर लोग तरह-तरह की जीवात्माओं (स्पिरिट्स) में विश्वास करते हैं; जीवात्माएँ उनके जीवन के हर पहलू को प्रभावित करती हैं। ये अच्छी-बुरी हर प्रकार की जीवात्माओं को मानते हैं। अच्छी जीवात्माएँ (बेनिवोलेंट स्पिरिट्स) बीमारियों का इलाज करती हैं, खेती में सहायता करती हैं, जीवन में खुशहाली लाती हैं। बुरी जीवात्माएँ (मेलवोलेंट स्पिरिट्स) बीमारी-दुख, भूख, प्राकृतिक प्रकोपों, गर्भपात होने आदि के लिये जिम्मेदार मानी जाती हैं। इस प्रकार सभी तरह की जीवात्माओं को संतुष्ट व प्रसन्न रखने में मालेर लोगों का जीवन बीत जाता है। इनकी मुख्य जीवात्मा 'गोसाईं या 'गोसइयाँ' है जो अधि-मानवीय व अधिप्राकृतिक जगत (सुपर ह्युमन व सुपर नेचुरल वर्ल्ड) से इनके सम्पर्क का पुल है। ये गोसांई की 'अनुमति' के बिना काम नहीं करते। इस प्रकार मालेर की जीवात्माएँ, उसकी सामाजिक संस्थाएँ तथा उसकी प्रमुख आर्थिक गतिविधि अर्थात् अस्थायी खेती जिसे स्थानीय बोली में 'खल्लू' कहा जाता है, मिलकर एक रोचक काम्पलेक्स बनाते हैं।

इस प्रकार मालेर के संपूर्ण जीवन पर प्रकृति व जीवात्माओं का निरंतर प्रभाव पड़ता रहता है और ये तीनों एक दूसरे के साथ एक निरंतर अंत:क्रिया में लगे रहते हैं। इस अवधारणा का महत्त्व व्यावहारिक मानव विज्ञान (अप्लाइड ऐंथ्रोपोलॉजी) में देखा जा सकता है, विशेषकर आदिम जनजातियों के लिये विकासकारी योजनाओं को कार्यान्वित करने में। ऐसा देखा गया है कि जब भी आदिम समूहों को विकासकारी योजनाओं के अंतर्गत कहीं और बसाने का प्रयास किया गया तो उन्होंने 'विकास' की ऐसी योजना को अस्वीकार कर दिया क्योंकि नई जगह पर प्रकृति-मानव-जीवात्मा समष्टि का संतुलन या साम्य भंग हो गया। यह अवधारणा एक व्यावहारिक मानवशास्त्री को यह बताती है कि आदिम समूहों के लिये किसी भी पुनर्वास योजना में प्रकृति-मानव-जीवात्मा काम्पलेक्स का विशेष ध्यान रखना चाहिये और प्रयास यह होना चाहिये कि इस व्यवस्था में कम से कम विघ्न हो और यदि विघ्न असंभव हो तो यह बिल्कुल अकस्मात् और अचानक न हो क्योंकि ऐसा होने से उन लोगों के हित में उठाये जाने वाले कदमों का परिणाम भी बेकार जा सकता है। प्रकृति-मानव-जीवात्मा काम्पलेक्स के अध्ययन से हमें यह भी मालूम होता है कि लघु परंपराएँ लंबे समय तक न केवल अपने को बनाये रखने की क्षमता रखती हैं बल्कि अधिक दबाव में आने पर वृहत् परंपरा की अवहेलना भी कर सकती हैं और तिरस्कार भी।

1.4 'समाज' का सामान्य अर्थ (General Meaning of Society)

नोट

बोलचाल की भाषा में या साधारण अर्थ में 'समाज' शब्द का प्रयोग व्यक्तियों के समूह के लिए किया जाता है। किसी भी संगठित या असंगठित समूह को समाज कह दिया जाता है, जैसे आर्य समाज, ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज, हिंदू समाज, जैन समाज, विद्यार्थी समाज, महिला समाज आदि। यह 'समाज' शब्द का साधारण अर्थ है जिसका प्रयोग विभिन्न लोगों ने अपने-अपने ढंग से किया है। किसी ने इसका प्रयोग व्यक्तियों के समूह के रूप में, किसी ने समिति के रूप में, तो किसी ने संस्था के रूप में किया है। इसी वजह से समाज के अर्थ में निश्चितता का अभाव पाया जाता है। विभिन्न समाज-वैज्ञानिकों तक ने 'समाज' शब्द का अपने-अपने ढंग से अर्थ लगाया है। उदाहरण के रूप में, राजनीतिशास्त्री समाज को व्यक्तियों के समूह के रूप में देखता है। मानवशास्त्री आदिम समुदायों को ही समाज मानता है, जबकि अर्थशास्त्री आर्थिक क्रियाओं को संपन्न करने वाले व्यक्तियों के समूह को समाज कहता है।

1.5 समाजशास्त्र में समाज का अर्थ (Meaning of Society in Sociology)

समाजशास्त्र में 'समाज' शब्द का प्रयोग विशिष्ट अर्थ में किया गया है। यहाँ व्यक्ति-व्यक्ति के बीच पाये जाने वाले सामाजिक संबंधों के आधार पर निर्मित व्यवस्था को समाज कहा गया है। यहाँ व्यक्तियों के समूह को साधारणत: समाज नहीं माना है, यद्यपि कुछ विद्वानों ने इस रूप में भी समाज को परिभाषित किया है। **जार्ज सिमैल** ने समाज को उन व्यक्तियों का समूह माना है जो अंत:क्रिया (Interaction) द्वारा संबंधित हैं। राल्फ लिण्टन ने समाज को ऐसे समूह के रूप में परिभाषित किया है जिसमें सम्मिलित व्यक्ति अपने को संगठित करने और एक सामाजिक इकाई (Social Unit) के रूप में सोचने के लिए काफी लंबे समय से साथ-साथ रहते और काम करते रहे हों। फेयरचाइल्ड के अनुसार समाज व्यक्तियों का एक ऐसा समूह है जो अपने बहुत से प्रमुख हितों (उद्देश्यों) जिनमें अनिवार्य रूप से स्वयं की रक्षा या भरण-पोषण तथा स्वयं को स्थायित्व प्रदान करना सम्मिलित है, को पूरा करने के लिए सहयोग करते हैं। मोरिस गिन्सबर्ग के अनुसार एक समाज व्यक्तियों का वह समूह या संग्रह है, जो कुछ संबंधों या व्यवहार के कुछ ढंगों (Modes of Behaviour) द्वारा संगठित हैं जो उन्हें अन्यों से पृथक् करते हैं जो इन संबंधों में सम्मिलित नहीं हैं या जो व्यवहार में उनसे भिन्न हैं। उपर्युक्त सभी परिभाषाओं में समाज को व्यक्तियों के समूह के रूप में चित्रित किया गया है, लेकिन यह समाज शब्द का संकुचित अर्थ है। ये परिभाषाएँ समाजशास्त्र नामक विज्ञान में प्रयुक्त प्रमुख अवधारणा 'समाज' के अर्थ को ठीक से प्रकट नहीं कर पाती हैं। ये परिभाषाएँ वास्तव में 'एक समाज' (A Society), के अर्थ को अवश्य स्पष्ट कर पाती हैं, परंतु 'समाज' (Society) के अर्थ को नहीं। चूँकि समाजशास्त्र समाज का विज्ञान है, न कि एक या किसी विशिष्ट समाज का, अत: यहाँ 'समाज' नामक अवधारणा को समाजशास्त्रीय अर्थ में समझ लेना अत्यंत आवश्यक है।

व्यक्ति अपनी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अन्य व्यक्तियों के साथ अंत:क्रिया करते और सामाजिक संबंध स्थापित करते हैं। ये लोग विभिन्न प्रकार के संबंधों के आधार पर एक-दूसरे के साथ व्यवहार करते हैं, कुछ क्रियाएँ और प्रतिक्रियाएँ करते हैं। यह सब कुछ निश्चित नियमों के आधार पर ही होता है। इनमें कुछ पारस्परिक अपेक्षाएँ (Mutual Expectations) सम्मिलित हैं। इन सबसे मिलकर बनने वाली व्यवस्था को ही समाज कहा गया है। **मैकाइवर** और **पेज** ने समाज को सामाजिक संबंधों के जाल या ताने-बाने के रूप में परिभाषित किया है। आपने संबंधों की इस सदैव परिवर्तित होती रहने वाली जटिल व्यवस्था को समाज माना है। **समाज नामक अवधारणा में सामाजिक संबंधों की प्रधानता के कारण इन्हें (सामाजिक संबंधों को) समझ लेना भी यहाँ आवश्यक है।**

सामाजिक संबंध–सामाजिक और भौतिक संबंधों के बीच एक प्रमुख अंतर पाया जाता है और वह है– पारस्परिक जागरूकता (Mutual Awareness)। सामाजिक संबंधों का प्रमुख आधार पारस्परिक जागरूकता है। भौतिक संबंधों में इस प्रकार की जागरूकता नहीं पायी जाती। इसे हम एक उदाहरण के द्वारा भली-भाँति समझ सकते हैं। एक टेबुल पर टेबुल लैंप, किताबें, डायरी, पेन, पेंसिल आदि रखे हुए हैं। इन सबका टेबुल के साथ

नोट

एक संबंध अवश्य है। इसी प्रकार आग और धुएँ का तथा सूर्य और पृथ्वी का संबंध है, परंतु यह संबंध सामाजिक संबंध नहीं है क्योंकि इसमें मानसिक दशा (Psychical Condition) का अभाव है। इसका तात्पर्य यह है कि टेबुल, उस पर रखी वस्तुओं की उपस्थिति से अपरिचित है और किताब, पैन, पेंसिल आदि टेबुल की उपस्थिति से। इसी प्रकार पृथ्वी सूर्य की और आग धुएँ की उपस्थिति के प्रति जागरूक नहीं है। इन सबमें पारस्परिक जागरूकता का अभाव पाया जाता है। अन्य शब्दों में, ये संबंध पारंपरिक जागरूकता पर आधारित नहीं हैं। इस पारस्परिक जागरूकता के बिना कोई भी संबंध सामाजिक नहीं हो सकता और सामाजिक संबंध के बिना समाज नहीं हो सकता। जहाँ सामाजिक प्राणी (व्यक्ति) पारंपरिक रूप से जागरूक रहते हुए और एक-दूसरे की अपेक्षाओं को ध्यान में रखते हुए व्यवहार करते हैं, वहीं समाज पाया जाता है।

सामाजिक संबंध कई प्रकार के होते हैं, जैसे पति और पत्नी का, माता और पुत्र का, भाई और बहिन का, मित्र और मित्र का, अध्यापक और शिष्य का, ग्राहक और दुकानदार का, नौकर और मालिक का, मतदाता और प्रत्याशी का। साथ ही कुछ सामाजिक संबंध आर्थिक प्रकार के, कुछ राजनीतिक प्रकार के, कुछ धार्मिक और कुछ वैयक्तिक प्रकार के होते हैं, कुछ संबंध प्रत्यक्ष तो कुछ अप्रत्यक्ष कुछ वैयक्तिक तो कुछ अवैयक्तिक, कुछ मित्रतापूर्ण तो कुछ शत्रुतापूर्ण होते हैं। ये विभिन्न प्रकार के संबंध पारस्परिक जागरूकता के कारण ही सामाजिक संबंधों की श्रेणी में आते हैं। यद्यपि सामाजिक संबंध शत्रुतापूर्ण या संघर्षपूर्ण भी होते हैं, परंतु अधिकांश सामाजिक संबंधों में सामुदायिकता या एक साथ संबंधित होने या सामान्य जीवन में भागीदार होने का तत्व पाया जाता है। सहयोगी संबंधों के आधार पर ही सामाजिक व्यवस्थाएँ पनपती हैं एवं समाज बनते हैं। अत: हम कह सकते हैं कि **समाजशास्त्र में जिन संबंधों को प्रधानता दी जाती है और जिन्हें सामाजिक माना जाता है, में दो तत्व आवश्यक रूप से पाये जाते हैं: (1) पारस्परिक जागरूकता, तथा (2) सामान्य जीवन में भागीदार होने की भावना।**

सामाजिक संबंध उस समय पाया जाता है जब व्यक्ति या समूह पारस्परिक अपेक्षाएँ रखते हैं जो दूसरों के व्यवहार से संबंधित होती हैं ताकि वे सापेक्ष रूप से निश्चित तरीकों से कार्य कर सकें। अन्य शब्दों में, सामाजिक संबंध का आधार अंत:क्रिया के प्रतिमान हैं। उदाहरण के रूप में, पति और पत्नी का, पुत्र और माता का, अध्यापक और शिष्य का, स्वामी और सेवक का, अधिकारी और कर्मचारी का तथा डॉक्टर और मरीज का, एक-दूसरे के प्रति सामान्यत: एक निश्चित प्रकार का व्यवहार होता है जो पारस्परिक अपेक्षाओं (Reciprocal Expectations) या मानवीय अंत:क्रिया (Human Interaction) के प्रतिमान पर आधारित होता है। संबंधों के ये सभी प्रकार सामाजिक संबंधों के अंतर्गत ही आते हैं। इस प्रकार के हजारों या असंख्य संबंधों में व्यक्ति बँधे होते हैं और एक-दूसरे की अपेक्षाओं को ध्यान में रखते हुए व्यवहार करते हैं। परिणामस्वरूप सामाजिक संबंधों के आधार पर जटिल व्यवस्था निर्मित होती है जिसे **'समाज'** नाम दिया गया है। एक व्यक्ति के परिवार-जनों, नाते-रिश्तेदारों, पड़ोसियों, मित्रों और समूहों, समितियों, संगठनों, समुदाय आदि के साथ सैकड़ों प्रकार के संबंध पाये जाते हैं जिनमें बँधकर वह प्रत्येक के साथ संबंध के प्रकार के आधार पर और साथ ही कुछ प्रतिमानों एवं सामाजिक मूल्यों को ध्यान में रखता हुआ निश्चित प्रकार का व्यवहार करता है। जब सैकड़ों, हजारों और यहाँ तक कि लाखों-करोड़ों व्यक्ति अपने चारों ओर असंख्य व्यक्तियों एवं अनेक समूहों से संबंधित रहते हुए कुछ नियमों को ध्यान में रखते हुए पारस्परिक अपेक्षाओं के अनुसार व्यवहार करते हैं तो इससे जो जटिल व्यवस्था निर्मित होती है, उसे समाज कहते हैं। यह सदैव बदलती रहने वाली जटिल और अमूर्त व्यवस्था है। सामाजिक संबंधों को देखा या छुआ नहीं जा सकता, इस कारण ये संबंध अमूर्त हैं और इनसे बनने वाली व्यवस्था 'समाज' भी अमूर्त है।

समाजशास्त्र में सामाजिक संबंध केन्द्रीय अध्ययन-वस्तु है। जब असंख्य सामाजिक संबंधों का जाल अनेक रीतियों एवं सामाजिक मूल्यों द्वारा व्यवस्था में बदल जाता है तो उसे समाज कहते हैं और समाजशास्त्र समाज का ही वैज्ञानिक अध्ययन है। **मैकाइवर** के शब्दों में, हम कह सकते हैं कि समाज सामाजिक संबंधों का जाल है। **अब हम 'समाज' की कुछ परिभाषाओं पर विचार करेंगे।**

पारसन्स के अनुसार, ''समाज को उन मानवीय संबंधों की सम्पूर्ण जटिलता के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जो साधन-साध्य संबंधों (Means-End Relationship) के रूप में क्रिया करने में उत्पन्न हुए हों,

नोट

चाहे ये यथार्थ हों या प्रतीकात्मक।'' पारसन्स की इस परिभाषा में क्रिया को विशेष महत्त्व दिया जाता है और किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए साधन के रूप में किए गए कार्य को ही क्रिया कहा गया है। ऐसी क्रिया के परिणामस्वरूप उत्पन्न संबंधों को ही सामाजिक संबंध और इन सामाजिक या मानवीय संबंधों से बनने वाली संपूर्ण जटिलता या व्यवस्था को समाज कहा गया है।

गिडिंग्स के अनुसार, ''समाज स्वयं संघ है, संगठन है, औपचारिक संबंधों का योग है, जिसमें सहयोग देने वाले व्यक्ति एक-दूसरे के साथ जुड़े हुए या सम्बद्ध हैं।'' इस परिभाषा में समाज के लिए सहयोगी संबंधों को आवश्यक माना गया है जो व्यक्तियों को एक-दूसरे के साथ जोड़ते हैं।

रयूटर के अनुसार, ''(समाज) एक अमूर्त धारणा है जो एक समूह के सदस्यों के बीच पाए जाने वाले पारस्परिक संबंधों की जटिलता (सम्पूर्णता) का बोध कराती है।'' इस परिभाषा के अनुसार व्यक्तियों के बीच पनपने वाले संबंधों की संपूर्ण व्यवस्था को समाज माना गया है जो कि अमूर्त है।

1.6 मानव की अवधारणा एवं समाजशास्त्रीय सिद्धांत व उपागम (Concept of Man and Sociological Theories and Approaches)

समाजशास्त्रीय सिद्धांतों एवं उपागमों में मानव की अवधारणा के बारे में दो दृष्टिकोण पाए जाते हैं। **प्रथम**, दृष्टिकोण मानव और समाज के संबंधों एवं समाज में मानव के स्थान से सम्बन्धित है।

क्या आप जानते हैं कुछ समाजशास्त्री मानव समाज का समाजशास्त्रीय-प्रारूप समाज के प्रारूप (Model of Society) के आधार पर निर्मित करते हैं।

द्वितीय दृष्टिकोण में समाजशास्त्री पहले मानव के प्रारूप को निर्मित करते हैं और उसके द्वारा सामाजिक वास्तविकता को समझने का प्रयास करते हैं, किंतु दोनों ही उपागमों में विचार और अन्वेषण का केन्द्रीय बिन्दु समाज ही है। हाल ही में समाजशास्त्र में कुछ नवीन क्रांतिकारी सिद्धांतों का जन्म हुआ है जो यह मानते हैं कि मानव की अवधारणा ही समाजशास्त्र की क्रियाशील अवधारणा है। यह विचारधारा परंपरात्मक समाजशास्त्रीय विचारों के विपरीत है जिसमें व्यक्ति की तुलना में समाज को अधिक महत्त्व दिया गया था। हम यहाँ समाजशास्त्रीय सिद्धांतों एवं उपागमों में विवेचित मानव की अवधारणा को जानने का प्रयास करेंगे।

1.7 प्रत्यक्षवादी समाजशास्त्रीय सिद्धांत में मानव की अवधारणा (Concept of Man in Positivistic Sociological Theory)

कॉम्ट एवं स्पेन्सर जिनका नाम समाजशास्त्र के उद्‌गम से जुड़ा हुआ है, प्रत्यक्षवाद के प्रमुख समर्थक थे। **स्पेन्सर** ने अपना प्रारूप जीव विज्ञान से तथा कॉम्ट ने भौतिकशास्त्र से ग्रहण किया था।

स्पेन्सर ने व्यक्ति को समाज का अंग माना। उसने कहा कि जिस प्रकार से एक भवन का निर्माण ईंट, पत्थर, चूना, लकड़ी, आदि इकाइयों से मिलकर होता है, उसी प्रकार से समाज का निर्माण भी विभिन्न इकाइयों के योग से होता है। समाज की इकाइयों का समाज से पृथक् अस्तित्व है, किंतु समाज का अस्तित्व इकाइयों के अभाव में मौखिक ही हो सकता है, वास्तविक नहीं। उसने कहा कि प्रत्येक इकाई की अपनी वैयक्तिकता है।

स्पेन्सर की मानव की अवधारणा प्रत्यक्षवाद की तार्किक उपयोगितावादी परंपरा से जुड़ी हुई है। उसने समाजों का वर्गीकरण करने के दौरान ही मानव के बारे में अपने विचार व्यक्त किए।

ऑगस्ट कॉम्ट के समाजशास्त्र में मानव की अवधारणा के बारे में एक भिन्न प्रकार का परिप्रेक्ष्य पाया जाता है। व्यक्ति और समाज तथा व्यक्ति और राज्य के पारस्परिक संबंधों के बारे में कॉम्ट के विचार उनकी दो रचनाओं–Philosophic Positive एवं Polity में देखने को मिलते हैं। 'पॉलिटि' में कॉम्ट ने व्यक्ति एवं

नोट

सामाजिक सावयव में समानता स्थापित की। इन दोनों में भेद का उल्लेख करते हुए कॉम्ट लिखता है कि व्यक्ति में (शारीरिक रचना की दृष्टि) परिवर्तन करना संभव नहीं है जबकि समाज का विकास किया जा सकता है। व्यक्ति के कार्यों में समाज की तुलना में बहुत कम ही विभेद पाया जाता है। समाज का नियंत्रण प्रगति के वैज्ञानिक नियमों के आधार पर किया जा सकता है, किंतु ये नियम व्यक्ति पर लागू नहीं किए जा सकते।

कॉम्ट ने व्यक्ति को नहीं वरन् समाज में परिवार को इकाई माना है जो भावात्मक संबंधों पर आधारित होता है। परिवार पर ही राज्य, नगर एवं चर्च की संरचना निर्भर है। कॉम्ट की मानव की अवधारणा उसके मस्तिष्क-व्यवस्था के सिद्धांत अर्थात् बौद्धिक विकास से जुड़ी है। उसने मस्तिष्क व्यवस्था के तीन प्रमुख अंग माने हैं–भावना, क्रिया एवं बुद्धि (feeling, action and intellect)। भावनाएँ नैतिकता का आधार है। मानवीय नैतिकता का सर्वोपरि रूप परार्थवाद है जो परिवार में देखने को मिलता है। कॉम्ट ने धर्म के उद्‌विकास के भी तीन चरण माने हैं–जीवित सत्तावाद, बहुदेववाद एवं एकदेववाद। इनके साथ ही मानवीय भावनाओं में भी परिवर्तन आता गया। कॉम्ट ने सामाजिक पुनर्निर्माण की योजना भी प्रस्तुत की। कॉम्ट की मानव की अवधारणा मानव प्रकृति की संरचना एवं उसकी सामाजिक-सांस्कृतिक अभिव्यक्ति के बारे में उसके विचारों से भी ज्ञात की जा सकती है।

स्पेन्सर एवं कॉम्ट के बाद एक अन्य प्रत्यक्षवादी समाजशास्त्री पैरेटो हुए हैं। मानव के बारे में पैरेटो के विचार उसकी सामाजिक क्रिया की अवधारणा एवं भावनाओं (sentiments) की संरचना के बारे में व्यक्त विचार में देखी जा सकती है। पैरेटो की विशिष्ट चालकों या अवशेषों (residues) की अवधारणा भी महत्त्वपूर्ण है। मानव की क्रियाएँ अधिकांशत: चालकों (Drives) पर निर्भर हैं। ये चालक मूल प्रवृत्तियों एवं भावनाओं को अभिव्यक्त करते हैं। पैरेटो, मानव व्यवहार को समझने में अवशेषों (residues) को बहुत उपयोगी मानते हैं। ये मानवीय व्यवहारों को नियन्त्रित करते हैं, उन्हें प्रेरित करते हैं, उन्हें निर्धारित एवं संचालित करते हैं। व्यक्तित्व का निर्माण तथा व्यक्ति को सामाजिक प्राणी बनाने में ये महत्त्वपूर्ण योग देते हैं।

दुर्खीम प्रत्यक्षवादी समाजशास्त्रियों में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। दुर्खीम ने मानव को सामाजिक प्रक्रियाओं की उपज माना है। मानव के बारे में दुर्खीम के विचार उनकी रचनाओं–सामाजिक श्रम-विभाजन, 'आत्महत्या' तथा धार्मिक जीवन के प्रारंभिक स्वरूपों में देख सकते हैं। **दुर्खीम** अपनी कृति **समाज में श्रम-विभाजन** में मानव की अवधारणा के विकास को समाज के विकास के साथ जोड़ता है। वह समाज के विकास को यांत्रिक एकता वाले समाज से सावयवी एकता वाले समाज की ओर मोड़ता है। **सरल आदिम एवं प्राचीन समाजों में यांत्रिक एकता पायी जाती थी।** इस प्रकार के समाजों में दमनकारी क़ानून प्रचलित थे जिनका पालन व्यक्ति आँख मूँदकर करता था। व्यक्ति का व्यक्तित्व समूह के व्यक्तित्व के साथ घुलमिल जाता था। व्यक्ति समूह के साथ यन्त्रवत् सोचता, कार्य करता व आज्ञापालन करता था। समूह के विरुद्ध कार्य अपराध था जिसके लिए समूह ही दण्ड देता था। श्रम-विभाजन विशेषीकरण एवं जनसंख्या की वृद्धि होने पर समाज में परिवर्तन आया और ऐसा समाज अस्तित्व में आया जिसमें सावयवी एकता पनपी। **आधुनिक जटिल और औद्योगिक समाज सावयवी एकता वाले समाज हैं।** इन समाजों में प्रतिकारी क़ानून पाए जाते हैं तथा व्यक्तिगत स्वतंत्रता को बढ़ावा दिया जाता है। इसमें सामूहिक चेतना की भावना कमजोर पड़ जाती है, व्यक्ति पारस्परिक संबंधों को अधिक महत्त्व देता है और वह समूह से प्रत्यक्ष रूप से जुड़ा नहीं होता है। समाज की सावयवी एकता शारीरिक एकता के समान है। शरीर का संबंध विभिन्न अंगों के द्वारा होता है। ये अंग तभी कार्य कर पाते हैं जब वे परस्पर जुड़े हुए हों। इस प्रकार से शरीर के विभिन्न अंगों के बीच पायी जाने वाली एकता को ही सावयवी एकता कहते हैं। आधुनिक समाजों में ऐसी ही एकता पायी जाती है जिसमें समाज के विभिन्न अंग अलग-अलग कार्य करते हुए भी परस्पर जुड़े हुए हैं। इस प्रकार सामाजिक जीवन ही व्यक्तिगत जीवन को जन्म देता है। दुर्खीम यह भी कहता है कि जनसंख्या में वृद्धि, श्रम-विभाजन और विशेषीकरण में वृद्धि व्यक्ति को समाज से अलग करते हैं। इस प्रकार से दुर्खीम ही पहला व्यक्ति था जिसने समाजशास्त्र में अलगाव (Alienation) की अवधारणा का प्रतिपादन किया।

नोट

नोट्स दुर्खीम ने अपनी रचना 'आत्महत्या' में मानव की अवधारणा को नए रूप में प्रस्तुत किया। इससे पूर्व यह माना जाता था कि व्यक्ति मनोवैज्ञानिक, प्राकृतिक एवं व्यक्तिगत कारणों से आत्महत्या करता है।

मानव की अवधारणा संबंधी दुर्खीम के विचारों की अन्तिम अभिव्यक्ति हमें उसकी कृति धार्मिक जीवन के प्रारंभिक स्वरूप में देखने को मिलती है। दुर्खीम कहता है कि एक शरीर होने के नाते तो व्यक्ति अपवित्र है, किंतु जितना वह धार्मिक संकेतों (Symbols) पवित्र वस्तुओं एवं ईश्वर के निकट जाता है, पवित्र होता जाता है। यह सच है कि मानव ईश्वर पर निर्भर है, किंतु ईश्वर को भी तो मानव की आवश्यकता होती है। यदि व्यक्ति द्वारा ईश्वर को भेंट-पूजा एवं बलिदान न दिया जाए तो ईश्वर मर जाएगा। ईश्वर की अवधारणा के साथ-साथ दुर्खीम मानव की अवधारणा को भी विस्तार देता है। वे मानता है कि आत्मा एवं शरीर अलग-अलग हैं। वे आत्मा का संबंध ईश्वर से मानता हैं मनुष्य का मन उसका आंतरिक जीवन है। मानव में मानवीय गुण तभी विकसित होते हैं जब वह अपने मन को समाज के ध्यान में लगाता है। व्यक्ति एक तरफ अन्य लोगों में प्रतिक्रिया व्यक्त करता है, दूसरी तरफ उसकी अपनी सोच भी होती है। इस प्रकार व्यक्ति का आत्म (Self) स्वयं का एवं समाज का सम्मिश्रण होता है। मानव की अवधारणा के बारे में दुर्खीम के ये विचार ही आधुनिकतम समाजशास्त्रीय विचारधाओं जैसे सांकेतिक अंत:क्रियावाद, प्रघटनाशास्त्र ऐथनोमैथडोलॉजी, मार्क्सवाद, द्वंद्ववाद एवं नवमार्क्सवाद की नींव हैं।

1.8 प्रकार्यवादी समाजशास्त्र में मानव की अवधारणा (Concept of Man in Functional Sociology)

प्रकार्यात्मक समाजशास्त्र में मानव की अवधारणा को कई स्तर पर देखा जा सकता है जैसे व्यक्तित्व-निर्माण एवं बच्चे के लालन-पालन में प्राथमिक संस्थाओं की भूमिका, सामाजिक संरचना एवं मानव के प्रकार, संरचनात्मक जटिलता एवं विरोधाभासों से मानव का अलगाव आदि। पारसन्स, मर्टन एवं होमन्स, आदि ने इन बिंदुओं पर विचार किया है।

पारसन्स अपनी कृति 'Social System' में मानव को एक लचीले एवं चेतन प्राणी के रूप में देखता है। मानव लचीला प्राणी इस रूप में है कि वह विभिन्न प्रकार के पर्यावरणों, संस्कृतियों एवं सामाजिक स्थितियों से अनुकूलन कर सकता है। चेतन प्राणी के रूप में व्यक्ति में सीखने की क्षमता है। वह सामाजिक मूल्यों को आंतरीकृत कर उन्हें भूमिकाओं एवं दक्षताओं में संस्थाकृत रूप में प्रकट कर सकता है। इस कारण से समाजीकरण व संस्थाकरण दोनों परस्पर बल प्रदान करने वाली प्रक्रियाएँ हैं। व्यक्ति की भूमिका इन दोनों प्रक्रियाओं को परस्पर जोड़ती है तथा व्यक्तित्व निर्माण में ये दोनों प्रक्रियाएँ महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। पारसन्स अलगाव एवं नियमहीनता का भी उल्लेख करता है। भूमिकाओं का निरुद्देश्यपूर्ण होना अलगाव की स्थिति है तथा सामाजिक संरचना की मूल्य-व्यवस्था का कुएकीकरण नियमहीनता की स्थिति है। पारसन्स ने व्यक्तित्व-व्यवस्था का भी उल्लेख किया है। वह व्यक्तित्व को मनोवैज्ञानिक-सावयवी व्यवस्था के साथ-साथ सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवस्था से जनित भी मानता है। पारसन्स की मानव की अवधारणा उसकी व्यक्तित्व-व्यवस्था से जुड़ी हुई है।

प्रकार्यात्मक समाजशास्त्र में अमेरिकन समाजशास्त्री **मर्टन** का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। मर्टन की मानव की अवधारणा का संम्बन्ध मानव के विपथगामी अनुकूलन के प्रारूप में निहित है। मर्टन मानता है कि मानव का विपथगमन (deviation) सामाजिक संरचना पर निर्भर है। व्यक्ति में प्राणीशास्त्रीय इच्छाएँ (impulses) होती हैं, वे संतुष्टि चाहती हैं। समाज व्यवस्था इनकी पूर्ति की व्यवस्था करती है। मानव की प्राणीशास्त्रीय इच्छाएँ उसे समय-समय पर सामाजिक नियंत्रण को तोड़ने के लिए प्रेरित करती हैं। मानव की प्राणीशास्त्रीय इच्छाओं एवं सामाजिक नियंत्रण में सतत् संघर्ष चलता रहता है। मर्टन व्यक्ति को समाज द्वारा निर्धारित व्यवहार प्रतिमानों को तोड़ने वाले प्राणी के रूप में देखता है। मर्टन व्यक्ति के विचलन के लिए समाज व संस्कृति को उत्तरदायी मानता है।

नोट

1.9 द्वंद्वात्मक एवं निर्वचनात्मक समाजशास्त्र में मानव की अवधारणा (Concept of Man in Dialectical and Interpretative Sociology)

द्वंद्वात्मक समाजशास्त्र में मार्क्स एवं वेबर के नाम प्रमुख हैं। द्वंद्वात्मक एवं निर्वचनात्मक समाजशास्त्रियों का प्रमुख संबंध आधुनिक समाज में मानव की समस्याओं से है।

मार्क्स के समाजशास्त्र में मानव के अलगाव (Alienation) की समस्या केंद्रीय विषय है जबकि वेबर आधुनिक पूँजीवादी समाज और उसके तार्किक नौकरशाही संगठन तथा सत्ता के विभिन्न स्वरूपों के संबंध में मानव एवं समाज के संबंधों की चर्चा करता है। मार्क्स कहता है कि श्रम व्यक्ति का विशिष्ट लक्षण है। इसके सहारे ही उसने इतिहास की रचना की है, प्रकृति पर विजय पायी है। श्रम ही एक व्यक्ति को दूसरे से जोड़ता है, किंतु आवश्यकता होने पर ही व्यक्ति श्रम करता है अन्यथा प्लेग की भाँति वह उससे घृणा करता है। यह श्रम मानव की आंतरिक प्रकृति का अंग न होकर व्यक्ति से बाहर है। मार्क्स पूँजीवादी समाज व्यवस्था में कई प्रकार के अलगाव की चर्चा करता है जैसे व्यक्ति का श्रम से, परिवार से, अपने द्वारा उत्पादित वस्तु से, समाज से तथा स्वयं व्यक्ति से भी अलगाव पाया जाता है।

वेबर ने मानव की अवधारणा के विकास को समाज में नैतिकता के परिवर्तन के साथ जोड़ा है। परंपरात्मक समाज में मानव को अपने कार्यों एवं जीवन स्थितियों के चयन के बारे में कोई स्वतंत्रता नहीं थी, यहाँ तक कि पाप से मुक्ति भी अकेले न होकर सामूहिक रूप से ही होती थी। व्यक्ति के स्थान पर सामूहिक नैतिक मानदंडों पर जोर दिया जाता था। मानव का स्वतंत्र कार्यकर्ता के रूप में कोई अस्तित्व नहीं था, व्यक्ति को अपने व्यवसाय एवं कार्य तक ही सीमित रहने पर बल दिया गया था। नवीन पूँजीवादी विचारधारा में मानव को नैतिक दृष्टि से उत्तरदायी मानकर उसे स्वतंत्रता प्रदान की गई है।

1.10 आलोचनात्मक एवं प्रघटनात्मक समाजशास्त्र में मानव की अवधारणा (Concept of Man in Critical and Phenomenological Sociology)

समाजशास्त्र में द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद मार्क्स एवं वेबर की सैद्धांतिक परंपरा में परिवर्तत आया एवं उनका सम्मिश्रण भी हुआ। परिणामस्वरूप समाजशास्त्र में आलोचनात्मक सिद्धांत एवं नव मार्क्सवादी सिद्धांतों का उदय हुआ। जरगन हेबरमास (Jurgen Habermas), थियोडोर एडोर्नो (Theodore Adoron), इरिक फ्रोम (Eric Fromm) तथा हरबर्ट मारक्यूज (Herbert Marcuse), आदि ने मानव की मौलिक विशेषताओं के आधार पर नवीन समन्वयात्मक सैद्धांतिक एवं अनुभवात्मक अध्ययन किए। आलोचनात्मक सिद्धांत में नव-प्लेटोवाद, मार्क्सवाद, नव-फ्रायडवाद तथा ह्यूसर्ल, मैक्स शैलर व मानहीम के प्रघटनाशास्त्रीय विचारों का सम्मिश्रण पाया जाता है। इसकी विशेषता मानव की द्वंद्वात्मक विशेषता को प्रकट करना है।

क्या आप जानते हैं **इरिक फ्राम** ने अपनी पुस्तक Man for Himself (1964) में मानव की द्वंद्वात्मक अवधारणा का विकास किया है।

इरिक फ्राम कहता है कि मानव अन्य प्राणियों से इस अर्थ में भिन्न है कि वह अन्य प्राणियों की भाँति केवल मूल प्रवृत्तियों द्वारा ही निर्देशित नहीं होता है। आत्म चेतना, तर्क एवं कल्पनाशक्ति के आधार पर वह अपनी पशु प्रवृत्ति से ऊपर उठकर सोचता है। वह प्रकृति का अंग होते हुए भी प्रकृति से ऊपर है। मानव में प्रगति करने की कोई मूलप्रवृत्ति नहीं होती फिर भी अपने अस्तित्व के लिए वह प्रगति करता है। फ्राम ने मानव में जीवन एवं मृत्यु के विरोधाभास का भी उल्लेख किया है। मानव में एक विरोधाभास यह भी है कि वह अकेला है, अनूठा है, उसका जीवन काल छोटा है और वह अकेलेपन को बर्दाश्त नहीं कर सकता। अत: समाज में रहना चाहता है, वह एक सामाजिक प्राणी है। फ्राम ने मानव तनावों का भी उल्लेख किया है। फ्राम ने अपनी पुस्तक

नोट

'The Sane Society' में मानवतावाद का तथा मानव को तनावों से मुक्त करके स्वस्थ्य कैसे रखा जाए, का भी उल्लेख किया है।

मारक्यूज मानव की विभिन्न समस्याओं के लिए आधुनिक औद्यागिक सभ्यता को उत्तरदायी मानता है। इनसे मुक्ति के लिए वह मानव की खेल-मूलप्रवृत्ति (Play Impluse) को सहायक मानता है। इस प्रकार से वह फ्रॉयड के सिद्धांत में विश्वास व्यक्त करता है।

प्रघटनाशास्त्रीय विचारक अल्फ्रेड शूट्ज, बर्जर, लकमैल, आदि व्यक्ति के विषयपरक (Subjective) एवं चेतनागत आयामों पर बल देते हैं। वे व्यक्ति के महत्त्व को स्वीकार करते हैं क्योंकि चेतना व्यक्ति में निहित होती है और इसी के आधार पर व्यक्ति अपने सामाजिक जगत का निर्माण करता है। सांकेतिक अंत:क्रियावादियों ने 'आत्म एवं समाज' (Self and Society) के संबंधों की चर्चा की है। मीड एवं कूले समाजीकरण के द्वारा व्यक्ति के 'आत्म' का विकास कैसे होता है और किस प्रकार वह सामाजिक प्राणी बनता है, की प्रक्रिया का उल्लेख करते हैं। मानव का 'आत्म' एवं उसकी चेतना समाज की उपज भी है और समाज को जन्म भी देती है।

संघर्षवादी उपागम मानव को विभिन्न वर्गों एवं समूहों के परस्पर संघर्ष से जनित स्थिति के रूप में देखता है। संघर्ष चाहे समूहों में हो या वर्गों में, उसके परिणाम व्यक्ति को ही भोगने पड़ते हैं। अलगाव, पीड़ा, शोषण एवं उत्पीड़न के अनुभव व्यक्तिगत स्तर पर ही होते हैं चाहे उनका उद्‌गम समाज की संरचना व संस्थाओं के स्त्रोतों से हुआ हो।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें–

1. पारसंस अपनी कृति ..... में मानव को लचीले एवं चेतन प्राणी के रूप में देखता है।
2. दुर्खीम ने अपनी रचना ..... में मानव की अवधारणा को नए रूप में प्रस्तुत किया है।
3. सैनिक समाज में व्यक्ति की अपेक्षा ..... को महत्त्वपूर्ण माना जाता है।

1.11 भारतीय विचारधारा में मानव की अवधारणा (Concept of Man in Indian Ideology)

भारतीय मनीषियों ने भी व्यक्ति के बारे में तथा व्यक्ति और समाज के संबंधों के बारे मं गंभीर चिंतन किया है। यह चिन्तन हमें धर्म, पुरुषार्थ, वर्ण, आश्रम, संस्कार, विवाह, परिवार नातेदारी आदि के बारे में व्यक्त विचारों में देखने को मिलता है। जहाँ एक ओर सुदृढ़ व्यक्तित्व के निर्माण की बात कही गई है, वहीं दूसरी ओर व्यवस्थित समाज-रचना के लिए व्यक्ति के योगदान का भी उल्लेख किया गया है। भारतीय विचारकों ने चार पुरुषार्थ बताए हैं–धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। धर्म में एक व्यक्ति को ईश्वर आराधना करने को कहा गया है तो दूसरी ओर धर्म का उल्लेख व्यक्ति के कर्तव्यों के रूप में भी किया गया है। मानव से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अर्थ कमाए, काम की तृप्ति करे, नई संतानों को जन्म देकर समाज की निरन्तरता बनाए रखे और अंत में मोक्ष प्राप्ति के लिए यत्न करे। व्यक्ति को सद्‌कर्म करने के लिए भी कहा गया है। कर्म ही व्यक्ति के भाग्य का निर्माण करता है। पुरुषार्थों की पूर्ति विभिन्न आश्रमों में होती है। आश्रम चार माने गए हैं–ब्रह्मचर्य आश्रम, गृहस्थ आश्रम, वानप्रस्थ एवं संन्यास आश्रम। गृहस्थी के रूप में व्यक्ति से अनेक सामाजिक दायित्वों के निर्वाह की अपेक्षा की गई है। संस्कारों के माध्यम से व्यक्ति का परिमार्जन किया जाता है। विभिन्न वर्णों के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के कर्तव्य निर्धारित किए गए है। विवाह व्यक्ति को पूर्ण बनाने की दृष्टि से आवश्यक माना गया है। अविवाहित व्यक्ति अपूर्ण मानव है, विवाह करके ही वह पूर्ण मानव बनता है। विवाह के अभाव में व्यक्ति को मोक्ष भी प्राप्त नहीं हो सकता। विवाह ही परिवार एवं नातेदारी का आधार है। परिवार का अर्थ संयुक्त परिवार से है जिसमें न केवल जीवित व्यक्तियों को वरन् मृत व्यक्तियों को भी परिवार का सदस्य मानकर उनके श्राद्ध एवं तर्पण की व्यवस्था की गई है। इस प्रकार से भारतीय विचारधारा में मानव की अवधारणा अपना अनूठा स्थान रखती है।

नोट

टास्क आपकी नज़र में संस्कृति हमारे व्यक्तित्व के विकास में किस प्रकार सहायक होती है?

निष्कर्ष–प्रश्न उठता है कि एक समाजशास्त्री जब मानव या मानव की अवधारणा के बारे में विचार करता है तो वह अन्य समाज वैज्ञानिकों से किस प्रकार भिन्न है? इस प्रश्न का उत्तर उनके संरचनात्मक परिवर्तन की उपज है। मानव की समाजशास्त्रीय अवधारणा निदानात्मक (Diagnostic) है जो मानव की विभिन्न समस्याओं जैसे अलगाव, नियमहीनता, विचलन एवं मानव के विरोधाभासों पर अपना ध्यान केंद्रित करती है। सी. राइट मिल्स कहते हैं कि समाजशास्त्री मानव की प्रत्येक व्यक्तिगत एवं सामाजिक चिंता का अवलोकन करता है और उसे समझने का प्रयत्न करता है। वह मानव की समस्याओं को समझने में रचनात्मक योगदान देता है। कॉम्ट, वार्ड एवं स्माल ने भी समाजशास्त्र को एक उद्देश्यपूर्ण विज्ञान माना था, एक ऐसा विज्ञान जो मानव कल्याण एवं विकास में सेवारत् है। मार्क्स एवं दुर्खीम भी इन विचारों से मुक्त नहीं थे।

समाजशास्त्रियों ने मानव की अवधारणा को नैतिक स्तर पर भी देखने का प्रयत्न किया है। वे समाजशास्त्र को विचलित व्यवहार का विश्लेषण करने वाले विज्ञान की भूमिका से बाहर ले जाते हैं। वे समाजशास्त्र में मानवतावादी दृष्टिकोण को अपनाने पर बल देते हैं जिसका स्रोत समाज की नैतिक संरचना है।

समाजशास्त्र में व्यक्ति की अवधारणा सामाजिक विभेदीकरण, वैयक्तिक, गुण, भोजन, वस्त्र आवास, आदि के आधार पर भी विश्लेषित की जा सकती है। सामाजिक विभेदीकरण के प्रमुख 6 आधार पर माने गए हैं–प्रकार्य, संस्कृति, अभिरुचियाँ, श्रेणी, प्रजाति एवं लिंग। समाज में व्यक्ति राजनेता, धार्मिक गुरु, अध्यापक, न्यायाधीश, श्रमिक आदि विभिन्न पदों को धारण कर भिन्न-भिन्न प्रकार के कार्य करता है, उसी के आधार पर वह समाज में पहचाना जाता है।

संस्कृति व्यक्तित्व-निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है, वही व्यक्ति के विश्वास, रुचियों, मूल्यों एवं व्यवहार प्रतिमानों को तय करती है। सांस्कृतिक भिन्नता के कारण ही अमेरिकन एवं भारतीय आदिम एवं आधुनिक लोगों में भिन्नता पायी जाती है। इसी प्रकार से लोगों की अभिरुचियों में भी भिन्नता पायी जाती है। कोई संगीत-प्रेमी है तो कोई खेल-प्रेमी, किसी को पढ़ने में रुचि है तो कोई व्यापार में रुचि रखता है। अभिरुचियाँ भी व्यक्ति की पहचान बनाती हैं। समाज धन, शक्ति, शिक्षा आदि के आधार पर लोगों को विभिन्न उच्च एवं निम्न श्रेणियों में विभाजित करता है और व्यक्ति इनके द्वारा समाज में जाना जाता है। **प्रजातीय आधार** पर एक लम्बे समय से लोगों को विभाजित किया जाता रहा है। विश्व में तीन प्रमुख प्रजातियाँ हैं–काली, गोरी एवं पीत। गोरी प्रजाति ने सदैव अन्य प्रजातियों से अपने को श्रेष्ठ घोषित किया है, चाहे यह धारणा अवैज्ञानिक एवं अतार्किक ही क्यों न हो? व्यक्ति अपनी प्रजातीय सदस्यता से भी पहचाना जाता है। लिंग के आधार पर मानव को दो भागों–स्त्री एवं पुरुष में बाँटा गया है। सभी समाजों में कुछ कार्य व पद ऐसे हैं जो स्त्री या पुरुष के लिए निर्धारित हैं। अपवादों को छोड़कर लगभग सभी समाजों में पुरुषों को स्त्रियों से उच्च व श्रेष्ठ माना गया है एवं स्त्रियों को कई कार्यों से वंचित किया गया है। इस प्रकार स्त्री या पुरुष होना भी व्यक्ति की पहचान है इसी प्रकार से आयु-भेद भी व्यक्ति की पहचान बनाता है। सभी समाजों में बालक, युवा एवं वृद्ध लोगों के पदों एवं कार्यों में भेद किया जाता है जो उसकी पहचान बनाते हैं।

पोशाक, भोजन एवं आवास सभी से समाज में व्यक्ति पहचाना जाता है। डॉक्टर, न्यायाधीश पुलिस अधिकारी सैनिक साधु-संत, किसान, अमीर-गरीब, विवाहित-अविवाहित स्त्री, स्कूल के छात्र आदि अपनी पोशाक से जाने जाते हैं। इसी प्रकार से हम शाकाहारी हैं या माँसाहारी, यह भी समाज में हमारी पहचान बनाता है। विभिन्न क्षेत्रों में खान-पान की वस्तुओं और तौर तरीकों में भी अंतर पाया जाता है। बंगाली मछली व चावल, दक्षिण भारतीय इडली-डोसा व राजस्थानी ज्वार, बाजरा व मक्का का प्रयोग अधिक करते हैं। भोजन का प्रकार भी व्यक्ति की पहचान बनाता है। इसी प्रकार से एक व्यक्ति किस प्रकार के मकान में रहता है–झोंपड़े में, कच्चे मकानों में या शानदार कोठी में, यह भी उसकी पहचान बनाते हैं। स्पष्ट है कि मानव की अवधारणा को लेकर विभिन्न दृष्किोण पाए जाते हैं, व्यक्ति की पहचान से पूर्व हमें पहचान के आधार एवं दृष्टिकोण को तय करना होगा।

1.12 सारांश (Summary)

नोट

- पृथ्वी पर जितने जीव हैं, उनमें व्यक्ति (मानव) एक अनूठा प्राणी है। मानव की अवधारणा के अंतर्गत प्रमुख रूप से यह विचार किया गया है कि मानव की शारीरिक एवं मानसिक रचना क्या है, उसकी प्रकृति क्या है, मानव और समाज व संस्कृति के बीच क्या संबंध है, क्या व्यक्ति समाज की देन है या समाज व्यक्ति की उपज, आदि। समाज विज्ञानों ने भी मानव के बारे में अपने-अपने परिप्रेक्ष्य से विचार किया है।
- संपन्नता और विपन्नता मानव को कैसे प्रभावित करती है, इसका भी यहाँ अध्ययन किया जाता है। **राजनीतिशास्त्र** मानव का अध्ययन सत्ता, शक्ति, राज्य आदि के आधार पर करता है। वह व्यक्ति एवं राज्य के संबंधों की भी विवेचना करता है। **इतिहास** व्यक्ति को अतीत की उपज मानकर उसके सामाजिक उद्विकास, भूतकालीन जीवन, समाज व संस्कृति का अध्ययन करता है। **मानवशास्त्र** में मानव के शारीरिक उद्भव से लेकर उसके समाज, संस्कृति, व्यक्ति निर्माण में संस्कृति की भूमिका, उसके आदिम जीवन, अर्थव्यवस्था, राजनीतिक जीवन, कला, भाषा, प्रजाति, धर्म, आदि सभी पक्षों का अध्ययन किया जाता है।
- मानव क्या है या समाजशास्त्र में मानव की अवधारणा के बारे में चिंतन, समाजशास्त्र के विकास के साथ-साथ बदलता रहता है। दुर्खीम जैसे समाजशास्त्रियों ने समाजशास्त्र को दर्शन के प्रभाव से मुक्त कराकर उसे विज्ञान के नजदीक लाने और विज्ञान की श्रेणी में रखने का प्रयत्न किया तो मानव के बारे में भी वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य विकसित हुआ।
- समाजशास्त्र में मानव की अवधारणा को दो दृष्टिकोणों से देखा गया है–(*i*) ऐतिहासिक, एवं (*ii*) सैद्धांतिक। ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में यह देखने का प्रयत्न किया गया है कि बदलती सामाजिक संरचना में मानव की समस्याओं को समझने में समाजशास्त्र का क्या योगदान रहा है। सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य में समाजशास्त्र में प्रचलित सिद्धांतों एवं उपागमों में मानव को किस रूप में देखा गया है, का अध्ययन किया जाता है।
- कॉम्ट एवं स्पेन्सर प्रत्यक्षवाद के प्रमुख समर्थक थे।
- **स्पेन्सर** ने अपना प्रारूप जीव विज्ञान से तथा कॉम्ट ने भौतिकशास्त्र से ग्रहण किया था।
- कॉम्ट की मानव की अवधारणा उसके मस्तिष्क-व्यवस्था के सिद्धांत अर्थात् बौद्धिक विकास से जुड़ी है। उसने मस्तिष्क व्यवस्था के तीन प्रमुख अंग माने हैं–भावना, क्रिया एवं बुद्धि। कॉम्ट ने सामाजिक पुनर्निर्माण की योजना भी प्रस्तुत की।
- **दुर्खीम** प्रत्यक्षवादी समाजशास्त्रियों में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। दुर्खीम ने मानव को सामाजिक प्रक्रियाओं की उपज माना है। मानव की अवधारणा के विकास को समाज के विकास के साथ जोड़ता है। वह समाज के विकास को यांत्रिक एकता वाले समाज से सावयवी एकता वाले समाज की ओर मोड़ता है।
- प्रकार्यात्मक समाजशास्त्र में मानव की अवधारणा को कई स्तर पर देखा जा सकता है जैसे व्यक्तित्व-निर्माण एवं बच्चे के लालन-पालन में प्राथमिक संस्थाओं की भूमिका, सामाजिक संरचना एवं मानव के प्रकार, संरचनात्मक जटिलता एवं विरोधाभासों से मानव का अलगाव आदि।
- पारसंस मानव को एक लचीले एवं चेतन प्राणी के रूप में देखता है। वह व्यक्तित्व को मनोवैज्ञानिक-सावयवी व्यवस्था के साथ-साथ सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवस्था से जनित भी मानता है।
- द्वंद्वात्मक एवं निर्वचनात्मक समाजशास्त्रियों का प्रमुख संबंध आधुनिक समाज में मानव की समस्याओं से है।
- मार्क्स के समाजशास्त्र में मानव के अलगाव (Alienation) की समस्या केंद्रीय विषय है जबकि वेबर आधुनिक पूँजीवादी समाज और उसके तार्किक नौकरशाही संगठन तथा सत्ता के विभिन्न स्वरूपों के संबंध में मानव एवं समाज के संबंधों की चर्चा करता है। मार्क्स कहता है कि श्रम व्यक्ति का विशिष्ट लक्षण है। इसके सहारे ही उसने इतिहास की रचना की है, प्रकृति पर विजय पायी है।

नोट

- वेबर ने मानव की अवधारणा के विकास को समाज में नैतिकता के परिवर्तन के साथ जोड़ा है।
- समाजशास्त्रियों ने मानव की अवधारणा को नैतिक स्तर पर भी देखने का प्रयत्न किया है। वे समाजशास्त्र को विचलित व्यवहार का विश्लेषण करने वाले विज्ञान की भूमिका से बाहर ले जाते हैं। वे समाजशास्त्र में मानवतावादी दृष्टिकोण को अपनाने पर बल देते हैं जिसका स्रोत समाज की नैतिक संरचना है।

1.13 शब्दकोश (Keywords)

1. **सैनिक समाज-व्यवस्था**–इसमें व्यक्ति की अपेक्षा राज्य को सर्वोपरि माना जाता है।
2. **औद्योगिक समाज-व्यवस्था**–इसमें निरंकुश शासन का स्थान प्रजातंत्र ले लेता है।

1.14 अभ्यास-प्रश्न (Review Question)

1. मानव की अवधारणा के संदर्भ में समाजशास्त्रीय चिंतन पर प्रकाश डालिए।
2. प्रत्यक्षवादी समाजशास्त्रीय सिद्धांत में मानव की अवधारणा का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।
3. द्वंद्वात्मक समाजशास्त्र में मानव की अवधारणा का स्वरूप समझाइए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer : Self Assessment)

1. सोशल सिस्टम
2. आत्महत्या
3. राज्य

1.15 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. सोश्योलॉजी–*गिडेंस, एंथनी 2008, विले–इंडिया।*
2. इंडियन सोसाइटी : इंस्टीट्यूशंस एंड चेंज–*शर्मा, राजेंद्र के. 2004.*
3. फंडामेंटल्स ऑफ़ सोश्योलॉजी–*गिसबर्ट, पास्कल 2006, ओरिएंट लॉंगमैन।*

नोट

इकाई–2 : आर्थिक व्यवस्था (Economic System)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)
प्रस्तावना (Introduction)
2.1 सरल (आदिम) समाजों की व्यवस्था (Economy of Simple [Primitive] Societies)
2.2 जटिल समाजों की अर्थव्यवस्था (Economy of Complex Societies)
2.3 वस्तु विनिमय एवं उत्सवी विनिमय (Barter and Ceremonial Exchange)
2.4 सारांश (Summary)
2.5 शब्दकोश (Keywords)
2.6 अभ्यास-प्रश्न (Review Question)
2.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- आदिम समाजों की व्यवस्था को समझने में।
- जटिल समाजों की अर्थव्यवस्था को समझने में।
- वस्तु विनिमय एवं उत्सवी विनिमय को समझने में।

प्रस्तावना (Introduction)

शारीरिक अस्तित्व को बनाए रखने के लिए मनुष्य अपनी तीन मूलभूत आवश्यकताओं जिन्हें कार्ल मार्क्स (Karl Marx) जीवन के आवश्यक भौतिक मूल्य कहता है, को जुटाने के लिए प्रयत्न करता है। ये मूलभूत आवश्यकताएँ–भोजन, वस्त्र और निवास हैं। बिना इनको प्राप्त किए मनुष्य का जीवित रहना कठिन हो जाएगा और उसका सामाजिक जीवन भी खतरे में पड़ जाएगा। इन आवश्यकताओं की पूर्ति के दौरान उसके द्वारा किए जाने वाले प्रयत्न अर्थव्यवस्था को जन्म देते हैं। वह उत्पादन करता है और उत्पादित वस्तु का उपभोग भी, परंतु उत्पादन का कार्य सदैव अकेला व्यक्ति ही नहीं करता वरन् इसमें अन्य लोगों के सहयोग की आवश्यकता भी होती है। उत्पादन में भाग लेने वालों में भी उत्पादित वस्तु या श्रम के मूल्य का वितरण करना पड़ता है। सभी वस्तुओं का उत्पादन भी एक या कुछ व्यक्तियों द्वारा नहीं होता। अत: वह स्वयं द्वारा उत्पादित वस्तु दूसरे लोगों को देकर उसके बदले में दूसरी वस्तु लेता है, तो विनिमय प्रारंभ होता है। इस प्रकार उत्पादन, उपभोग, विनिमय तथा वितरण मिलकर मनुष्य के आर्थिक जीवन को क्रियाशील बनाते हैं और एक अर्थव्यवस्था को जन्म देते हैं।

पिडिंगटन अर्थव्यवस्था की परिभाषा करते हुए लिखते हैं, ''आर्थिक प्रणाली लोगों की भौतिक आवश्यकताओं की संतुष्टि के लिए उत्पादन की व्यवस्था, वितरण पर नियंत्रण तथा समुदाय में स्वामित्व के अधिकारों एवं दावों को निर्धारित करती है।''

नोट

बील्स तथा **हाईजर** के मतानुसार ''आर्थिक संगठन व्यवहारों के प्रतिमान हैं तथा समाज का वह परिणामस्वरूप संगठन है जो कि वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन, वितरण तथा उपभोग से संबंधित है।''

बोहनन के अनुसार, ''सामाजिक समूहों और मानवों की भौतिक आवश्यकताओं को संतुष्ट करने के लिए स्रोतों, प्रविधि और कार्य को संगठित करने का जो तरीका है उसे ही हम एक अर्थव्यवस्था कह सकते हैं।''

लूसी मेयर के अनुसार, ''अर्थव्यवस्था का संबंध उन कार्य-कलापों से है, जिनसे लोग अपने साधनों, भौतिक और अभौतिक दोनों की व्यवस्था करते हैं और उनके विभिन्न उपयोगों में से कुछ को चुनते हैं, ताकि प्रतिद्वंद्वी उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सीमित साधनों का आबंटन किया जा सके।''

लघु समाजों की अर्थव्यवस्था के प्रसिद्ध अध्ययनकर्ता **रेमंड फर्थ** (Raymond Firth) लिखते हैं, ''यह मानव कार्य-कलापों का वह विस्तृत क्षेत्र है, जिसका संबंध साधनों के परिसीमित उपयोग और संगठन से है। इस प्रकार मनुष्य विवेक द्वारा आवश्यकताओं से तारतम्य स्थापित करता है।''

मजूमदार एवं **मदान** के शब्दों में, ''जीवन की दिन-प्रतिदिन की अधिकाधिक आवश्यकताओं को कम से कम परिश्रम से पूरा करने हेतु मानव संबंधों तथा प्रयत्नों को नियमित एवं संगठित करना ही अर्थव्यवस्था है।''

उपर्युक्त परिभाषाओं के विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि मनुष्य को जीवित रहने के लिए अपनी विभिन्न आवश्यकताओं को पूरा करना पड़ता है। इसके लिए उसे कुछ प्रयत्न करने पड़ते हैं। ये प्रयत्न ही अर्थव्यवस्था को जन्म देते हैं। हम यहाँ सरल एवं आधुनिक जटिल समाजों दोनों की ही विशेषताओं का उल्लेख करेंगे।

2.1 सरल (आदिम) समाजों की अर्थव्यवस्था (Economy of Simple (Primitive) Societies)

आदिम समाजों में आर्थिक क्रियाएँ प्रमुख रूप से शारीरिक अस्तित्व को बनाए रखने के लिए ही की जाती थीं। अत: उनकी अर्थव्यवस्था को **निर्वाह अर्थव्यवस्था** (Subsistence economy) कह सकते हैं। उनकी मुख्य समस्या उदरपूर्ति और जीवित रहने की थी। इसके लिए उन्हें प्रकृति से संघर्षरत् रहना होता था। हमारी तरह उनमें उत्पादन एवं उपभोग करने वाले स्पष्टत: भिन्न-भिन्न समूह नहीं हैं। वहाँ परिवार ही उत्पादन एवं उपभोग करने वाली इकाई है। परिवार ही अर्थव्यवस्था का मूल आधार था। आधुनिक अर्थव्यवस्था की तरह उनमें नियोजित अर्थव्यवस्था नहीं होती। संक्षेप में, **आदिम अर्थव्यवस्था की मूल विशेषताएँ इस प्रकार हैं–**

1. **इनका तकनीकी ज्ञान और स्तर बहुत निम्न है।** अनुकूल जलवायु, वनस्पति और प्राकृतिक साधनों की प्रचुरता होने पर भी साधनों की सीमितता के कारण एवं ज्ञान के अभाव में वे उनका सीमित लाभ ही उठा सकते हैं। खुरपी, गेंती, कुदाल, तीर-धनुष, मछली पकड़ने के जाल व फंदे से ही वे अपना उत्पादन कर लेते हैं। वे लोग भरण-पोषण की न्यूनतम आवश्यकताएँ भी काफी कठिनाई से पूरी कर पाते हैं। प्रतिदिन या मौसम भर खाद्य-संग्रह में लगे रहना, अधिकांश समय कठिनाई का सामना करना और भूख के खतरे का बना रहना आदि आदिम अर्थव्यवस्था के लक्षण हैं।
2. **ये लोग भविष्य के लिए बचाकर रखने या संग्रह करने की प्रवृत्ति से मुक्त हैं।** यदि ये कुछ एकत्रित भी करते हैं तो उसे लंबे समय तक सुरक्षित रखना नहीं जानते। उत्तरी रोडेशिया की बेंबा जाति फल और अनाज जमा कर लेती है, परंतु गर्मी, नमी और दीमक उन्हें नष्ट कर देते हैं। टिकोपिया के लोग मछली साफ करना नहीं जानते थे। पशुपालक अपने पशुओं की रक्षा रोगों से नहीं कर पाते। उत्पादन में भावी जरूरतों पर बहुत कम ध्यान दिया जाता है। अत: संग्रह की कठिनाई आती है। अधिकांशत: साधनों के अभाव के कारण वे अपनी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति सीमित मात्रा में ही कर पाते हैं। **एस्कीमो** लोग सील मछली का माँस खाते हैं, उसकी चर्बी से ईंधन और रोशनी का काम लेते हैं, चमड़े से वस्त्र एवं तंबू बनाते हैं। सील मछली की माँसपेशियाँ धागे का काम देती हैं और हड्डियाँ औजार बनाने का। दक्षिणी सूडान के पशु-पालक **न्यूर** (Neur) पशुओं की सहायता से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। थोड़े-से आर्थिक साधनों पर अत्यधिक बल देने के कारण आर्थिक विकास ठीक से नहीं हो पाता।

नोट

क्या आप जानते हैं एस्कीमो लोग सील मछली का माँस खाते हैं और उसकी चर्बी से ईंधन और रौशनी का काम लेते हैं।

3. **यातायात के साधनों के अभाव** के कारण अनाज और वस्तुओं के संग्रह में तथा एक स्थान से दूसरे स्थान पर सामान को ले जाने में बड़ी कठिनाई होती है। अत: उनकी **आर्थिक क्रियाएँ एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र तक ही सीमित रहती हैं** और एक लघु क्षेत्र से बाहर इनके आर्थिक ढाँचे का विस्तार नहीं हो पाता।
4. इन लोगों में आधुनिक समाजों की तरह **मुद्रा और बाज़ार की व्यवस्था नहीं है** और न ही बैंक और साख, आदि की सुविधाएँ हैं। **अधिकांशत: उनका विनिमय वस्तु विनिमय के रूप में ही प्रचलित है। इसलिए उनमें व्यापारी, दलाल, प्रतियोगिता व एकाधिकार आदि का अभाव होता है।**
5. आदिम समाजों में **मुनाफाखोरी की प्रवृत्ति नहीं पायी जाती** क्योंकि अधिकांशत: **उत्पादन सामूहिक रूप से होता है।** वे पारस्परिक दायित्वों एवं सामूहिकता की भावना से बंधे होते हैं। अत: वे एक-दूसरे से मुनाफा लेने की बात नहीं सोचते।
6. **उत्पादन व वितरण की तुलना से विनिमय पर कम बल दिया जाता है** क्योंकि सामूहिक रूप से जो कुछ उत्पादन किया जाता है, उसका समान वितरण कर दिया जाता है। इनमें उत्पादन बिक्री के लिए नहीं किया जाता है। बचत कम ही हो पाती है, अत: विनिमय भी यदाकदा ही होता है। उत्पादन भी दैनिक जीवन की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए ही किया जाता है।
7. **आर्थिक और सामाजिक संबंधों में कोई भेद नहीं होता।** उनमें मालिक और नौकर के संबंध नहीं पाए जाते। **उनकी आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक क्रियाएँ त्यौहारों तथा उत्सवों से घुली-मिली होती हैं।**
8. **उत्पादन के दौरान धार्मिक और जादुई क्रियाएँ भी की जाती हैं।** उनका विश्वास है कि जादुई क्रियाओं व धार्मिक क्रियाओं से उत्पादन बढ़ता है तथा आर्थिक कार्य में सफलता मिलती है। ट्रोब्रियांडा द्वीपवासी मछली मारने व शिकार पर जाने से पहले अनेक धार्मिक व जादुई क्रियाएँ करते हैं जो उन्हें गहरे समुद्र में मछली मारने में सहयोग प्रदान करती हैं। कृषि करने वाली जनजातियाँ फसल बोने व काटने के समय भी इसी प्रकार की क्रियाओं का सहारा लेती हैं।
9. **आदिम लोगों में नित्यप्रति आविष्कार, नवाचार** (Innovation) **और परिवर्तन कम ही होते हैं।** अत: वहाँ स्थिरता अधिक है। इस स्थिरता एवं समरूपता के कारण ही आर्थिक उत्पादन की प्रविधि में साधारणत: कोई परिवर्तन नहीं हो पाते।
10. आदिम लोगों में हमारी तरह **विशेषज्ञ नहीं होते और न ही विशेषीकरण ही पाया जाता है।** वहाँ पर व्यक्ति थोड़ा-बहुत सभी तरह का काम जानता है। इस दृष्टि से जनजातीय लोग हरफनमौला (Jack of all trades) माने जा सकते हैं। **वहाँ श्रम-विभाजन, विशेषीकरण या कुशलता तथा अकुशलता के आधार पर नहीं पाया जाता।**
11. **व्यक्तिगत एवं सामूहिक दोनों प्रकार की संपत्ति हमें इन लोगों में देखने को मिलती है।** तीर-धनुष, नाव, फंदे, कृषि के औजार व्यक्तिगत संपत्ति हैं, तो कृषि-भूमि, चरागाह एवं शिकार का क्षेत्र, नदी, तालाब, आदि सामूहिक संपत्ति। अधिकांशत: इनमें उत्पादन व्यक्तिगत रूप से न कर सामूहिक रूप से किया जाता है। **परिवार ही उत्पादन करने वाली आधारभूत इकाई है।** आर्थिक क्रियाओं का मुख्य उद्देश्य जीवनयापन के साथ-साथ सामुदायिक कर्त्तव्यों को निभाना भी है।
12. **आदिम अर्थव्यवस्था में उपहार** (Gifts) **का विशेष महत्त्व है।** यह विनिमय का एक माध्यम है। एक व्यक्ति के पास जब किसी वस्तु की अधिकता होती है तो वह दूसरों को उपहार प्रदान करता है। उपहार लेने वाले का भी यह कर्त्तव्य है कि वह बदले में कुछ उपहार दे। उपहार के बदले प्रति-उपहार के निश्चय

नोट

के कारण व्यक्ति को भविष्य में सुरक्षा प्राप्त होती है। **अतिथि सत्कार का भी आदिम आर्थिक जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान है।** अत: कोई बाहरी अतिथि आकर कभी भी इनके यहाँ खा-पी सकता है।

13. इन लोगों में यह हिसाब नहीं लगाया जाता कि किसने कितना श्रम किया और न ही इस आधार पर इनमें वितरण होता है। बुशमैन (Bushman) जनजाति में शिकार चाहे कोई भी करे, परंतु माँस का वितरण एक निश्चित नियम द्वारा ही होता है। मुखिया, विवाहित एवं युवकों को अलग-अलग हिस्से तय होते हैं। वहाँ मज़दूरी नहीं होती है। **इनमें श्रम के पुरस्कार के बजाय हैसियत के अनुसार उत्पादित वस्तु का विभाजन ही पाया जाता है। न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति का अधिकार सभी को है।**
14. आधुनिक अर्थव्यवस्था की तरह वहाँ **राजनीतिक शक्ति का आर्थिक नियंत्रण से कोई संबंध नहीं है।** इनमें कर वसूली, बाज़ार, मुद्रा, यातायात आदि की व्यवस्था करना राजनीतिक व्यवस्था का कार्य नहीं है। इस प्रकार **आदिम अर्थव्यवस्था प्रारंभिक और सरल प्रकार की है,** परंतु वर्तमान में आधुनिकता के संपर्क के कारण उनमें अनेक परिवर्तन आ रहे हैं। उनमें भी मुद्रा, बैंक, साख, बाज़ार, दलाल आदि का प्रचलन हो रहा है।

2.2 जटिल समाजों की अर्थव्यवस्था (Economy of Complex Societies)

जटिल (आधुनिक) समाजों की अर्थव्यवस्था में हमें निम्नांकित आर्थिक संस्थाएँ देखने को मिलती हैं–

1. **संपत्ति** (Property)–संपत्ति प्राचीन एवं आधुनिक सभी युगों में एक प्रमुख आर्थिक संस्था रही है। सामंतवादी व्यवस्था में भूमि संपत्ति का प्रमुख स्वरूप थी। रोम में संपत्ति एक वैध संस्था थी। संपत्ति के उत्तराधिकार के संबंध में भी सभी समाजों में प्रथाएँ एवं क़ानून पाए जाते हैं। संपत्ति वैयक्तिक एवं अवैयक्तिक, भौतिक तथा अभौतिक, चल तथा अचल हो सकती है। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में संपत्ति के व्यक्तिगत अधिकारों पर तो समाजवादी व्यवस्था में संपत्ति के सामूहिक स्वामित्व के अधिकारों पर ज़ोर दिया जाता है।
2. **द्रव्य एवं साख** (Money and Credit)–द्रव्य और साख का प्रचलन रोमन काल से ही रहा है। मध्य युग के अंत तक मुद्रा का प्रचलन बड़ा सीमित था और ब्याज लेने की मनाही थी। साख का प्रचलन आधुनिक युग की ही देन है। प्रारंभ में वस्तु विनिमय ही प्रचलित था, किंतु आज तो प्रत्येक वस्तु का लेन-देन मुद्रा में होने लगा है। लगभग सभी देशों में धातु एवं कागज की मुद्रा का प्रचलन पाया जाता है। व्यापार का अधिकांश कार्य आज साख के द्वारा किया जाने लगा है। यदि सारा व्यापार धातु की मुद्रा में ही किया जाए तो एक समस्या पैदा हो जाएगी। साख के कारण ही विशाल एवं विस्तृत मात्रा में विश्व व्यापार संभव हुआ है। बैंक द्रव्य एवं साख की व्यवस्था करने वाली प्रमुख संस्था है।
3. **फैक्ट्री प्रणाली** (Factory System)–औद्योगिक क्रांति से पूर्व उत्पादन छोटे पैमाने पर होता था। उद्योगों में जड़ शक्ति (पेट्रोल, कोयला, बिजली, अणुशक्ति) एवं मशीनों के प्रयोग ने भीमकाय कारखानों को जन्म दिया और उत्पादन विशाल पैमाने पर होने लगा। आज मानव का स्थान मशीन ने ले लिया है और उत्पादन कम समय में अधिक मात्रा में होने लगा है। आज हमारे उद्योग विशाल उत्पादक के रूप में जाने जाते हैं और ये प्रमुख आर्थिक संस्था बन गए हैं।
4. **निगम** (Corporation)–बड़ी मात्रा में उत्पादन के लिए अधिक धन चाहिए जिसे एक अकेला व्यक्ति जुटाने में असमर्थ होता है। अत: बड़ी मात्रा में पूँजी एकत्रित करने के लिए विभिन्न प्रकार के निगमों, कंपनियों एवं संगठनों की स्थापना की जाती है। एक कंपनी अपने अधीन कई कंपनियों की देख-रेख एवं नियंत्रण करती है। वही श्रम की नीति, आय का वितरण, वस्तु की कीमत आदि तय करती है। अपने अधीन काम करने वाली कंपनियों के लिए बड़ी कंपनी इंजीनियर आदि की व्यवस्था करती है एवं वस्तु के सस्ते उत्पादन में सहयोग देती है।
5. **मज़दूरी प्रणाली** (Wage System)–औद्योगिक क्रांति के बाद मज़दूरी प्रणाली एक सुदृढ़ व्यवस्था बन गई है। इसने मज़दूर एवं मालिक के बीच एक खाई भी पैदा कर दी है और श्रम एवं पूँजी में संघर्ष उत्पन्न

नोट

हो गया है। मज़दूरी प्रणाली दो प्रकार की पाई जाती है–(*i*) 'जितना काम उतना दाम' सिद्धांत के आधार पर, तथा (*ii*) समय के आधार पर (Time Wages)। प्रत्येक कारखाने में सुविधानुसार इनमें से कोई भी एक प्रणाली अपना ली जाती है।

6. **मज़दूर संघ एवं मालिक संघ** (Labour Unions and Associations of Employers)–आधुनिक मज़दूरी प्रणाली में जब मालिक एवं मज़दूरी के हित टकराने लगे तो दोनों ने अपने-अपने हितों की रक्षा के लिए संगठन बनाए। मज़दूर अपने श्रम की अधिकाधिक मज़दूरी चाहता है। काम के घंटे तय करवाने तथा बोनस, भत्ता, आवास, नल, बिजली एवं छुट्टियों की सुविधाएँ पाने के लिए, वे अपने श्रमिक संघों के माध्यम से मालिकों से संघर्ष करते हैं। मालिक कम मज़दूरी देकर अधिक लाभ कमाना चाहते हैं, अत: वे भी अपना संगठन बनाते हैं। इस प्रकार मज़दूर संघ आज की प्रमुख आर्थिक संस्थाएँ बन गए हैं।

7. **ठेका** (Contract)–आधुनिक युग में कई कार्य जैसे, सड़क निर्माण, पुल निर्माण, भवन निर्माण ठेके पर होने लगे हैं। ठेके से संबंधित भी कई प्रथाएँ एवं क़ानून बने हुए हैं। क़ानूनों का उल्लंघन करने पर न्यायालय की शरण ली जा सकती है। ठेके के कार्य के लिए टेंडर आमंत्रित किए जाते हैं। व्यापार में अनेक कार्य आज ठेके पर होने लगे हैं।

8. **प्रतियोगिता** (Competition)–आज के युग में क्रेताओं, विक्रेताओं, निर्माताओं आदि में प्रतियोगिता पायी जाती है। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की तो यह एक प्रमुख विशेषता है। समाजवादी व्यवस्था में भी प्रतियोगिता पायी जाती है, किंतु पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की तरह 'गला काट प्रतियोगिता' (Cut throat competition) नहीं। प्रतियोगिता से लाभ एवं हानि दोनों ही हैं।

9. **एकाधिकार** (Monopoly)–पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में एकाधिकार भी एक प्रमुख संस्था है। मध्य युग में बड़ी मात्रा में वस्तुएँ खरीदने एवं एकत्रित करके रखने पर रोक थी। औद्योगीकरण ने एकाधिकार को विकसित किया है। एकाधिकार में कोई भी व्यक्ति, कंपनी या समूह किसी भी वस्तु के उत्पादन एवं व्यापार में एकाधिकार स्थापित कर लेता है और वस्तु को मनमाने भाव पर बेचता है। इससे एकाधिकार करने वाले को तो लाभ होता है, किंतु खरीददार को हानि उठानी पड़ती है। समाजवादी व्यवस्था में व्यक्ति के एकाधिकार को समाप्त कर सरकार का एकधिकार कायम किया जाता है।

10. **सहयोग** (Co-operation)–आज के युग में बड़ी मात्रा में उत्पादन के लिए मालिक एवं मज़दूर तथा क्रेता और विक्रेता में सहयोग बहुत आवश्यक है। क्रेता एवं विक्रेता के बीच दलालों को समाप्त करने के लिए सहकारी समितियों की स्थापना की गई है अनेक क्षेत्रों में उत्पादन का कार्य सहकारिता के आधार पर किया जाने लगा है। सहकारी समितियाँ उपभोक्ताओं को उचित दामों पर वस्तुएँ उपलब्ध कराती हैं और लाभ का बंटवारा समान रूप से अंशधारियों (Shereholders) में करती हैं।

11. **विशेषीकरण** (Specialization)–विशेषीकरण आज की अर्थव्यवस्था की प्रमुख संस्था है। तकनीकी उन्नति के साथ-साथ आर्थिक कार्यों में विशेषीकरण बढ़ता गया। विशेषीकरण में एक व्यक्ति किसी एक ही कार्य का विशेषज्ञ होता है। इसमें कार्य तीव्र गति से एवं दक्षतापूर्ण होता है, किंतु पारस्परिक निर्भरता बढ़ जाती है। आज हमें अर्थव्यवस्था के हर क्षेत्र में विशेषीकरण देखने को मिलेगा।

12. **श्रम-विभाजन** (Division of Labour)–कार्य को शीघ्र संपन्न करने के लिए कार्य को छोटे-छोटे टुकड़ों में अलग-अलग इकाइयों एवं व्यक्तियों द्वारा किया जाता है जिसे श्रम-विभाजन कहते हैं। फैक्ट्री प्रणाली में श्रम-विभाजन के बिना उत्पादन कार्य संभव नहीं है।

13. **वितरण प्रणाली** (Distribution System)–उत्पादित वस्तु का वितरण किस प्रकार से हो, इस संबंध में भी प्रत्येक प्रकार की अर्थव्यवस्था में कुछ प्रथाएँ एवं नियम पाए जाते हैं। फैक्ट्री प्रणाली में एक स्थान पर उत्पादन होता है, अत: उसके उचित वितरण की व्यवस्था अति आवश्यक हो जाती है।

14. **बाज़ार एवं विनिमय** (Market and Exchange)–बाज़ार वह स्थान है जहाँ वस्तुओं का क्रय-विक्रय होता है, वस्तुओं के भाव तय होते हैं एवं पैसों का लेन-देन होता है। बाज़ार स्थायी, अस्थायी, सामान्य एवं विशिष्ट तथा छोटे-बड़े अनेक प्रकार के हो सकते हैं। बाज़ार में वस्तुओं का विनिमय वस्तु के बदले या मुद्रा के बदले हो सकता है, किंतु वर्तमान समय में यह कार्य साख, बैंक एवं मुद्रा के द्वारा किया जाता है।

नोट

2.3 वस्तु विनिमय एवं उत्सवी विनिमय (Barter and Ceremonial Exchange)

जनजातियों में उपहार, विनिमय एवं व्यापार के द्वारा वस्तुओं का आदान-प्रदान होता है। उपहारों का उद्देश्य उत्पादन के वितरण द्वारा व्यक्तिगत एवं सामूहिक संबंधों को स्थायित्व देना होता है। अंडमानियों से लेकर विकसित समाजों तक हमें उपहार देने की प्रथा देखने को मिलती है। उपहार आर्थिक व सामाजिक दोनों दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण हैं। उपहार में अर्थिक दृष्टि से कीमती एवं उपयोगी वस्तुएँ, प्रतिष्ठा की दृष्टि से उपयोगी वस्तुएँ लेकिन व्यावहारिक और आर्थिक दृष्टि से मूल्यहीन एवं निरुपयोगी वस्तुएँ तक दी जाती हैं। जन्म, विवाह, मृत्यु एवं बड़े दिन आदि अवसरों पर हमें इसका विशेष प्रचलन देखने को मिलता है। कभी-कभी उपहार देना अनिवार्य भी होता है तो कभी वैकल्पिक। उपहार देना अधिकारों व कर्त्तव्यों का द्योतक है। प्राय: यह निश्चित होता है कि कब किस अवसर पर कौन उपहार प्राप्त करने का अधिकारी होगा और किस पक्ष का यह कर्त्तव्य होगा कि उपहार दे। इससे समूह के संबंधों में दृढ़ता आती है और उपहार न देने पर सामूहिक संबंधों के टूटने का खतरा पैदा हो जाता है।

लघु समाजों में उपहारों में मोल-भाव नहीं होता जो कुछ दिया जाता है उसे विनम्रतापूर्वक स्वीकार कर लिया जाता है। उपहार में कभी आशा से कम होने पर मन में नाराज़गी भी पैदा हो सकती है फिर भी यह तय कर लिया जाता है कि उसके बदले में क्या देना है। ऐसा करते समय उपहार में आयी वस्तु का एवं उसके बदले में दी जाने वाली वस्तु की कीमत को आँका नहीं जाता है। उपहार प्राप्त करते ही बदले में उपहार उसी समय नहीं दिया जाता वरन् उसमें देरी भी हो सकती है। उपहार अधिकांशत: मित्रों एवं रिश्तेदारों के बीच में ही दिए जाते हैं और ऐसा विवाह जन्म, मृत्यु तथा त्यौहार पर ही होता है, सदा नहीं। इसका उद्देश्य आर्थिक वस्तुएँ प्राप्त करना ही नहीं वरन् सामाजिक संबंधों को प्रगाढ़ एवं उनमें निरंतरता बनाए रखना भी है। उपहार की वस्तुएँ दैनिक प्रयोग की वस्तुओं से भिन्न होती हैं क्योकि पाने वाला उन चीजों को खरीदने में असमर्थ होता है या उन्हें खरीदना फिजूलखर्ची मानता है। छोटे समाजों में औपचारिक उपहार में कीमती वस्तुएँ दी जाती हैं और कभी-कभी इनकी उपयोगिता केवल यही होती है कि उन वस्तुओं को पुन: उपहार के बदले में किसी और को दे दिया जाता है। दुर्खीम के अनुगामी **मारसल मौस** ने सरल समाजों में उपहार के महत्त्व को बताने के लिए **'पाटलैच'** और **'कुला'** (Kula and Potlach) का उदाहरण दिया जो कि उत्सवी विनिमयों के उदाहरण हैं। हम यहाँ इन दोनों उत्सवी विनिमयों का उल्लेख करेंगे।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें–

1. लाल शंख के हार को ..... कहा जाता था।
2. ..... लोग सील मछली का मांस खाते हैं।
3. आदिम अर्थव्यवस्था में ..... का बहुत महत्त्व है।

पॉटलैच (Potlach)–यह प्रथा अमेरिका के उत्तर-पश्चिमी तट की जनजातियों में, अलास्का और ब्रिटिश कोलंबिया में निवास करने वाली चार जनजातियों में पायी जाती है। वे हैं–हैदा (Haida), लिंगित (Tlingit), शिमशियन (Tsimshian), और क्वाक्विटल (Kwakiutal)। पॉटलैच एक भोज होता है जिसमें कई लोगों और यहाँ तक कि दुश्मनों तक को आमंत्रित किया जाता है, भोज में लोगों को खूब खिलाया-पिलाया जाता है, वस्तुएँ नष्ट की जाती हैं और लोगों में बाँटी जाती हैं। वह कितना समृद्धशाली है और कितना कुछ नष्ट कर सकता है और दे सकता है यह दिखाने के लिए ही वह ऐसा करता है। इससे उसकी प्रतिष्ठा में वृद्धि होती है। इस प्रकार पॉटलैच द्वारा एक व्यक्ति डंके की चोट पर सम्मानजनक सामाजिक प्रतिष्ठा या पद प्राप्त करता है। हैडा जनजाति में कई प्रकार के पॉटलैच प्रचलित हैं। जैसे–दाह संस्कार पॉटलैच (Funeral potlach), गृह-निर्माण पॉटलैच (House building potlach)। मुँह छिपाने के लिए दिया गया पॉटलैच (Face saving potlach), बदला लेने के लिए पॉटलैच (Vengeance potlach)। दाह संस्कार के पॉटलैच में मुखिया का उत्तराधिकारी मुखिया की मृत्यु के बाद उसके पद को ग्रहण करने के लिए पाटलैच देता है। शिमशियन जनजाति में भी गोत्र समूह

नोट

के मुखिया की मृत्यु के बाद उसका पुत्र या भतीजा मुखिया के पद व नाम को ग्रहण करने के लिए दूसरे लोगों व मुखियाओं को भोज में आमंत्रित करता है। उनका स्वागत करता है। उन्हें बहुमूल्य वस्तुएँ प्रदान करता है। भोजन व नाच गाने के साथ ही इस समारोह की समाप्ति होती है।

टास्क उत्सवी विनिमय से आप क्या समझते हैं?

कुला (Kula) कुला उपहार विनिमय की विख्यात प्रथा है जिसका सर्वप्रथम विस्तार से वर्णन **मेलिनोवस्की** ने किया। यह प्रथा न्यूगिनी, ट्रोब्रियांडा द्वीप, एंफ्लेट द्वीप (Amphlett Island), लौफलें द्वीप (Loughlan Island) तथा डोबू (Dobu) में पाई जाती है। इन लोगों की संस्कृतियाँ भिन्न-भिन्न हैं फिर भी वे कुला के प्रचलन में सहयोग देते हैं। कुला आर्थिक प्रकार्य ही नहीं करता वरन् समारोहात्मक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। कुला के साथ आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कारिक, जादुई एवं धार्मिक मूल्य, यात्राएँ व मनोरंजन भी जुड़े हुए हैं। अत: यह इन सभी का संकुल है।

कुला प्रथा में प्रत्येक सक्षम व्यक्ति शंख के आभूषणों द्वारा दूसरे लोगों से विनिमय का साझा स्थापित करता है। ये आभूषण दो प्रकार के होते हैं–लाल शंख का हार जिसे 'सौलवा' (Soulva) कहा जाता है तथा श्वेत शंख के बाजूबंद जिसे 'म्वाली' (mwali) कहते हैं। कुला में विनिमय करने वाले दोनों पक्ष एक ही वस्तु का विनिमय नहीं करते अर्थात् यदि एक पक्ष ने हार दिया है तो दूसरा पक्ष हार नहीं देता वरन् बाजूबंद देगा और बाजूबंद देने वाले को हार दिया जाएगा। आदान-प्रदान दोनों पक्षों के मिलने पर एक साथ नहीं होता वरन् जिसकी बारी होती है यह देता है और उसका प्रतिदान उसी समय न देकर अगली भेंट में दिया जाता है। यदि साझेदार पड़ोसी हैं तो भेंट जल्दी-जल्दी भी हो सकती है। विनिमय का भी एक क्रम होता है, **सोल्वा** सदैव घड़ी के कांटे के क्रम में दिया जाता है (Clockwise), जबकि **म्वाली** इसके ठीक विपरीत क्रम में (Anti-clockwise) दिया जाता है। उदाहरण के लिए सोलवा यदि क, ख, ग, घ, क्रम में दिया जा रहा है तो म्वाली घ, ग, ख क, क्रम में दिया जाएगा।

नोट्स मानव में आपसी आदान-प्रदान के रूप में उपहार देने की रीति अत्यंत प्राचीन है। 'कुला' भी आदिम समाज में उपहार के आदान-प्रदान की एक प्रक्रिया थी, जो न्यूगिनी आदि द्वीपों में प्रचलित थी।

कुला विनिमय चार प्रकार से हो सकता है। प्रथम, एक ही कुला समुदाय में भी विभिन्न व्यक्तियों में परस्पर दिया जा सकता है। द्वितीय, दो पड़ोसी द्वीपों के समुदायों में, तृतीय, समुद्र के पार एक-दूसरे के नजदीक वाले समुदायों में बिना किसी समारोह के आयोजन के तथा चतुर्थ, समुद्र पार के समुदायों में समारोह का आयोजन करके विनिमय के रूप में।

कोई भी व्यक्ति कुला वस्तु को अधिक समय तक अपने पास नहीं रख सकता। कुछ समय रखकर वह शेखी बघार सकता है, उत्सवों एवं त्यौहारों पर पहन सकता है उसके बाद पुन: वह अन्य साझेदारों को लौटा देता है। जिन लोगों से एक बार कुला संबंध स्थापित हो जाते हैं उनसे सदैव वे संबंध बने रहते हैं (Once in kula always in kula)। अत: यह स्थायी संबंध है।

कुला की वस्तुएँ कोई कीमती नहीं होतीं वरन् उन्हें रखने पर एक समुदाय की प्रतिष्ठा बढ़ जाती है। इसे प्राप्त करना गौरव समझा जाता है और लड़ाकू जनजातियों में आर्थिक लेन-देन से संघर्ष के अवसर कम हो जाते हैं। कुला साझेदार को यश और मैत्री प्राप्त होती है। दूर द्वीपों में कुला साझेदार उसके मित्र होते हैं जो उसे अवसर आने पर शत्रुओं से सुरक्षा प्रदान करते हैं।

नोट

इस प्रकार कुला व्यवस्था एक आर्थिक क्रिया ही नहीं वरन् इसके साथ सामाजिक प्रतिष्ठा एवं बल, धर्म एवं जादू, इतिहास और व्यापार भी जुड़ा हुआ है। कुला समूह में सम्मिलित होने वाले व्यक्ति को नियमों का पालन करना होता है। ऐसा न करने पर उसे बहिष्कृत कर दिया जाता है, उसकी आलोचना की जाती है।

2.4 सारांश (Summary)

- आदिम समाजों में आर्थिक क्रियाएँ प्रमुख रूप से शारीरिक अस्तित्व को बनाए रखने के लिए ही की जाती थीं। अत: उनकी अर्थव्यवस्था को निर्वाह अर्थव्यवस्था (Subsistence economy) कह सकते हैं। इनका तकनीकी ज्ञान और स्तर बहुत निम्न है। अनुकूल जलवायु, वनस्पति और प्राकृतिक साधनों की प्रचुरता होने पर भी साधनों की सीमितता के कारण एवं ज्ञान के अभाव में वे उनका सीमित लाभ ही उठा सकते हैं। ये लोग भविष्य के लिए बचाकर रखने या संग्रह करने की प्रवृत्ति से मुक्त हैं। यदि ये कुछ एकत्रित भी करते हैं तो उसे लंबे समय तक सुरक्षित रखना नहीं जानते।
- यातायात के साधनों के अभाव के कारण अनाज और वस्तुओं के संग्रह में तथा एक स्थान से दूसरे स्थान पर सामान को ले जाने में बड़ी कठिनाई होती है। मुद्रा और बाज़ार की व्यवस्था नहीं है और न ही बैंक और साख, आदि की सुविधाएँ हैं। अधिकांशत: उनका विनिमय वस्तु विनिमय के रूप में ही प्रचलित है।
- आदिम समाजों में मुनाफाखोरी की प्रवृत्ति नहीं पायी जाती क्योंकि अधिकांशत: उत्पादन सामूहिक रूप से होता है। आर्थिक और सामाजिक संबंधों में कोई भेद नहीं होता। उनमें मालिक और नौकर के संबंध नहीं पाए जाते। वहाँ श्रम-विभाजन, विशेषीकरण या कुशलता तथा अकुशलता के आधार पर नहीं पाया जाता।
- आदिम अर्थव्यवस्था में उपहार (Gifts) का विशेष महत्त्व है। यह विनिमय का एक माध्यम है।
- संपत्ति प्राचीन एवं आधुनिक सभी युगों में एक प्रमुख आर्थिक संस्था रही है।
- रोम में संपत्ति एक वैध संस्था थी। द्रव्य और साख का प्रचलन रोमन काल से ही रहा है। मध्य युग के अंत तक मुद्रा का प्रचलन बड़ा सीमित था और ब्याज लेने की मनाही थी।
- औद्योगिक क्रांति के बाद मज़दूरी प्रणाली एक सुदृढ़ व्यवस्था बन गई है। आधुनिक मज़दूरी प्रणाली में जब मालिक एवं मज़दूरी के हित टकराने लगे तो दोनों ने अपने-अपने हितों की रक्षा के लिए संगठन बनाए। आज के युग में क्रेताओं, विक्रेताओं, निर्माताओं आदि में प्रतियोगिता पायी जाती है। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की यह एक प्रमुख विशेषता है। औद्योगीकीकरण ने एकाधिकार को विकसित किया है।
- समाजवादी व्यवस्था में व्यक्ति के एकाधिकार को समाप्त कर सरकार का एकधिकार कायम किया जाता है।
- जनजातियों में उपहार, विनिमय एवं व्यापार के द्वारा वस्तुओं का आदान-प्रदान होता है। उपहारों का उद्देश्य उत्पादन के वितरण द्वारा व्यक्तिगत एवं सामूहिक संबंधों को स्थायित्व देना होता है। लघु समाजों में उपहारों में मोल-भाव नहीं होता जो कुछ दिया जाता है उसे विनम्रतापूर्वक स्वीकार कर लिया जाता है।
- इसका उद्देश्य आर्थिक वस्तुएँ प्राप्त करना ही नहीं वरन् सामाजिक संबंधों को प्रगाढ़ एवं उनमें निरंतरता बनाए रखना भी है। उपहार की वस्तुएँ दैनिक प्रयोग की वस्तुओं से भिन्न होती हैं।
- **पॉटलैच** प्रथा अमेरिका के उत्तर-पश्चिमी तट की जनजातियों में पायी जाती है।
- पॉटलैच एक भोज होता है जिसमें कई लोगों और यहाँ तक कि दुश्मनों तक को आमंत्रित किया जाता है।
- कुला उपहार विनिमय की विख्यात प्रथा है।
- कुला विनिमय चार प्रकार से हो सकता है। प्रथम, एक ही कुला समुदाय में भी विभिन्न व्यक्तियों में परस्पर दिया जा सकता है। द्वितीय, दो पड़ोसी द्वीपों के समुदायों में, तृतीय, समुद्र के पार एक-दूसरे के नजदीक वाले समुदायों में बिना किसी समारोह के आयोजन के तथा चतुर्थ, समुद्र पार के समुदायों में समारोह का आयोजन करके विनिमय के रूप में।

2.5 शब्दकोश (Keywords)

नोट

1. **सरल अथवा आदिम समाज**–प्राचीन समाज को कहते हैं।
2. **जटिल समाज**–आधुनिक समाज को कहते हैं।
3. **उत्सवी विनियम**–वस्तुओं के माध्यम से उपहार स्वरूप किया गया लेन-देन।
4. **पॉटलैच**–यह एक प्रकार का भोज होता है जो अमेरिका की उत्तरी-पश्चिमी तटीय जनजातियों में प्रचलित है।
5. **कुला**–यह भी उपहार विनियम की एक विख्यात प्रथा है जो न्यूगिनी, ट्रोब्रियांडा, एंफ्लेट आदि द्वीपों में प्रचलित है।

2.6 अभ्यास-प्रश्न (Review Question)

1. आदिम अर्थव्यवस्था की मूल विशेषताएँ बताइए।
2. जटिल समाज अथवा आधुनिक समाज की अर्थव्यवस्था के संस्थागत रूपों पर प्रकाश डालिए।
3. वस्तु विनिमय एवं उत्सवी विनिमय को आदिम समाज के संदर्भ में समझाइए।
4. अर्थव्यवस्था के संदर्भ में बाज़ार की व्याख्या कीजिए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer : Self Assessment)

1. सोल्वा
2. एस्कीमो
3. उपहार

2.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. डायनमिक्स ऑफ सोशल इंस्टीट्यूशंस–*अज़हर शेख़, सब्लाइम पब्लिकेशंस, 2008.*
2. इंडियन सोसाइटी एंड सोशल इंस्टीट्यूशंस–*(2 वॉल्यूम्स सेट) एन. जयापालन, एटलांटिक।*
3. मैरिज, पापुलेशन एंड सोसाइटी : डेमोग्राफ़िक पर्सपेक्टिव्स ऑफ़ ए सोशल इंस्टीट्यूशंस–*एम. एम. कृष्णारेड्डी, कनिष्का, 1998.*

नोट

इकाई–3 : आधुनिक आर्थिक व्यवस्थाएँ (Modern Economic System)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)
प्रस्तावना (Introduction)
3.1 अर्थव्यवस्था का विकास (Development of Economy)
3.2 बाज़ार अर्थव्यवस्था (Market Economy)
3.3 संपत्ति (Property)
3.4 पूँजीवाद : पूँजीवादी अर्थव्यवस्था (Capitalism Capitalistic Economy)
3.5 समाजवाद (Socialism)
3.2.1 समाजवाद की विशेषताएँ (Characteristics of Socialism)
3.2.2 समाजवाद के प्रकार (Types of Socialism)
3.6 साम्यवाद (Communism)
3.7 पूँजीवाद एवं साम्यवाद में अंतर (Distinction Between Capitalism and Communism)
3.8 सारांश (Summary)
3.9 शब्दकोश (Keywords)
3.10 अभ्यास-प्रश्न (Review Question)
3.11 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- पूँजीवाद एवं समाजवाद को समझने में।
- साम्यवाद एवं पूँजीवाद के मूलभूत अंतर को समझने में।
- समाज पर आधुनिक आर्थिक व्यवस्था के प्रभाव को समझने में।
- औद्योगिक-पूर्व एवं औद्योगिक विकास प्रणाली को समझने में।
- औद्योगिक समाज, श्रम-विभाजन एवं औद्योगीकरण को समझने में।

प्रस्तावना (Introduction)

वर्तमान समय में हमें जटिल समाजों में दो प्रमुख आर्थिक व्यवस्थाएँ देखने को मिलती हैं–पूँजीवादी एवं समाजवादी। हम यहाँ इन दोनों ही व्यवस्थाओं का उल्लेख करेंगे। समाजवाद तथा साम्यवाद ये दोनों ही विचारधाराएँ मानव-मात्र की समानता, विशेषत: आर्थिक समानता पर आधारित है। परंतु इनकी मूल प्रवृत्ति में बहुत अंतर है। यहाँ हम उस अंतर को स्पष्ट करेंगे।

3.1 अर्थव्यवस्था का विकास (Development of Economy)

नोट

1. **भोजन एकत्रित करने एवं शिकार करने की अवस्था**–आर्थिक व्यवस्थाओं के विकास का यह प्रथम चरण था जब मानव भोजन की खोज में एक स्थान से दूसरे स्थान भटकता फिरता था। वह शिकार करके अथवा कंदमूल-फल एकत्रित करके अपना जीवन-यापन करता था। उस समय संपत्ति, व्यापार, विनिमय एवं वितरण से संबंधित कोई भी आर्थिक उप-संस्थाएँ नहीं थीं। मानव अपनी आवश्यकता पूर्ति हेतु ही संकलन करता था, व्यापार या विनिमय के लिए नहीं।
2. **चरागाह अवस्था**–इस अवस्था में मानव ने पशुओं को मारने के बजाय उनको पालना शुरू किया। पशु और चरागाह-भूमि को संपत्ति समझा जाने लगा। इस समय पशु निजी संपत्ति और भूमि सार्वजनिक समझी जाती थी। संपत्ति के अलावा अन्य आर्थिक उप-संस्थाएँ अस्तित्व में नहीं आई थीं।
3. **कृषि अवस्था**–इस अवस्था में मानव ने कृषि कार्य प्रारंभ किया। अब भूमि, पशु एवं कृषि यंत्रों को संपत्ति माना गया। निजी एवं सामूहिक संपत्ति की अवधारणा का विकास हुआ। मानव निजी संपत्ति को अपने पुत्रों एवं परिवारजनों में हस्तांतरित भी करने लगा। वस्तु विनिमय प्रचलित हुआ। कृषि में जमींदारी प्रथा विकसित हुई। धीरे-धीरे मुद्रा का प्रचलन बढ़ा। आयु एवं लिंग के आधार पर श्रम-विभाजन पनपा। सीमित मात्रा में व्यापार होने लगा और बाज़ारों की स्थापना हुई।
4. **औद्योगिक अवस्था**–नवीन आविष्कारों एवं मशीनों के प्रयोग ने उद्योगों की स्थापना में योग दिया। उद्योगों में अधिक मात्रा में तीव्र गति से उत्पादन होने लगा। कारखानों में कच्चे माल को पहुँचाने एवं बने हुए माल को बाज़ारों तक पहुँचाने के लिए नवीन यातायात के साधनों का विकास हुआ। नवीन संचार व्यवस्था ने व्यापार को और सरल बना दिया। राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय व्यापार को बढ़ावा मिला। बैंक एवं साख, ठेका प्रणाली, श्रम-विभाजन एवं विशेषीकरण को बढ़ावा मिला, अनेक श्रम-समस्याओं ने जन्म लिया, जिन्हें हल करने के लिए मज़दूर संगठन बने। वितरण एवं विनिमय की नई व्यवस्था पनपी। मुद्रा का प्रचलन बढ़ा। नवीन आर्थिक परिस्थितियों ने कई वादों को जन्म दिया जैसे पूँजीवाद, साम्राज्यवाद एवं समाजवाद आदि को। इस प्रकार आधुनिक औद्योगिक व्यवस्था ने अनेक जटिल आर्थिक संस्थाओं को जन्म दिया है।

3.2 बाज़ार अर्थव्यवस्था (Market Economy)

बाज़ार अर्थव्यवस्था का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है। सरल और आदिम समाजों में भी बाज़ार पाए जाते हैं किंतु वे आधुनिक जटिल समाजों की भाँति विकसित और विविधता लिए हुए नहीं होते। सरल और जटिल समाजों में बाज़ार का उल्लेख करने से पूर्व बाज़ार किसे कहते हैं यह जान लेना आवश्यक है।

साधारण भाषा में 'बाज़ार' शब्द का प्रयोग उस स्थान या जगह विशेष के लिए किया जाता है जहाँ वस्तुओं का क्रय-विक्रय होता हो। अर्थशास्त्री बाज़ार का अर्थ उस संपूर्ण क्षेत्र से लेते हैं जहाँ वस्तु विशेष के क्रेताओं और विक्रेताओं की भौतिक उपस्थिति उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं है जितनी कि उनमें प्रतिस्पर्धा और संपर्क। आधुनिक युग में वस्तुओं का क्रय-विक्रय नमूनों (Sample) व प्रतिनिधियों (Agents) के द्वारा भी हो सकता है। वस्तुओं का सौदा दूर क्षेत्र में तार, टेलीफोन, पत्र आदि के द्वारा भी तय किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में वह समूचा क्षेत्र बाज़ार ही माना जाता है।

बाज़ार की परिभाषा–चैपमैन (Chapman) के अनुसार, ''बाज़ार शब्द का आशय किसी स्थान विशेष से नहीं वरन् वस्तु अथवा वस्तु क्रेताओं और विक्रेताओं से होता है जो आपस में प्रत्यक्ष रूप से प्रतियोगिता करते है'' **कूर्नो** के अनुसार, ''अर्थशास्त्री बाज़ार शब्द का आशय किसी स्थान विशेष से ही नहीं लेते जहाँ वस्तुएँ खरीदी और बेची जाती हैं वरन् बाज़ार शब्द से उस समस्त क्षेत्र का बोध होता है जिसमें क्रेताओं और विक्रेताओं में ऐसा स्वतंत्र एवं प्रतियोगितापूर्ण संबंध होता है कि वस्तु के मूल्य उस क्षेत्र में सुगमता एवं शीघ्रता से एक होने की प्रवृत्ति रखते हैं।'' **केअर्नक्रास** (Cairncross) के अनुसार ''बाज़ार का अर्थशास्त्र में अर्थ क्रेताओं तथा

नोट

विक्रेताओं के बीच किसी साधन (Factor) या वस्तु के लेन-देन का जालसूत्र है। **मार्शल** (Marshall) के अनुसार, ''बाज़ार से किसी स्थान या क्षेत्र जिसमें वस्तुओं का क्रय-विक्रय होने का ही बोध नहीं होता अपितु उन समस्त वस्तुओं का बोध होता है जिसमें क्रेता एवं विक्रेता के मध्य पारस्परिक प्रतियोगिता होती है।'' उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर **बाज़ार** की निम्नांकित **विशेषताएँ** प्रकट होती हैं–

1. बाज़ार के लिए वस्तु, साधन या सेवा का होना आवश्यक है जिसका क्रय-विक्रय या आदान-प्रदान हो सके।
2. बाज़ार में क्रेता और विक्रेता का होना आवश्यक है।
3. क्रेताओं और विक्रेताओं में प्रतिस्पर्द्धा भी बाज़ार का आवश्यक अंग है।
4. एक बाज़ार में एक दाम (Single Price) की प्रवृत्ति भी आवश्यक है।
5. बाज़ार का अर्थ किसी स्थान विशेष से ही नहीं वरन् उस संपूर्ण क्षेत्र के लिए लिया जाता है जहाँ वस्तु के क्रेता एवं विक्रेता फैले हुए हैं। इस दृष्टि से सारा विश्व भी बाज़ार हो सकता है।

टास्क वर्तमान समाज में बाज़ार के प्रभाव को आप किस रूप में देखते हैं?

बाज़ारों का वर्गीकरण या प्रकार

1. **स्थान या क्षेत्र के आधार पर**–(*i*) स्थानीय बाज़ार, (*ii*) प्रादेशिक बाज़ार, (*iii*) राष्ट्रीय बाज़ार, (*iv*) अंतर्राष्ट्रीय बाज़ार।
2. **समय के आधार पर**–(*i*) अति-अल्पकालीन बाज़ार, (*ii*) अल्पकालीन बाज़ार, (*iii*) दीर्घकालीन बाज़ार, (*iv*) अति दीर्घकालीन बाज़ार।
3. **कार्य के आधार पर**–(*i*) सामान्य या मिश्रित बाज़ार, (*ii*) विशिष्ट बाज़ार, (*iii*) नमूनों द्वारा बाज़ार (जिसमें नमूनों (Samples) के आधार पर वस्तुओं का लेन-देन होता हो), (*iv*) श्रेणी या ग्रेड के अनुसार बाज़ार (Marketing by grades)।
4. **प्रतियोगिता के आधार पर**–(*i*) पूर्ण प्रतियोगिता बाज़ार, (*ii*) अपूर्ण प्रतियोगिता बाज़ार, (*iii*) एकाधिकार बाज़ार।

अन्य प्रकार–(*i*) उचित बाज़ार, (*ii*) काला बाज़ार, (*iii*) उपज बाज़ार, (*iv*) स्कंध (Stock) बाज़ार, (*v*) धातु बाज़ार, (Bullion Market), (*vi*) वस्तु बाज़ार, (*vii*) पूँजी बाज़ार, (*viii*) संगठित बाज़ार और असंगठित बाज़ार, (*ix*) सुपर बाज़ार।

आधुनिक जटिल समाजों में बाज़ार

बाज़ार की जिन विशेषताओं एवं प्रकारों का उल्लेख किया गया है, वे आधुनिक जटिल और औद्योगिक समाजों में पाए जाने वाले बाज़ारों से ही संबंधित हैं। सरल और आदिम समाजों में बाज़ार के क्षेत्र आधुनिक समाजों की भाँति विस्तृत क्षेत्र तक फैले हुए नहीं होते वरन् एक स्थान विशेष तक ही सीमित होते हैं, वहाँ आधुनिक समाजों की तरह पत्र, टेलीफोन, सैंपल और ऐजेंट्स के माध्यम से व्यापार नहीं होते, वहाँ बाज़ार में आधुनिक बाज़ारों की तरह प्रतियोगिता का भी अभाव पाया जाता है, कीमतों में भी समानता नहीं होती और न ही बाज़ारों के नियंत्रण हेतु राज्य या सरकार के कोई विशिष्ट क़ानून ही होते हैं। जटिल समाजों के बाज़ार विशेषीकृत दूर क्षेत्रों तक फैले हुए, संगठित, सरकार के नियमों द्वारा नियंत्रित, समान कीमत वाले, अल्पकालीन और दीर्घकालीन, मिश्रित, विशिष्ट एवं नमूनों द्वारा सौदा तय करने आदि की विशेषताएँ लिए हुए होते हैं। जटिल समाजों के बाज़ारों में क्रेताओं एवं विक्रेताओं का एक समूह होता है, उनमें स्वतंत्र प्रतियोगिता होती है। सौदा की जाने वाली वस्तु बाज़ार में काफी मात्रा में उपलब्ध होती हैं। वस्तुएँ प्रमाणित किस्म की होती हैं, बाज़ार में सट्टे होते हैं, बाज़ार मध्यस्थों द्वारा होते हैं, एक समय में एक ही मूल्य पाया जाता है, संचार साधनों के कारण एक बाज़ार के मूल्यों

नोट

का दूसरे बाज़ार पर भी प्रभाव पड़ता है, बाज़ारों में विशेषीकरण पाया जाता है, ऐसे बाज़ारों में माँग व पूर्ति बराबर बनी रहती है तथा बाज़ार से संबंधित आँकड़े समय पर उपलब्ध हो जाते हैं।

आदिम एवं सरल समाजों में बाज़ार

व्यापार व विनिमय के लिए सरल व जनजातीय समाजों में निश्चित समय एवं स्थान पर बाज़ार भी लगते हैं। पश्चिमी केनिया की लुहया जनजाति के लोग अनाज, सब्जी, मुर्गियाँ व टोकरियाँ बेचते हैं। झील के किनारे बसने वाली लुओ जनजाति के लोग मछली, मवेशी और बर्तन बेचते हैं। इन बाज़ारों के संस्थापक और वंशज वहाँ आने वाले लोगों से चुँगी वसूल करते थे और बाज़ार में शांति रखने की जिम्मदारी लेते थे। घाना में चार छह दिन के बाद बाज़ार लगते थे। लोग दो बाज़ारों के बीच की अवधि से दिन की गणना करते थे। उत्तरी घाना की कोंकोंबा (Konkomba) जनजाति में बाज़ारों की संख्या बहुत अधिक है। इस जनजाति के कई छोटे-छोटे कुल हैं जो अलग-अलग स्थान पर रहते हैं। प्रत्येक कुल के पड़ोस में छह बाज़ार छह दिनों के लिए लगते हैं। प्रत्येक बाज़ार पर उस कुल का अधिकार होता है जिसकी जमीन पर वह लगता है। वही बाज़ार का देवता व मंदिर का पुजारी होता है। बाज़ार में पकड़े जाने वाले चोर को मंदिर में मुर्गा चढ़ाना होता है। इनका विश्वास है कि यदि चोर का पता न भी लगे तो उन्हें बाज़ार के चारों ओर पेड़ों पर लगी हुई मधुमक्खियाँ काट खाएँगी।

आदिम एवं सरल समाजों में बाज़ार केवल व्यापर का स्थान ही नहीं होता वरन् गपशप करने का स्थान भी होता है। न्यू ब्रिटेन की स्त्रियाँ बाज़ार में कंद बेचने ही नहीं अपने बचपन के साथियों से मिलने की आशा में भी आती हैं। नाइजीरिया की टिव (Tiv) जाति के प्रेमी बाज़ार में अपनी प्रेमिका से मिलते हैं और योजनाएँ बनाते हैं। अफ्रीकन बाज़ार में महत्त्वपूर्ण राजनीतिक कार्य भी होते हैं। मुखिया व न्यायाधीश वहाँ कोर्ट लगाते हैं और खरीदने व बेचने वालों के बीच होने वाले झगड़ों को निपटाते हैं बाज़ार के साथ-साथ धार्मिक क्रियाएँ भी की जाती हैं। ईबो (Ibo) एवं टिव (Tiv) लोगों के बाज़ार का नाम भी देवताओं के आधार पर होता है। यह कहना बड़ा कठिन है कि जब मुद्रा का प्रचलन नहीं था तो लोग वस्तुओं का सापेक्ष मूल्य कैसे तय करते थे। टी.एस. एप्सटीन का मत है कि सरल समाजों में बाज़ार में अधिकतर खाद्य सामग्रियाँ ही आती थीं जिनकी बिक्री न होने पर परिवार में ही काम में ले ली जाती थीं। अत: माल बेचने के लिए लोग विवश नहीं थे। आधुनिक अर्थों में आदिम समाजों में बाज़ार नहीं थे और न ही मुनाफे की प्रवृत्ति। इस प्रकार आदिम समाजों में बाज़ार आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, धार्मिक सभी क्रियाओं का केंद्र है।

जटिल समाजों में बाज़ार व्यवस्थित होते हैं। उनमें मुद्रा, उधार, ऋण, दलाल, बैंक आदि की व्यवस्था पाई जाती है और लेन-देन का हिसाब रखा जाता है तथा सरकार द्वारा बिक्री कर भी वसूल किया जाता है।

3.3 संपत्ति (Property)

प्राचीन काल से ही संपत्ति समाज की एक महत्त्वपूर्ण संस्था रही है। आदिम काल में संपत्ति का सामूहिक रूप प्रचलित था किंतु धीरे-धीरे उसका व्यक्तिगत रूप अस्तित्व में आया। सामान्यत: संपत्ति का अर्थ भौतिक वस्तु पर स्वामित्व से लिया जाता है किंतु वैज्ञानिक दृष्टि से संपत्ति का तात्पर्य भी भौतिक और अभौतिक वस्तु पर स्वामित्व एवं अधिकार से है जो कि मात्रा में सीमित होती है तथा जिसे समाज मान्य और मूल्यवान समझता है।

हाबहाउस के अनुसार, ''संपत्ति का अर्थ वस्तुओं पर मनुष्यों के नियंत्रण से है, ऐसे नियंत्रण से जो समाज द्वारा मान्यता प्राप्त होता है तथा उसे समाज मान्य और मूल्यवान समझता है।'' **डेविस** के अनुसार, ''संपत्ति वितरण व्यवस्था का एक स्थयी पक्ष है। इसमें वुछ सीमित वस्तुओं पर अन्य व्यक्तियों तथा समूहों की तुलना में कुछ व्यक्तियों या समूहों के अधिकार तथा कर्त्तव्यों का समावेश होता है।'' **मिचेल** (Mitchell) ने लिखा है, ''संपत्ति का अभिप्राय उन सभी भौतिक अथवा उन अन्य वस्तुओं से है जिन पर व्यक्तियों को अधिकार प्राप्त होता है। **गिन्सबर्ग** (Ginsberg) के अनुसार, ''संपत्ति की व्याख्या अधिकारों तथा कर्त्तव्यों की ऐसी समग्रता के रूप में की जा सकती है जो कुछ भौतिक वस्तुओं पर नियंत्रण के बारे में व्यक्तियों अथवा समूहों के पारस्परिक संबंधों को परिभाषित करती है।'' **जानसन** (Johnson) के अनुसार, ''किसी भी समाज में संपत्ति की संस्था दुर्लभ, मूल्यवान वस्तुओं में अधिकारों को सीमित करती है।''

नोट

उपर्युक्त परिभाषाओं से संपत्ति की निम्नलिखित विशेषताएँ प्रकट होती हैं–

(1) संपत्ति मूर्त एवं अमूर्त होती है। (2) संपत्ति हस्तांतरित की जा सकती है। (3) **संपत्ति सीमित होती है**–संपत्ति वही वस्तु हो सकती है जो सीमित मात्रा में उपलब्ध हो और जिस पर साधारणत: सभी अधिकार करना चाहते हों। धूप, पानी, हवा असीमित होने से किसी की संपत्ति नहीं है। (4) **संपत्ति का संबंध अधिकार एवं कर्त्तव्यों से होता है**–कोई वस्तु संपत्ति उसी समय बनती है जब उस पर किसी का स्वामित्व कायम हो जाता है। संपत्ति के साथ कुछ अधिकार, दावे, दायित्व एवं कर्त्तव्य भी जुड़े होते हैं। (5) **संपत्ति मूल्यवान होती है**–कोई भी वस्तु संपत्ति तभी कहलाएगी जब समाज उसे मूल्यवान समझे। (6) संपत्ति का विनिमय संभव है। (7) **संपत्ति का संबंध सामाजिक मूल्यों व आदर्शों से है**–किसी वस्तु को संपत्ति माना जाएगा या नहीं यह उस समाज के मूल्यों एवं सांस्कृतिक आदर्शों पर निर्भर है।

संपत्ति के प्रकार (Types of Property)

1. **व्यक्तिगत, सार्वजनिक एवं सामूहिक संपत्ति** (Private, Public and Collective Property)–
   प्रो. डेविस ने संपत्ति पर अधिकार की दृष्टि से उसे तीन भागों में बाँटा है–
   हाबहाउस ने संपत्ति के प्रमुख दो रूपों–व्यक्तिगत एवं सामूहिक का उल्लेख किया है।
2. **चल एवं अचल संपत्ति** (Movable and Immovable Property)–चल संपत्ति का अर्थ उस संपत्ति से है जिसे व्यक्ति या समूह अपने उपयोग के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जा सकता है। उदाहरण के लिए मोटर, फर्नीचर, पंखा, पेन, घड़ी, बर्तन, आभूषण आदि सभी चल संपत्ति हैं। अचल संपत्ति को एक स्थान से दूसरे स्थान पर नहीं ले जाया जा सकता है। भूमि, भवन, उद्यान आदि अचल संपत्ति हैं।
3. **दृश्य (भौतिक) एवं अदृश्य (अभौतिक) संपत्ति** (Tangible and Intangible Property)–दृश्य संपत्ति से तात्पर्य भौतिक संपत्ति या वस्तुओं से है जिन्हें देख सकते हैं, छू सकते हैं और माप-तौल सकते हैं। मकान, भूमि, कार, आभूषण, हीरे-जवाहरात आदि सभी दृश्य या भौतिक संपत्ति हैं। अभौतिक संपत्ति अदृश्य या अमूर्त होती है। उदाहरण के लिए गुडविल, कापीराइट, एकस्व अधिकार (Patent Right) आदि अदृश्य मान संपत्ति के उदाहरण हैं।

3.4 पूँजीवाद (पूँजीवादी अर्थव्यवस्था) Capitalism (Capitalistic Economy)

आधुनिक पूँजीवाद का जन्म यूरोप में 18वीं सदी में हुआ जब उद्योगों में मशीनों का प्रयोग होने लगा और मशीनों को चलाने के लिए मानव एवं पशु शक्ति के स्थान पर जड़-शक्ति का प्रयोग किया जाने लगा। पश्चिमी देशों एवं विश्व के कई अन्य देशों में पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का प्रचलन पाया जाता है। पूँजीवाद को पारिभाषित करते हुए **ऑगबर्न** एवं **निमकॉफ** लिखते हैं, ''पूँजीवादी से तात्पर्य उस व्यवस्था से है जिसमें पूँजी का अर्थ मुद्रा से लगाया जाता है किंतु जो वास्तव में उत्पादन के साधनों को पूँजी के रूप में अपने में सम्मिलित किए हुए होती है।''

पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की निम्नांकित विशेषताएँ हैं–

1. **बड़ी मात्रा में उत्पादन**–पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में बड़े-बड़े उद्योगों की स्थापना की जाती है। जिनमें विशाल मात्रा में तीव्र गति से उत्पादन होता है। बड़ी मात्रा में उत्पादन होने पर ही पूँजीपति को लाभ होता है।
2. **अधिकाधिक लाभ**–पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में अधिकाधिक लाभ प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाता है और उन्हीं वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है जो अधिक मुनाफा दें।
3. **एकाधिकार**–पूँजीवादी व्यवस्था में उद्योगों एवं उत्पादित माल पर कुछ मुट्ठी भर लोगों का एकाधिकार होता है। अत: वे वस्तुओं को मनमाने भाव पर बेचते हैं। इससे पूँजी का कुछ ही लोगों के हाथ में केंद्रीकरण हो जाता है।
4. **प्रतियोगिता**–खुली आर्थिक प्रतियोगिता पूँजीवाद की विशेषता है। इससे उत्पादन बढ़ता है, किंतु जब 'गला

नोट

काट प्रतियोगिता' होती है तो छोटे-छोटे उत्पादक बड़े उत्पादकों के समक्ष टिक नहीं सकते। उन्हें अपना उत्पादन बंद करना होता है। वे या तो बेकार हो जाते हैं या श्रमिकों के रूप में काम करने लगते हैं।

5. **शोषण**–पूँजीवाद अर्थव्यवस्था में पूँजीपति श्रमिकों को कम-से-कम देना चाहता है और स्वयं अधिकाधिक प्राप्त करना चाहता है। अत: वह श्रमिकों का शोषण करता है।
6. **व्यक्तिगत संपत्ति**–पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में व्यक्तिगत संपत्ति पर व्यक्ति का पूर्ण अधिकार होता है जिसका उपयोग वह मनमाने ढंग से करता है।
7. **बैंक**–पूँजीवादी व्यवस्था में मुद्रा की व्यवस्था एवं लेन-देन हेतु बैंक व्यवस्था पायी जाती है।
8. **द्रव्य एवं साख**–वस्तुओं के विनिमय के लिए पूँजीवाद में द्रव्य एवं साख की व्यवस्था की जाती है। मुद्रा धातु की एवं कागज की भी हो सकती है।
9. **श्रम-विभाजन**–फैक्ट्री प्रणाली से उत्पादन करने के लिए काम को कई छोटे-छोटे टुकड़ों में बाँट दिया जाता है, इससे श्रम-विभाजन एवं विशेषीकरण को प्रोत्साहन मिलता है।
10. **वर्ग-संघर्ष**–पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में हमें प्रमुख रूप से दो वर्ग–**पूँजीपति एवं श्रमिक वर्ग** दिखाई देते हैं। दोनों वर्ग अपने-अपने हितों की रक्षा के लिए संगठन बनाते एवं संघर्ष करते हैं। श्रमिक संगठनों द्वारा श्रमिक लोग तोड़-फोड़, हड़ताल, घेराव आदि के द्वारा अपनी वेतन वृद्धि, बोनस, काम के घंटे कम कराने एवं अन्य सुविधाएँ प्राप्त करने के लिए पूँजीपतियों से संघर्ष करते हैं।

इन विशेषताओं के अतिरिक्त पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में ठेका प्रणाली, स्वतंत्र समझौता, श्रम संघों का निर्माण, होल्डिंग कंपनियों एवं सहकारी समितियों द्वारा कार्य करना आदि पाया जाता है जिनका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं।

क्या आप जानते हैं समाजवाद का जन्म पूँजीवाद एवं व्यक्तिगत संपत्ति की बुराइयों के विरोध में हुआ।

3.5 समाजवाद (Socialism)

आधुनिक आर्थिक प्रणाली का एक अन्य प्रमुख प्रकार समाजवाद है। समाजवाद का जन्म पूँजीवाद एवं व्यक्तिगत संपत्ति की बुराइयों के विरोध में हुआ। यह श्रमिकों के संगठन पर ज़ोर देता है। समाजवादी व्यक्तिगत संपत्ति के विरोधी हैं और वे उत्पादन के साधनों एवं यातायात के साधनों पर राष्ट्र का स्वामित्व चाहते हैं। प्राचीन एवं मध्यकाल के विचारकों जैसे प्लेटो, सेंट साइमन, थामस मूर आदि की रचनाओं में भी समाजवाद के तत्व पाए जाते हैं, किंतु वर्तमान समय में समाजवाद पर वैज्ञानिक विचार प्रकट करने वालों में कार्ल मार्क्स प्रमुख हैं। विभिन्न विद्वानों ने समाजवाद को इस प्रकार से परिभाषित किया है–

ब्रेडले के अनुसार, ''समाजवाद वैयक्तिक निजी संपत्ति को अस्वीकार करता है और यह मानता है कि राज्य के रूप में संगठित समाज को संपूर्ण धन का स्वामी होना चाहिए तथा उसे समस्त श्रम का संचालन एवं समस्त उत्पत्ति का समान वितरण लागू करना चाहिए।''

सेलर्स (Sellers) के अनुसार, ''समाजवाद एक ऐसी जनतंत्रात्मक विचारधारा है जिसका उद्देश्य समाज में एक ऐसी आर्थिक व्यवस्था लाना है जो किसी भी समय व्यक्ति को अधिकतम संभव न्याय और स्वाधीनता प्रदान कर सके।''

रेम्जे मैकडानल्ड के अनुसार, ''साधारण रूप से समाजवाद की अच्छी परिभाषा यह है कि वह समाज की भौतिक एवं आर्थिक शक्तियों के संगठन तथा उन पर मानवीय शक्तियों के नियंत्रण की व्यवस्था है।''

जयप्रकाश नारायण के अनुसार, ''समाजवादी समाज एक वर्गहीन तथा मज़दूरों का समाज है। इसमें संपूर्ण संपत्ति राज्य की संपत्ति होती है और सबके लाभ के लिए होती है। इसमें मनुष्यों की आय में अधिक विषमता नहीं होती है। ऐसे समाज में मानव जीवन तथा उसकी प्रगति योजनाबद्ध रूप में होगी और सब लोग सबके हित

नोट

के लिए जीएंगे।''

उपर्युक्त परिभाषाओं से समाजवाद के कुल मूलभूत तत्वों का पता चलता है जिस पर सभी समाजवादी सहमत हैं। वे तत्व हैं–(*i*) वैयक्तिक संपत्ति का अंत, (*ii*) उत्पादन एवं वितरण के साधनों पर समाज का नियंत्रण, (*iii*) शोषण का अंत, (*iv*) वर्ग भेद की समाप्ति। इनके आधार पर समाजवाद की कुछ प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख किया जा सकता है।

3.5.1 समाजवाद की विशेषताएँ (Characteristics of Socialism)

1. समाजवाद में व्यक्ति एवं वैयक्तिक स्वार्थ की अपेक्षा समाज और सामूहिक हित को अधिक महत्त्व दिया जाता है।
2. समाजवादी उत्पादन एवं संचार के साधनों पर समाज अथवा राज्य का नियंत्रण चाहते हैं।
3. समाजवाद प्रतियोगिता एवं संघर्ष के स्थान पर सहयोग पर अधिक ज़ोर देता है। वह राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय सहयोग तथा श्रमिकों एवं पूँजीपतियों के पारस्परिक सहयोग पर ज़ोर देता है।
4. समाजवाद में शोषण की समाप्ति पर ज़ोर दिया जाता है।
5. समाजवाद व्यक्तिगत लाभ के स्थान पर सामूहिक लाभ पर ज़ोर देता है।
6. समाजवादी गरीब एवं अमीर के बीच खाई को पाटकर आर्थिक समानता लाना तथा विषमता कम करना चाहता है।
7. समाजवाद देश में धन का न्यायोचित वितरण चाहता है।

3.5.2 समाजवाद के प्रकार (Types of Socialism)

समाजवाद के आज अनेक रूप देखने को मिलते हैं। हर देश ने अपनी सुविधा के अनुसार उसमें परिवर्तन कर अपने ही ढंग से समाजवाद की व्याख्या की है। इसलिए ही **सी. एम. जोड** कहते है, समाजवाद एक ऐसे टोप के समान है जिसकी आकृति बिगड़ चुकी है क्योंकि हर व्यक्ति इसे पहनता है (Socialism is like a hat, which has lost its shape, because everybody wears it)। कुछ लोग कहते हैं, समाजवाद गिरगिट की तरह रंग बदलता है, तो कुछ का कहना है कि यह शेषनाग की भाँति कई मुँह वाला है। स्पष्ट है कि समाजवाद के आज अनेक रूप पाए जाते हैं, किंतु इनमें सहकारी समाजवाद, राज्य समाजवाद, मार्क्सवाद समाजवाद, स्वप्नलोकी समाजवाद, समष्टिवादी समाजवाद, प्रजातांत्रिक समाजवाद, साम्यवादी समाजवाद, श्रम संघवाद, फेबियनवाद, श्रेणी संघवादी समाजवाद आदि प्रमुख हैं। इनमें से कुछ का हम यहाँ संक्षेप में उल्लेख करेंगे–

1. **सहकारी समाजवाद** (Co-operative Socialism)–इस प्रकार के समाजवाद में मज़दूर अपनी सहकारी समितियाँ बनाकर उद्योगों का संचालन करते हैं। वे स्वयं उद्योग के मालिक भी होते हैं और मज़दूर भी। इस प्रकार का समाजवाद स्केण्डिनेविया में पाया जाता है।
2. **राज्य समाजवाद** (State Socialism)–इसमें राज्य को बुराई के रूप में नहीं मानकर उत्तम वितरण की व्यवस्था करने वाली संस्था माना जाता है। इसमें उत्पादन के साधनों का राष्ट्रीयकरण कर दिया जाता है, राज्य को एक कल्याणकारी संस्था माना जाता है, व्यक्ति को राज्य के एक अंग के रूप में स्वीकार किया जाता है। यह प्रजातंत्र में विश्वास करता है, स्वतंत्रता एवं समानता में विश्वास करता है और समाज का आधार वर्ग-संघर्ष नहीं वरन् वर्ग-सहयोग मानता है।
3. **फेबियनवाद** (Fabianism)–फेबियनवादी समाजवाद को धीरे-धीरे एवं प्रजातंत्रीय ढंग से लाने में विश्वास करते हैं। वे क्रांति एवं रक्तपात में विश्वास नहीं करते। फेबियनवाद का उद्देश्य भूमि और उद्योग में होने वाले मुनाफे का लाभ समस्त समाज को पहुँचाना है। इसके लिए फेबियनवादी कई उपाय अपनाने का सुझाव देते हैं, जैसे–(*i*) काम के घंटे, बेकारी, बीमारी, न्यूनतम मज़दूरी, सफाई व सुरक्षा से संबंधित क़ानून बनाना; (*ii*) सार्वजनिक वस्तुओं पर सरकार का नियंत्रण स्थापित करना; (*iii*) उत्तराधिकार में प्राप्त होने वाली संपत्ति पर कर लगाना, आदि।

नोट

4. **प्रजातांत्रिक समाजवाद** (Democratic Socialism)–इसे विकासवादी समाजवाद भी कहा जाता है। भारत में इसी पद्धति को अपनाया गया है। यह पूँजीवाद के स्थान पर समाजवाद की स्थापना के लिए बल और हिंसा के प्रयोग को अनुचित मानता है। यह इनके स्थान पर शांतिपूर्ण एवं संवैधानिक तरीकों को अपनाने पर बल देता है।
5. **श्रम-संघवाद** (Syndicalism)–श्रम-संघवाद को परिभाषित करते हुए ह्यूवर लिखते हैं, ''वर्तमान युग में श्रम-संघवाद से अभिप्राय उन क्रांतिकारियों के सिद्धांतों और कार्यक्रमों से है जो पूँजीवाद को नष्ट करने तथा समाजवादी समाज की स्थापना करने के लिए औद्योगिक संघों की आर्थिक शक्ति का प्रयोग करना चाहते हैं।'' श्रम-संघवादी राज्य के विरुद्ध हैं क्योंकि वे राज्य को पूँजीपतियों का मित्र एवं श्रमिकों का विरोधी मानते हैं। ये लोग संघर्ष एवं क्रांति में विश्वास करते हैं और प्रजातंत्र के विरोधी हैं। ये राज्य समाजवाद के पक्ष में नहीं हैं।
6. **श्रेणी समाजवाद** (Guild Socialism)–श्रेणी समाजवादी पूँजीवाद के विरुद्ध हैं। ये समूह तथा व्यक्ति की स्वतंत्रता के महत्त्व पर ज़ोर देते हैं तथा उद्योगों में स्वशासन चाहते हैं। ये उत्पादन का प्रबंध और नियंत्रण राज्य द्वारा नहीं चाहते। ये स्थानीय स्तर पर कम्यून स्थापित करना चाहते हैं जिनमें उत्पादकों एवं उपभोक्ताओं का प्रतिनिधित्व हो।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें।

1. पूँजीवादी व्यवस्था में मुद्रा की व्यवस्था एवं लेन-देन हेतु .....व्यवस्था पाई जाती है ।
2. वस्तुओं के विनिमय के लिए पूँजीवाद में ..... की व्यवस्था पाई जाती हैं ।
3. समाजवाद में व्यक्तिगत हित की अपेक्षा ..... को अधिक महत्त्व दिया जाता है ।

3.6 साम्यवाद (Communism)

साम्यवाद को कई मार्क्सवादी समाजवाद भी कहते हैं। समाजवाद तथा साम्यवाद ये दोनों ही विचारधाराएँ मानव मात्र की समानता, विशेषत: आर्थिक समानता के विचार पर आधारित हैं और इसलिए प्राय: कई व्यक्ति इन्हें एक ही समझने की भूल कर लेते हैं। यथार्थ में इनके उद्देश्य, साधन, कार्यक्षेत्र तथा पद्धति में बहुत अधिक अंतर है। स्वयं **मार्क्स** कहते हैं, ''समाजवाद साम्यवाद की प्रथम सीढ़ी है। यह उसकी मंजिल के आधे रास्ते पर है तथा साम्यवाद अपने उद्देश्यों में समाजवाद से कहीं अधिक उग्र तथा आगे है।'' वास्तव में समाजवाद के विभिन्न रूपों में साम्यवाद उसका एक प्रमुख रूप है। यद्यपि साम्यवाद के जन्मदाता कार्ल मार्क्स थे, किंतु विभिन्न देशों में इसके स्वरूपों में भेद पाया जाता है। रूस में लेनिन, स्टालिन एवं ख्रुश्चेव ने तथा चीन में माओत्से-तुंग ने अपने-अपने ढंग से साम्यवाद की व्याख्या की। स्थानीय भिन्नता के बावजूद भी कुछ विशेषताएँ ऐसी हैं जो सभी साम्यवादी स्वीकार करते हैं, जैसे सभी साम्यवादी सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक समानता पर बल देते हैं। साम्यवाद समाज की वह व्यवस्था है, जहाँ पर राज्य और वर्गों की अनुपस्थिति हो तथा उत्पादन के समस्त साधनों पर समाज का नियंत्रण हो। साम्यवाद को एक ऐसी आर्थिक व्यवस्था भी कहा जा सकता है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को न्यूनतम आवश्यकता की वस्तुएँ प्राप्त होंगी तथा प्रत्येक व्यक्ति को उसके कार्य और योग्यतानुसार पारिश्रमिक मिलेगा। 'साम्यवादी घोषणा-पत्र' में कहा गया है, ''साम्यवाद अपने शाब्दिक अर्थ में क्रांतिकारी प्रणाली का सिद्धांत है। वह उन सिद्धांतों का प्रतिपादन करता है जिनके आधार पर पूँजीवाद को साम्यवाद में बदला जा सकता है।'' इसके दो आवश्यक सिद्धांत हैं–वर्ग-संघर्ष तथा सर्वहारा वर्ग द्वारा क्रांति, जिसका अर्थ है हिंसात्मक ढंग से सत्ता प्राप्ति।

साम्यवाद उत्पादन, वितरण तथा उपभोग इन तीनों से संबंधित साधनों पर समान स्वामित्व की माँग करता है। साम्यवाद चाहता है कि लोग मिल-जुलकर सहकारी ढंग से उत्पादन करें और सामूहिक रूप से ही उसका उपभोग करें। साम्यवाद हिंसात्मक साधनों द्वारा तत्काल पूँजीवादी व्यवस्था का अंत कर देना चाहता है। साम्यवाद राज्य को शोषण का एक ऐसा यंत्र मानता है जिसकी सहायता से पूँजीपति वर्ग मज़दूर वर्ग का शोषण करता है। अत:

नोट

यह राज्य का अंत कर देने के पक्ष में है। वे मानते हैं कि साम्यवाद की स्थापना होने पर राज्य अपने आप विलुप्त हो जाएगा। साम्यवाद धर्म-विरोधी विचारधारा भी है। यह धर्म को जनता के लिए अफीम मानता है। यह प्रजातंत्र के भी विरुद्ध है तथा मज़दूर वर्ग की तानाशाही का समर्थक है। साम्यवाद यह मानता है कि पूँजीपति व श्रमिकों में युद्ध अवश्यम्भावी है जिसका स्वाभाविक परिणाम साम्यवाद की स्थापना है। साम्यवादी समाज एक पूर्ण स्वतंत्र समाज होगा तथा उसमें व्यक्ति पर किसी बाहरी बंधन या नियंत्रण की आवश्यकता नहीं होगी। ऐसी स्थिति में शक्ति के प्रतीक–राज्य की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी और वह स्वयं ही समाप्त हो जाएगा, किंतु संक्रांति काल में राज्य की आवश्यकता होगी। इस प्रकार साम्यवाद श्रम की अनिवार्यता, उत्पादन के साधनों पर राज्य के स्वामित्व, उन्नति के अवसरों की समानता, व्यक्ति की अपेक्षा राज्य को महत्त्व एवं नियोजन, आदि पर ज़ोर देता है।

नोट्स समाजवाद तथा साम्यवाद उपरी सतह पर एक होते हुए भी इनमें मूलभूत अंतर है। समाजवाद जहाँ वर्गहीन समाज को महत्त्व देता है वहीं साम्यवाद पूँजीवाद के विरोध में सर्वहारा क्रांति हेतु एक स्तर पर हिंसा के प्रयोग को भी प्रश्रय देता है।

3.7 पूँजीवाद एवं साम्यवाद में अंतर (Distinction Between Capitalism and Communism)

पूँजीवाद और साम्यवाद दोनों एक-दूसरे के विपरीत हैं। इनमें निम्नांकित अंतर पाए जाते हैं–

1. पूँजीवाद व्यक्तिगत संपत्ति में विश्वास करता है जबकि साम्यवाद सामाजिक या राज्य की संपत्ति में।
2. पूँजीवाद में उत्पादन एवं वितरण के साधनों पर व्यक्ति का अधिकार होता है जबकि साम्यवाद में राज्य का।
3. पूँजीवाद में संपत्ति का हस्तांतरण पिता से पुत्र को होता है जबकि साम्यवाद में नहीं।
4. पूँजीवाद में उत्पादन में संपत्ति एवं धन को अधिक महत्त्व दिया जाता है जबकि साम्यवाद में श्रम को।
5. पूँजीवाद 'खुली प्रतियोगिता' को प्रोत्साहन देता है जबकि साम्यवाद में प्रतियोगिता के स्थान पर सहयोग को अधिक महत्त्व दिया जाता है।
6. पूँजीवाद वर्ग-संघर्ष को जन्म देता है जबकि साम्यवाद वर्ग-सहयोग को।
7. पूँजीवाद में अधिकाधिक लाभ कमाना ही उत्पादकों का उद्देश्य होता है जबकि साम्यवाद में उत्पादन का उद्देश्य सामाजिक कल्याण होता है।
8. पूँजीवाद बड़ी मात्रा में उत्पादन पर ज़ोर देता है जबकि साम्यवाद आवश्यकतानुसार उत्पादन पर।
9. पूँजीवाद व्यक्ति की आर्थिक एवं राजनीतिक स्वतंत्रता का पक्षधर है जबकि साम्यवाद व्यक्ति की सभी प्रकार की स्वतंत्रताओं पर राज्य का अंकुश चाहता है।
10. पूँजीवाद में आय के समान वितरण की व्यवस्था नहीं की जाती। अत: आर्थिक विषमता पनपती है जबकि साम्यवाद में आय के समान वितरण के कारण आर्थिक विषमता नहीं पनप पाती।
11. पूँजीवाद में व्यक्ति का आर्थिक शोषण होता है, किंतु साम्यवाद में नहीं।
12. पूँजीवाद में वस्तु की कीमत माँग तथा पूर्ति के आधार पर तय होती है जबकि साम्यवाद में राज्य के द्वारा।
13. पूँजीवादी व्यवस्था हर प्रकार से व्यक्तिवादी है जबकि साम्यवादी व्यवस्था समष्टिवादी।

3.8 सारांश (Summary)

- आधुनिक पूँजीवाद का जन्म यूरोप में 18वीं सदी में हुआ जब उद्योगों में मशीनों का प्रयोग होने लगा और मशीनों को चलाने के लिए मानव एवं पशु शक्ति के स्थान पर जड़-शक्ति का प्रयोग किया जाने लगा।

नोट

- पूँजीवाद को पारिभाषित करते हुए **ऑगबर्न** एवं **निमकॉफ** लिखते हैं, ''पूँजीवादी से तात्पर्य उस व्यवस्था से है जिसमें पूँजी का अर्थ मुद्रा से लगाया जाता है किंतु जो वास्तव में उत्पादन के साधनों को पूँजी के रूप में अपने में सम्मिलित किए हुए होती है।''
- आधुनिक आर्थिक प्रणाली का एक अन्य प्रमुख प्रकार समाजवाद है। समाजवाद का जन्म पूँजीवाद एवं व्यक्तिगत संपत्ति की बुराइयों के विरोध में हुआ।
- समाजवाद में व्यक्ति एवं वैयक्तिक स्वार्थ की अपेक्षा समाज और सामूहिक हित को अधिक महत्त्व दिया जाता है।
- हर देश ने अपनी सुविधा के अनुसार उसमें परिवर्तन कर अपने ही ढंग से समाजवाद की व्याख्या की है। इसलिए ही **सी. एम. जोड** कहते है, समाजवाद एक ऐसे टोप के समान है जिसकी आकृति बिगड़ चुकी है क्योंकि हर व्यक्ति इसे पहनता है।
- समाजवाद तथा साम्यवाद ये दोनों ही विचारधाराएँ मानव मात्र की समानता, विशेषत: आर्थिक समानता के विचार पर आधारित हैं और इसलिए प्राय: कई व्यक्ति इन्हें एक ही समझने की भूल कर लेते हैं। यथार्थ में इनके उद्देश्य, साधन, कार्यक्षेत्र तथा पद्धति में बहुत अधिक अंतर है। स्वयं **मार्क्स** कहते हैं, ''समाजवाद साम्यवाद की प्रथम सीढ़ी है। यह उसकी मंजिल के आधे रास्ते पर है तथा साम्यवाद अपने उद्देश्यों में समाजवाद से कहीं अधिक उग्र तथा आगे है।''
- पूँजीवाद और साम्यवाद दोनों एक-दूसरे के विपरीत हैं।
- आधुनिक आर्थिक व्यवस्था ने समाज के सभी पक्षों को प्रभावित किया है।

3.9 शब्दकोश (Keywords)

1. **साम्यवाद**–रूसी विचारक कार्ल-मार्क्स ने पूँजीवाद के विरोध में सर्वहारा अर्थात् गरीब मज़दूर वर्ग को महत्त्व देते हुए, समानता के अधिकार को विशेष ढंग से व्याख्यायित किया।
2. **श्रम विभाजन**–मानव की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किए जाने वाले उत्पादन के श्रम को श्रम-विभाजन कहते हैं।
3. **औद्योगिक-पूर्व**–औद्योगीकरण से पहले का कृषक समाज।

3.10 अभ्यास-प्रश्न (Review Question)

1. पूँजीवादी अर्थव्यवस्था से आप क्या समझते हैं?
2. समाजवाद एवं साम्यवाद की व्याख्या करते हुए दोनों में अंतर स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer : Self Assessment)

1. बैंक
2. द्रव्य एवं साख
3. सामूहिक हित

3.11 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. इंडियन सोसाइटी : इंस्टीट्यूशंस एंड चेंज–*शर्मा, राजेंद्र के. 2004.*
2. फंडामेंटल्स ऑफ़ सोश्योलॉजी–*गिसबर्ट, पास्कल 2006, ओरिएंट लॉंगमैन।*
3. डायनमिक्स ऑफ सोशल इंस्टीट्यूशंस–*अज़हर शेख़, सब्लाइम पब्लिकेशंस, 2008.*

नोट

इकाई–4 : जजमानी व्यवस्था (Jajmani System)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

4.1 आदिम अर्थव्यवस्था की विशेषताएँ (Characteristics of Primitive Economy)

4.1.1 झूम खेती (Shifting Cultivation)

4.1.2 विनिमय प्रणाली (Exchange System)

4.2 जजमानी व्यवस्था (The Jajmani System)

4.3 जजमानी संबंधों में जबर्दस्ती व सर्वसम्मति (Force and Concensus in Jajmani Relations)

4.4 यजमानी संबंध (Jajmani Relations)

4.5 प्रकार्य एवं भूमिकाएँ (Functions and Roles)

4.6 प्रतिमान एवं मूल्य (Norms and Values)

4.7 यजमानी व्यवस्था : एक शोषणीय व्यवस्था (Jajmani System : An Exploitative System)

4.8 यजमानी प्रथा में परिवर्तन (Changes in Jajmani System)

4.9 जजमानी व्यवस्था का पतन (Decline of Jajmani System)

4.10 सारांश (Summary)

4.11 शब्दकोश (Keywords)

4.12 अभ्यास-प्रश्न (Review Question)

4.13 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- आदिम अर्थव्यवस्था को समझने में।
- जजमानी व्यवस्था के स्वरूप को समझने में।
- जजमानी व्यवस्था के कार्य एवं भूमिका को समझने में।
- जजमानी व्यवस्था के प्रतिमान एवं मूल्यों को समझने में।
- जजमानी व्यवस्था के शोषित रूप को समझने में।
- जजमानी व्यवस्था में परिवर्तन एवं उसके ह्रास के कारणों को समझने में।

प्रस्तावना (Introduction)

आर्थिक गतिविधियाँ इतिहास में हमेशा मानवजाति की प्रमुख गतिविधियाँ रही हैं। आज के तकनीकी विकास वाले युग में भी हम अपने काम के अधिकांश घंटे आर्थिक कार्यों को करने में लगाते हैं। आर्थिक संस्थाओं के बारे

नोट

में समाजशास्त्रियों की चिंता इस तथ्य से उपजती है कि आर्थिक और सामाजिक जीवन के अन्य पक्ष एक दूसरे के साथ घनिष्ठता से जुड़े हुए हैं। इस प्रकार समाजशात्र आर्थिक संस्थाओं का अध्ययन करता है क्योंकि यह समाज का हिस्सा है।

हमारा आज का जटिल आर्थिक संगठन प्राचीन समय में भोजन इकट्ठा करने और शिकार करने की संस्कृति से प्रारंभ हुआ। पुरुष और स्त्री के बीच बहुत ही साधारण श्रम-विभाजन था। औरत के बजाय पुरुष प्राय: शिकारी होते थे। महिलाएँ फल, कंद-मूल आदि संग्रह करती थीं। परिवार ही प्राय: उत्पादन और उपभोग की इकाई था। पत्नी पति द्वारा लायी गयी वस्तु से घर में भोजन बनाती थी। कभी कभी औरतें भी खाद्य पदार्थ लाती थीं। समुदाय के प्राय: सभी सदस्य समय-समय पर शिकार करते थे जैसा कि बड़े जानवरों यानी भैंसा, वालरस (एक स्तनपायी जानवर जिसके दांत हाथी जैसे होते हैं और जो जल और स्थल दोनों में रहता है) आदि के शिकार के दौरान देखा जाता था। इस प्रकार के मामलों में पूरा समुदाय ही उपभोक्ता इकाई हो जाता था। ये शिकारी समुदाय आर्थिक रूप से स्वावलंबी थे। इसीलिए व्यापार का कोई अस्तित्व नहीं था। इसके साथ ही विनिमय में बहुत सी गंभीर व्यावहारिक समस्याएँ थीं। उदाहरण के लिए आदिम बस्तियाँ एक दूसरे से बहुत दूर थीं और आवागमन के साधन अविकसित थे। इस हालत में निवासियों के बीच विनिमय संभव नहीं था। व्यापार के मार्ग में दूसरी बाधा विनिमय के किसी सामान्य माध्यम का अभाव था। कभी-कभी पड़ोसी जनजातीय बस्तियों के निवासियों के बीच लेनदेन होता था। पर किसी खास बस्ती के भीतर विनिमय अतिथि-सत्कार या उपहार देकर किया जाता था। सेवाएँ बिना किसी भुगतान के प्रदान की जाती थीं परंतु वे इस आशा से प्रदान की जाती थीं कि आगे आतिथ्य भी पूर्णत: एक पक्षीय नहीं था। इसमें भी परस्परिकता व प्रतिदान के भाव निहित थे। सेवाएँ और उपहार उस समय वही काम करते थे जो आज मुद्रा कर रही है। ओगबर्न और निमकॉफ के शब्दों में ''उपहार मुद्राविहीन संस्कृतियों में धन का सामाजिक स्थानापन्न है।''

इन शिकारी कबीलों में निजी स्वामित्व और सार्वजनिक उपभोग दोनों बातें प्रचलित थीं। सभी व्यक्तिगत चीजें जैसे कपड़े, बर्तन आदि और रहने की झोपड़ियों भी निजी रूप से इस्तेमाल में लायी जाती थीं, जबकि जमीन सामूहिक रूप से इस्तेमाल की जाती थी। इसके कारण बहुत स्पष्ट हैं। चूँकि जानवर एक जगह से दूसरी जगह जाते रहते थे, जमीन का निजी इस्तेमाल संभव नहीं था। एक जनजाति अपने प्रभाव की वृद्धि जंगल के किसी खास क्षेत्र में करती थी। धीरे-धीरे शिकार के द्वारा भोजन से जीवन-यापन की व्यवस्था खेती में बदल गई और इसके साथ ही बहुत सारे परिवर्तन हुए। सर्वप्रथम जमीन को प्लॉटों में बाँटा गया और उन्हें विभिन्न परिवारों को इस्तेमाल के लिए दिया गया। दूसरे शब्दों में जमीन का निजी स्वामित्व प्रारंभ हुआ। दूसरे, भोजन की आपूर्ति ज्यादा निश्चित और प्रचुर हो गई और समुदाय में स्थायित्व के तत्व का प्रादुर्भाव हुआ। तीसरे, स्थायित्व के साथ विभिन्न क्षेत्रों में जैसे कपड़े की बुनाई, ऊन की बुनाई, बर्तन और इसी प्रकार के अन्य शिल्पों में विशेषीकरण हुआ और कुशलता में विकास हुआ। विशेषीकरण ने व्यापार को जन्म दिया और भुगतान के बदले दूसरे प्रकार के विनिमय शुरू हुए। खेती के कारण सामाजिक संस्थाओं का विकास हुआ जो समाजशास्त्रीय दृष्टि से काफी महत्वपूर्ण था। भूमि का निजी स्वामित्व कृषक समुदाय के लिए नियम बन गया। इसका मतलब था निजी परिवार का स्वामित्व। समय गुजरने के साथ भूमि धन से पहचानी जाने लगी।

4.1 आदिम अर्थव्यवस्था की विशेषताएँ (Characteristics of Primitive Economy)

आर्थिक संगठनों के चरणबद्ध विकास के संदर्भ में हम आदिम अर्थव्यवस्थाओं की कुछ खास विशेषताओं को इंगित कर सकते हैं।

(*i*) झूम खेती (Shifting Cultivation)

आदिम आर्थिक संगठन जीवन-निर्वाह प्रकार (सब्सिस्टेंस टाइप्स) के थे। मतलब वे उत्पादन और उपभोग वाली अर्थव्यवस्थाओं की श्रेणी में आते थे। इसका एक प्रमुख कारण प्राकृतिक साधनों के दोहन करने के प्रयत्न में तकनीकी सहायकों का अभाव था जैसाकि झूम खेती से स्पष्ट होता है। झूम खेती का मतलब यह है कि जमीन का एक ही टुकड़ा कृषि कार्य के लिए लंबे समय तक इस्तेमाल नहीं होगा और कृषक एक प्लॉट से दूसरे प्लॉट

नोट

पर जायेंगी। ऐसा करने के कारण अंसगत नहीं हैं। खेती में घटती ऊपज को खाद देकर फिर से बढ़ाया जा सकता है। आदिम समाज के लोग खेतों की उर्वरा शक्ति को विभिन्न प्रकार के खादों के इस्तेमाल से बढ़ाने की कला नहीं जानते थे। इसलिए झूम खेती ही उनके पास एक मात्र विकल्प बचा हुआ था। यह इस कारण से ही संभव हुआ कि आदिम समाज के लोगों ने भूमि पर जनसंख्या के दबाव की समस्या का अनुभव नहीं किया था। इसलिए वे लोग आसानी से परती जमीन (Virginland) का अन्वेषण और शोषण कर सके। वास्तव में इस प्रकार की खेती बेकार, कौशलरहित और आर्थिक दृष्टि से आरामदायक है।

क्या आप जानते हैं झूम खेती का प्रचलन आदिम समाज में था। आधुनिक युग में नई तकनीक के माध्यम से खेती की जाती है तथा खेतों की उर्वरा शक्ति के लिए खाद का इस्तेमाल किया जाता है।

(*ii*) विनिमय प्रणाली (Exchange System)

मूल्य के संचयन और मापन तथा विनिमय के माध्यम के रूप में मुद्रा की अनुपस्थिति के कारण आर्थिक लेनदेन हमेशा विनिमय पर आधारित होता था। आदिम समाज में बहुत प्रकार के विनिमय होते थे। इनमें से कुछ निम्नलिखित हैं–

वस्तु विनिमय (बार्टर)–यह विनिमय का सीधा रूप है। यदि इसे नियमों से न बाँधा जाय तो इसमें सौदेबाजी तथा मोलतोल होता है। वस्तु विनिमय प्रणाली एक विनिमय है जिसके तीन रूप हैं–(क) सेवा के बदले सेवा (ख) सेवा के बदले बस्तु और (ग) वस्तु के बदले वस्तु। वस्तु विनिमय प्रणाली में रुपये का कोई स्थान नहीं है।

मूक व्यापार/विनिमय–यह एक अन्य प्रकार का विनिमय है, जिसे मूक व्यापार या मूक विनिमय प्रणाली कहते हैं। इस प्रकार के समाज में जहाँ वस्तुएँ व्यापार के लिए रख दी जाती हैं और संबद्ध व्यक्ति अनुपस्थित रहता है, वस्तुएँ अगर असमान मूल्य की होती हैं तो इन्हें नहीं खरीदा जाता। वे लोग जो इसे रखते हैं समस्या समझ जाते हैं और मोलभाव करने के लिए कोई और (वस्तु) रख देते हैं। इस प्रकार के व्यवहार का मूक व्यापार या मूक विनिमय कहते हैं। हस्कोविट्स के अनुसार–''साइबेरिया के चुकची व अलास्का के निवासियों के बीच आज भी मूक व्यापार के साधन प्रचलित हैं या बहुत हाल तक प्रचलित रहे हैं।''

4.2 जजमानी व्यवस्था (The Jajmani System)

जजमानी व्यवस्था एक अन्य प्रकार की विनिमय प्रणाली है। जजमानी व्यवस्था की विचित्रता इस बात में निहित है कि वस्तु के बदले सेवा का विनिमय विलंबित ढंग से होता है। 'जजमानी' वैदिक शब्द है जिसका इस्तेमाल उस संरक्षक के लिए होता है जो समुदाय के लिए कोई यज्ञ संपन्न कराने के निमित्त से किसी ब्राह्मण को नियुक्त करता है। अपने मूल अर्थ में जजमानी आर्थिक संबंध का मतलब सेवाओं के बदले उपहारों का विनिमय था या भविष्य में हो सकता था। यह अर्थ आज भी नहीं बदला है। परंतु इसकी परिसीमा समय के साथ बदल गई है। संरक्षण वाले सभी संबंधों को अब यह अपने साथ सन्निहित कर चुका है। न केवल पारिवारिक पुरोहित को बल्कि गाँव के सभी विशेषज्ञों को संरक्षण देना परिवार के लिए विशेषाधिकार और जिम्मेदारी समझी जाती थी। इस व्यवस्था में चमार, धोबी, नाई, कुम्हार, लुहार आदि सभी की सेवाओं को सुनिश्चित किया जाता था। संरक्षक उन लोगों के जीवन-यापन के लिए भोजन भी सुनिश्चित करते थे जो उनकी सेवा करते थे। जो विशेषज्ञ सेवाएँ प्रदान करते थे उन्हें उनकी सेवाओं के मूल्य के बराबर जमीन की उपज यानी अनाज का एक निश्चित भाग और कपड़े और कभी-कभी आर्थिक महत्त्व की कोई चीज प्रदान की जाती थी। लैन्वाय के अनुसार–''मूलत: धार्मिक प्रकृति वाली यह व्यवस्था नाटकीय तब हो जाती है जब सेवाओं के बदले पारिवारिक रीति-रिवाज, त्यौहार और सबसे बढ़कर शादी के अवसर पर उपहार दिए जाते हैं।''

नोट

जजमानी का संबंध जाति के बजाय परिवार से होता है। इस प्रकार एक किसान परिवार खेती के धात्विक उपकरण किसी खास लुहार परिवार से पाता है और उसके बदले में वह फसल के समय किसान से अनाज का एक भाग हासिल करता है।

जजमानी-संबंध टिकाऊ, विशिष्ट और बहुआयामी माने जाते हैं और अक्सर हैं भी। ये संबंध इस अर्थ में टिकाऊ हैं कि इन्हें दोनों पक्ष उत्तराधिकार में पाते हैं। इस प्रकार एक लुहार उसी कृषक परिवार की सेवा करता है जिसकी सेवा उसके पिता और दादा ने की थी। इसी प्रकार एक कृषक उसी लुहार से खेती के औजार लेगा जिसके पिता और दादा से उसके पिता और दादा ने लिया होगा। अगर परिवार का कोई सदस्य संतानहीन होकर मर जाता है तो उसके वंश का कोई दूसरा उसका स्थान ले सकता है। इसी प्रकार अगर किसी लुहार के अपने जजमान के द्वारा भरण-पोषण कर सकने से ज्यादा बेटे हैं तो उसके बेटे अन्य स्थानों पर जहाँ पर लुहारों की कमी हो, काम खोजेंगे। कुछ दूसरे कार्यों मे भी लग सकते हैं; जैसे प्राय: खेती में क्योंकि खेत में परंपरागत रूप से किसी भी जाति का व्यक्ति काम कर सकता है।

जजमानी संबंध विशिष्ट होता है क्योंकि किसान परिवार किसी खास लुहार के परिवार के पास ही काम करवाएगा। इसके विपरीत लुहारों को अपने परिवारों के लिए ही औजार बनाने चाहिए। वे लोग बाज़ार में बेचने के लिए कुछ औजार बनाने को स्वतंत्र हैं। परंतु उन्हें दूसरे लुहारों के जजमानों को लुभाने की अनुमति नहीं है।

जजमानी संबंध इस अर्थ में बहुआयामी है कि इसका दायरा आर्थिक तौर पर व्यापक है। दरअसल आर्थिक विनिमय जजमानी संबंधों का केवल एक पक्ष है। इसलिए कृषकों का कोई भी परिवार विशेष उत्सवों पर अधिकांश तमाम सहयोगियों से सहायता चाहता है। पारिवारिक आपातकाल के दौरान आपसी झगड़ों में भी पारस्परिक व्यक्तिगत सहयोग की आशा की जाती है। कभी-कभी विशेषज्ञ परिवारों पर इसलिए दबाव डाला जाता है कि अगर पूरी जाति लड़ रही हो तो वे अपने संरक्षक की जाति की सहायता करे।

डॉ. डी. एन. मजूमदार के शब्दों में–''इस प्रकार की पारस्परिक सेवाएँ अक्सर औपचारिक रूप से तय की जाती थीं। जीवन-चक्र से जुड़े अनुष्ठानों आदि के संदर्भ में खासकर यही बात देखने में आती थी। उन्होनें लखनऊ जिले के एक गाँव में होनेवाली एक शादी का उल्लेख किया है जिसमें दबंग जमींदार ठाकुरों के परिवार ने उस गाँव की चौदह में से दस जातियों के प्रतिनिधियों को आमंत्रित किया था मैंडेल बाउम ने इस सन्दर्भ में एक दिलचस्प उदाहरण दिया है–''नाई जाति के सहयोगी परिवारों द्वारा उत्सव के लिए एक प्रमुख भूमिका अदा की जाती है। नाई की पत्नी घर की साफ-सफाई करती है, सजाती है। वह दुल्हन का सिर चम्पी करती है और उसे नहलाती, धुलाती है। वह विवाह गीतों को साथ-साथ गाती है और उसी मोहक अंदाज में बारातियों से मिलती है। स्वयं नाई शादी-समारोह में उनके साथ होता है और शादी के लिए जो कुछ कार्य आवश्यक होता है, करता है। वह सारे विधानों में साथ रहता है, पुरोहित की मदद करता है और दुल्हे की कमीज के खूंटे को दुल्हन की साड़ी के पल्लू से बांधता है। विधानों के दौरान यदि नाई और उसकी पत्नी कोई विशेष कार्य करते है। तो उन्हें पैसे दिये जाते हैं। ये उदाहरण साफ जाहिर करते हैं कि जजमानी संबंधों के दायरे में आर्थिक विनिमय से अधिक बातें शामिल हैं।

यजमानी प्रथा परम्परागत पेशेवर कर्त्तव्यों की एक व्यवस्था है। पुरातन भारत में जातियाँ एक दूसरे पर आर्थिक दृष्टि से निर्भर होती थीं। ग्रामीण व्यक्ति के परम्परागत विशिष्ट धंधे के साथ उसकी जाति का प्रदत्त विशिष्टीकरण भी होता था। पेशे के विशिष्टीकरण के कारण ग्रामीण समाज में सेवाओं का आदान-प्रदान चलता था। सेवक (servicing) और सेवित (served) जातियों के बीच के संबंध संविदा पर आधारित व्यक्तिगत, गैर व्यक्तिगत, अस्थाई या सीमित नहीं होते थे बल्कि जाति उन्मुखी (caste-oriented), दीर्घकालीन व विस्तृत रूप से समर्थन प्रदान करने वाले होते थे। भूस्वामी एवं भूमिहीन परिवारों के बीच, जो आपस में सेवाओं और वस्तुओं की पूर्ति करते हैं, संबंध दीर्घकालिक होते हैं, जिन्हें यजमानी प्रथा कहा जाता है।

हैरॉल्ड गाउल्ड (Harold Gould, 1987 : 138-39) ये यजमानी प्रथा को संरक्षकों (patrons) एवं सेवादारों (suppliers of servies) के बीच अन्तर्पारिवारिक (interfamilial) अन्तर्जातीय संबंध कहा है जो आधीनस्थ (superordinate) एवं आधीनकर्ता (subordinate) के बीच होते हैं। संरक्षक लोग स्वच्छ (clean) जाति के होते हैं जबकि सेवादार अस्वच्छ एवं निम्न जाति के। यह कहा जा सकता है कि यजमानी

नोट

प्रथा वितरण (distribution) की व्यवस्था है जिसमें उच्च जाति के भूस्वामी परिवारों को विभिन्न निम्न जातियों, जैसे बढ़ई (खाती), नाई, कुम्हार, लोहार, धोबी, भंगी (चुहरा), आदि के द्वारा सेवाएँ या उत्पाद उपलब्ध कराए जाते हैं। सेवादार जातियों को 'कमीन' कहा जाता है जबकि सेव्यों (castes served) को 'यजमान' कहा जाता है। प्रदत्त सेवाओं के बदले सेवादारों को नकद या वस्तु के रूप में (अनाज, चारा, कपड़े, दूध आदि) भुगतान किया जाता है।

योगेन्द्र सिंह (1973 :186) ने यजमानी व्यवस्था को एक ऐसी व्यवस्था कहा है जो गाँवों में आधारित अन्तर्जातीय संबंधों में आपसी आदान-प्रदान पर आधारित संबंधों से नियन्त्रित होती है। ईश्वरन् (1966 : 41) ने यजमानी व्यवस्था के संदर्भ में (दक्षिण भारत में मैसूर में इसे 'आया' पुकारा जाता है) कहा है कि यह एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें प्रत्येक जाति को सामुदायिक जीवन में समग्र रूप से एक भूमिका निभानी होती है। यह भूमिका आर्थिक, सामाजिक तथा नैतिक कार्य करने की होती है।

मूल रूप में 'यजमान' शब्द उस सेव्य (client) को संदर्भित करता था जिसके लिए ब्राह्मण पुजारी कर्मकाण्ड (rituals) का संपादन करता था। बाद में यह शब्द उस संरक्षक के लिए प्रयोग किया जाने लगा जो विशिष्ट सेवाओं को प्राप्त करता हो। बीडमैन (Beidman, 1957 : 7) ने संकेत दिया है कि सेवा और वस्तुएँ उपलब्ध कराने वालों को 'कमीन' के अतिरिक्त 'पुरजन', 'परधान' आदि नामों से भी विविध क्षेत्रों में जाना जाता है।

4.3 जजमानी संबंधों में जबर्दस्ती व सर्वसम्मति (Forced and Concensus in Jajmani Relations)

कुछ लेखकों (उदाहरण के लिए विडेलमैन) ने जजमानी प्रथा की निंदा की है और कहा है कि यह ''एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा धनी लोग गरीबों के साथ ज़ोर-जबर्दस्ती करते हैं'' और उन्हें अपना वर्चस्व तथा उच्चतर संस्थिति को बरकरार रखने के लिए विवश करते हैं।

दूसरी ओर भारतीय गांवों के कुछ अध्येता यह तर्क देते हैं कि जजमानी व्यवस्था में ज़ोर-जबर्दस्ती के तत्व के बावजूद ये ''आपसी एकता और सहयोग को बढ़ाते हैं।'' ये निष्कर्षत: यह भी तर्क देते हैं कि यह कहना गलत है कि शिल्पी यानी लुहार आदि जैसी सेवा करने वाली कामगार जातियाँ जमींदारों के आगे बिल्कुल लाचार हैं। जजमानी के लेन-देन में प्रत्येक जाति ज्यादा से ज्यादा लाभ कमाना चाहती है।

4.4 यजमानी संबंध (Jajmani Relations)

कभी-कभी दो या अधिक जातियों के बीच कुछ वस्तुओं की पूर्ति के आधार पर बने संबंध संविदात्मक (contractual) हो सकते हैं लेकिन यजमानी नहीं। उदाहरणार्थ, बुनकर जिसको उसके द्वारा निर्मित व बेचे जाने वाले कपड़े के लिए नकद भुगतान किया जाता है, उसको फसल में रस्मी हिस्से का अधिकार नहीं है। वह कमीन नहीं है और खरीदने वाला उसका यजमान नहीं है। पुनश्च: यजमानी संबंधों में भी कुछ ऐसे उत्पाद या सेवाएँ हो सकती हैं जो संविदित हों और जिनके लिए अलग से भुगतान किया जाता हो। उदाहरणार्थ, गाँव में रस्सी बनाने वाले यजमानी व्यवस्था के अन्तर्गत किसानों को सभी प्रकार की आवश्यक रस्सियाँ उपलब्ध करा सकते हैं किन्तु कुंओं में प्रयोग की जाने वाली मोटी रस्सियों के लिए अलग से भुगतान करना पड़ता है।

यजमानी संबंध कर्मकांडी (ritual) मामलों तथा सामाजिक समर्थन के साथ साथ आर्थिक आदान-प्रदान को भी निश्चित करते हैं। सेवादार जातियाँ संस्कार तथा अन्य कर्मकांडी कर्त्तव्यों को पालन यजमान के घर पर जन्म, विवाह और मृत्यु जैसे अवसरों पर करते हैं। डी. एन. मजूमदार (1958) ने उत्तर प्रदेश के लखनऊ जिले के एक गाँव के ठाकुर परिवार (राजपूत जाति के) का उदाहरण दिया है जिसकी जीवनचक्रीय संस्कारों के लिए दस से अधिक जातियों द्वारा सेवा की जाती है। उदाहरण के लिए, बच्चे के जन्म पर दावत के समय ब्राह्मण 'नामकरण संस्कार' संपन्न कराता है, स्वर्णकार नवजात शिशु के लिए स्वर्ण आभूषण उपलब्ध कराता है, धोबी गंदे वस्त्र धोता है, नाई निमंत्रण व संदेश देता है, खाती वह पटला उपलब्ध कराता है जिस वर बच्चे को नामकरण के समय बिठाया जाता है, लोहार लोहे का कड़ा देता है, कुम्हार कुठार देता है जिसमें तैयार सब्जियाँ और पानी

नोट

रखा जाता है, पासी भोजन के लिए पत्तले उपलब्ध कराता है, औार दावत के बाद भंगी दावत स्थान की सफाई करता है। सभी को भेंट, भोजन, पैसा और कपड़े प्रदान किए जाते हैं जो कि यजमान के प्रभाव और प्राप्तकर्ता की विनम्रता पर निर्भर करता है।

कमीन लोग भी (निम्न जाति के) जो अपने यजमानों के लिए विशिष्ट सेवाएँ उपलब्ध कराते हैं दूसरों से सेवाएँ और वस्तुएँ चाहते हैं। हैरोल्ड गूल्ड (Harold Gould, 1987 : 169-170) के अनुसार निम्न जाति के लोग या तो प्रत्यक्ष श्रम विनिमय द्वारा या नकद या वस्तु के रूप में भुगतान करके अपने स्वयं के लिए यजमानी प्रबंध कर लेते हैं। मध्यम जातियों के लोग भी निम्न जातियों की तरह एक दूसरे की सेवाओं का आदान-प्रदान या तो नकद भुगतान या सेवाओं द्वारा भरपाई कर लेते हैं।

कमीन लोग अपने यजमानों के लिए न केवल वस्तुएँ उपलब्ध कराते हैं बल्कि वे कार्य भी करते हैं जो उनके यजमानों को दूषित (अपवित्र) करते हैं; उदाहरणार्थ, गंदे कपड़ों को धोना (धोबी द्वारा), बाल काटना (नाई द्वारा), नवजात का जन्म कराना, (नाइन द्वारा), शौच स्थान की सफाई (भंगी द्वारा), और इसी प्रकार के कार्य। यद्यपि धोबी, नाई, लोहार, आदि स्वयं निम्न जातियों में गिने जाते हैं तथापि वे हरिजनों के लिए 'कमीनों' की तरह सेवा नहीं करते और न ही ब्राह्मण लोग इन लोगों को अपना यजमान मानते हैं। फिर भी जब निम्न जाति के परिवार समृद्ध होते हैं तब वे अपने दूषित पेशों को छोड़ देते हैं और अपनी सेवा के लिए संस्कार विशेषज्ञों को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं (और सफल भी होते हैं)।

यजमानी संबंध जातियों की अपेक्षा परिवारों में होते हैं। इस तरह राजपूतों का परिवार गाँव के लोहार जाति के एक परिवार से धातु उपकरणों को बनवाता है, न कि सभी लोहारों से। लोहारों का यही विशेष परिवार राजपूतों के उस परिवार की फसल में से हिस्सा पाएगा, न कि सभी लोहार परिवार। दो-परिवारों के बीच (लोहार और राजपूत) का यह संबंध टिकाऊ होता हैं क्योंकि लोहार उसी राजपूत परिवार की सेवा करता है जिसमें उसके पिता और बाबा सेवा करते थे। राजपूत परिवार भी अपने उपकरण व उनकी मरम्मत उसी लोहार परिवार की संतानों से कराता है जिसके पूर्वज उस राजपूत परिवार के पूर्वजों से कराते थे। यदि कोई संबद्ध परिवार समाप्त हो जाए तो उसके वंश का कोई दूसरा परिवार स्थान ले लेता हैं। उदाहरण के लिए उपरोक्त मामले में यदि लोहार के परिवार में एक से अधिक पुत्र हों, जिनकी देखभाल राजपूत परिवार न कर सके तो इस दशा में वे ऐसे स्थानों में सहयोग लेने चले जाते हैं जिनमें लोहारों की कमी होती है।

आरेन्सटीन (Orenstein, 1962 : 310-14) ने माना है कि गाँव के अधिकारियों या गाँव के नौकरों के परिवार (जैसे चौकीदार) किसी विशेष परिवार की अपेक्षा सारे गाँव से यजमानी संबंध बनाए रखते हैं। इस प्रकार चौकीदार के परिवार को गाँव के प्रत्येक भूस्वामी किसान परिवार से फसल में से योगदान मिलता है। गाँव के नौकर लोग (servants) भी गाँव की भूमि का कर-मुक्त प्रयोग कर सकते हैं। सेवादारों के कुछ परिवार, व्यक्तिगत परिवारों की अपेक्षा गाँव के किसी हिस्से से यजमानी संबंध रखते हैं। इन परिवारों को गाँव के उस हिस्से में रहने वाले सभी परिवारों की सेवा का हक होता है।

यजमानी प्रथा के संदर्भ में कोलेन्डा (Kolenda, 1963 : 11-31) ने कहा है-''हिन्दू यजमानी व्यवस्था भूमिकाओं और प्रतिमानों के जाल व एक व्यवस्था के रूप में जकड़े हुए भारतीय ग्रामों की एक संस्था या सामाजिक व्यवस्था है जो कि सामान्य सांस्कृतिक मूल्यों द्वारा समर्थित व विधिमान्य होती है''। यजमानी व्यवस्था में विश्लेषण योग्य प्रश्न निम्न हैं: इस व्यवस्था का कार्य क्या है? इस व्यवस्था में क्या शक्तियाँ व अधिकार वितरित हैं? यजमानी व्यवस्था अन्य प्रथाओं से किस प्रकार संबन्धित है? यजमानी व्यवस्था को बनाए रखने के पीछे प्रेरणा क्या है? इस व्यवस्था में क्या परिवर्तन हुए हैं?

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थान को उचित विकल्प के साथ पूरा करें-

1. आदिम समाज में खेती करने का जो ढंग प्रचलित का उसे ..... कहते थे-
   (क) तकनीकी खेती (ख) आधुनिक खेती (ग) झूम खेती

नोट

2. जजमानी व्यवस्था में निहित भूमिकाएँ ..... की हैं–
   (क) नौकर और मालिक की (ख) जजमानों एवं कमीनों की (ग) उच्च जाति एवं निम्न जाति की
3. भूमि का जो भाग खाली पड़ा होता है उसे ..... कहते हैं–
   (क) परती ज़मीन (ख) उर्वर भूमि (ग) ऊसर भूमि

4.5 प्रकार्य एवं भूमिकाएँ (Functions and Roles)

यजमानी व्यवस्था के कार्यों का विश्लेषण करते हुए लीच (Leach, 1960) ने कहा है कि यजमानी व्यवस्था जातियों में आपसी आर्थिक निर्भरता और श्रम विभाजन को नियमित बनाए रखती है। वाइजर (Wiser, 1967 : 35) के अनुसार यजमानी व्यवस्था भारतीय ग्रामों को आत्मनिर्भर समुदाय के रूप में बनाए रखने में सहायक होती है। गाडल्ड (1987) ने कहा है कि यह (यजमानी व्यवस्था) सेवा कार्यों और शिल्प सेवाओं के बदले में कृषि उत्पादन का वितरण करती है। बीडिलमैन (Buidelman, 1959) का मत है कि यह (यजमानी व्यवस्था) उच्च जातियों की प्रतिष्ठा बनाए रखती है।

यजमानी व्यवस्था में निहित भूमिकाएँ यजमानों और कमीनों की हैं। कमीन जातियाँ यजमान जातियों के लिए कुछ पेशेवर, आर्थिक व सामाजिक सेवाएँ करतीं हैं जिसके बदले में यजमान उन्हें विशिष्ट अवसरों या निश्चित अवधि के बाद भुगतान करते हैं, यद्यपि सभी जातियाँ इस आपसी लेनदेन में आवश्यक रूप से भाग नहीं लेतीं। उदाहरणार्थ, तेली ऐसी जाति है जो आमतौर पर विनिमय सेवाओं में नहीं होती। कमीनों के यजमान उनके अपने गाँव और अन्य गाँवों में भी होते हैं। एक कमीन अपने सेव्य के प्रति अधिकारों को दूसरे कमीन को बेच सकता है। भूमिका संबंधों में महत्त्वपूर्ण हैं–मुफ्त भोजन, कपड़े, आवास, लगान-मुफ्त भूमि, आकस्मिक सहायता, मुकद्में में सहायता, तथा जीवन में संकट के समय यजमानों द्वारा कमीनों की सुरक्षा।

यजमानी व्यवस्था सभी गाँवों में पारस्परिक (अन्योन्य) (reciprocal) नहीं है। कोलेंडा (Kolenda, 1963 : 11-32) ने माना है कि शक्तिशाली जातियाँ भारत के अनेक गाँवों में इन संबंधों में शक्ति संतुलन बनाए रखती हैं। योगेंद्र सिंह (1976 : 187) भी मानते हैं कि भारत के गाँव आर्थिक संस्थाओं शक्ति संरचना और अंतर्जातीय संबंधों की दृष्टि से बदल रहे हैं। आर्थिक परिवर्तन का प्रमुख स्रोत भूमि सुधार भी है जो बिचौलियों की समाप्ति, किराएदारी सुधार (tenancy reforms), चकबंदी, भूमि पुनर्वितरण, सहकारी खेती का विकास, और भूदान द्वारा लागू किए गए हैं। इन सब उपायों से जातियों के बीच अन्तर्क्रिया, यजमानी व्यवस्था, तथा ग्रामीण व्यवस्था पर प्रभाव पड़ा है।

4.6 प्रतिमान एवं मूल्य (Norms and Values)

देश के सभी क्षेत्रों में भुगतान का परंपरागत तरीका यह रहा है कि यह फसल के समय पर ही किया जाता है जब प्रत्येक भूस्वामी परिवार विविध कमीनों को नवीन उत्पादित अनाज में से कुछ हिस्सा देते है परन्तु फसली भुगतान यजमान परिवार को प्राप्त होने वाले हिस्से में से ही होता है। कमीन अपने यजमान पर मकान की जमीन के लिए, पशुओं के चरागाह स्थल के लिए, लकड़ी और उपले के लिए, औजारों के लिए तथा ऋण आदि के लिए निर्भर रहता है। इसके साथ-साथ यजमान उसको कपड़े और संस्कारों (rituals) के अवसरों पर भेंट आदि देता है और आड़े वक्त पर ऋण भी प्रदान करके सहायता करता है।

वाइज़र (Wiser, 1956) ने सत्रह बिंदु बताए हैं। जो कमीन अपने यजमानों से प्राप्त करता है हैरोल्ड गाउल्ड (1985 : 140-141) ने भी 1954-55 में फैजाबाद (उत्तरप्रदेश) जिले के गाँव शेरूपुर में यजमानी प्रथा के अध्ययन के दौरान यजमानी बंधनों में इन्हीं बिंदुओं को महत्त्वपूर्ण पाया। इनमें से कुछ विचारणीय बिन्दु हैं : मुफ्त आवास स्थल, परिवार के लिए मुफ्त भोजन, मुफ्त उपले, बिना किराए का मकान, कर्ज सुविधाएँ, पूरक रोजगार के अवसर, उपकरणों एवं पशुओं का मुफ्त प्रयोग, मुफ्त खालें, मुकदमे में मदद, अन्तिम संस्कार के समय लकड़ी, और कच्चे माल का मुफ्त प्रयोग, आदि। हैरोल्ड गाउल्ड ने पुरजनों की सेवाओं के बदले यजमानों द्वारा

नोट

किए जाने वाले भुगतान की दर का भी अध्ययन किया। उदाहरणार्थ, 1954-55 में एक ब्राह्मण को फसल काटने के समय एक परिवार से 15 किलोग्राम अनाज मिलता था, कोरी (जुलाहा) को 15 किलो अनाज और 20 रुपये प्रति माह प्रति यजमान, कुम्हार, नाई और लोहार को 8 किलो अनाज प्रति परिवार प्रति फसल, और धोबी को प्रति परिवार प्रति फसल 4 किलो अनाज मिलता था।

सेवित गाँवों में सभी यजमानों से प्राप्त एक कमीन परिवार की अनाज की आमदनी का उदाहरण देते हुए हैरोल्ड गाउल्ड कहते हैं कि अपने अध्ययन वाले गाँव में उन्होंने पाया कि (1954-55 में) नाई को एक साल में लगभग 312 किलो अनाज प्राप्त हुआ। यह अनाज उसको 25 एकाकी परिवारों वाले 15 संयुक्त परिवारों से प्राप्त हुआ। यजमानी संबंधों को अन्य भिन्न जातियों के साथ संबंधों को लेकर गाउल्ड ने देखा कि गाँव शेरूपुर में सभी यजमानों ने 2,039 किलो अनाज एक वर्ष में सभी 'पुरजन' परिवारों को दिया। गाँव में 228 लोगों के 43 परिवार थे, इनमें से केवल 19 परिवार ही यजमान थे (ये सेवाएं लेते थे और अनाज देते थे)। इससे आर्थिक अन्तर्क्रिया के विस्तार का पता चलता है।

कमज़ोर वर्ष में यजमान किसान अपने कमीनों को अधिक अन्न नहीं देता लेकिन जब उसकी फसल अच्छी होती है तब वह उन कमीनों को अधिक अनाज देने को बुरा नहीं समझता, जिन्होंने उसकी अच्छी सेवा की हो। फिर भी, यदि कमीन यजमान के प्रति काम में लापरवाही करता है, जैसे कि उपकरणों की मरम्मत में या धोबी अधिक कपड़े फाड़ लाए, तब यजमान उसे अधिक नहीं देता। इसी प्रकार कमीन भी उसी हिसाब से अपनी सेवाएँ देता है जैसा उसको भुगतान मिलता है। एम. एन. श्रीनिवास (1955 : 11-13) के अनुसार भी जो यजमान अनाज देते हैं वे अच्छे माने जाते हैं अपेक्षाकृत नकद भुगतान करने वालों के।

यजमानों और कमीनों के बीच शक्ति आवंटन के विषय में, बीडिलमैन (Beidelman, 1959) के अनुसार, सांस्कृतिक शुद्धि या अपवित्रता महत्वपूर्ण नहीं है। निम्न जाति का व्यक्ति, भले ही वह यजमान हो, उच्च स्तर वाली जाति के कमीन से नीचा ही समझा जाता है। उच्च जाति की शक्ति भू-स्वामित्व तथा सम्पत्ति पर आधारित होती है और कमीनों के पास यह शक्ति नहीं होती। हैरोल्ड गाउल्ड (1987 : 173) ने स्वीकार किया है, ''मूल रूप से अंतर एक तरफ भूस्वामी कृषक जातियों (जो सामाजिक व्यवस्था के अधिपति हैं) और दूसरी तरफ भूमिहीन शिल्पी व सेवक जातियों (जो उनके आधीन हैं) के बीच पाया जाता है। पोकॉक (Pocock, 1963 : 79) ने भी इसी प्रकार कहा है, ''यदि यजमानी संबंधों में व्यवस्था नहीं है, तो उनमें संगठन है। वे (संबंध) एक ही संस्था- उस क्षेत्र की प्रभुत्व वाली (dominant) जाति के चारों ओर व्यवस्थित हैं।

यजमानों और कमीनों के लिए कर्त्तव्यों, अधिकारों, भुगतान तथा सुविधाओं से संबंधित कुछ प्रतिमान हैं। यजमान को अपने कमीनों के प्रति संरक्षक भाव रखना पड़ता है तथा उनकी माँगों को पूरा करना पड़ता है। कमीन को भी पुत्र की तरह अपने पिता सम यजमान के प्रति व्यवहार करना पड़ता हैं। उसे अपने यजमान के गुटीय विवादों में उसका समर्थन करना पड़ता है।

टास्क आपकी नज़र में क्या आने वाले समय में जजमानी व्यवस्था बिल्कुल समाप्त हो जाएगी? यदि हाँ तो उसके कारकों का विश्लेषण कीजिए।

यजमानी प्रथा में दानशीलता और उदारता, धार्मिक कर्त्तव्य तथा असमानता ईश्वरीय देन समझी जाती है जो कि सांस्कृतिक मूल्य माने जाते हैं। पवित्र, अर्ध पवित्र और धर्म निरपेक्ष हिंदू साहित्य तथा मौखिक परम्पराएँ यजमान-कमीन संबंधों को अधिकृत व न्याया संगत मानते हैं। जाति पंचायत को गलती करने वाले यजमानों और कमीनों को दण्ड देने का अधिकार होता है। साथ ही, मान्यताएँ यह अनुमति भी देती हैं कि कमीन आवश्यक सेवाएँ प्रदान न करे और यजमान कमीन को लगान पर दी गई भूमि ले सकता है।

उदाहरणार्थ, यदि एक कुम्हार परिवार दूसरे के यजमानों में घुसपैठ का प्रयत्न करता है तो आहत कुम्हार अपनी जाति पंचायत में उस घुसपैठिये को खदेड़ने का निवेदन करता है। यदि गाँव के कुम्हार विश्वास करते हैं कि

नोट

यजमान किसान उनके प्रति उदासीन है तब कुम्हार लोग यजमान किसानों से नाता तोड़ने का प्रयत्न कर सकते हैं, जब तक कि किसान यजमान अपने बुरे व्यवहार को ठीक न कर ले।

नोट्स भारत में अब धीरे-धीरे जजमानी व्यवस्था का स्वरूप बदल रहा है। आधुनिक युग में शहरीकरण के कारण गाँवों की जनसंख्या बड़ी तेज़ी से शहरों में विस्थापित हो रही है। जजमानी व्यवस्था के ह्रास का यह एक महत्त्वपूर्ण कारण है। इसके अलावा नई तकनीक भी मानव-श्रम पर निर्भरता को घटाने में मददगार साबित हुई है।

4.7 यजमानी व्यवस्था : एक शोषणीय व्यवस्था (Jajmani System : An Exploitative System)

क्या यजमानी व्यवस्था एक शोषणीय प्रथा है? क्या यजमान कमीनों को थोड़ा-सा अनाज या नकद या अन्य कुछ देकर उनका शोषण करते हैं? बीडिलमैन (Beidelman, 1959) यजमानों को 'शोषक' और कमीन को 'शोषित' मानते हैं तथा व्यवस्था को 'सामन्ती' गुणों वाली मानते हैं। वह यजमानी प्रथा को उच्च जातीय हिंदुओं के द्वारा नियंत्रण, विधिमान्यीकरण, तथा शासन करने के लिए एक प्रमुख साधन के रूप में मानते हैं। इसी प्रकार ल्यूइस और बरमौ (Lewis and Barmouw, 1956) के विचार से धनी और प्रभावशाली यजमानों और निर्धन भूमिहीन कमीनों के बीच का अंतर ही कमीनों के शोषण का कारण है और उन्हें शक्तिशाली और उच्च स्थान वाले लोगों के शासन में या आधीन रहने को बाध्य करता है। कुछ विद्वानों का मत है कि यजमानी प्रथा में कोई बाध्यता या प्रभुत्व वाली बात नहीं है। *प्रथम,* कमीन लोग अपनी रोजी रोटी के लिए यजमानों पर निर्भर नहीं रहते। वे अपनी वस्तुओं को बेचने और सेवाओं को उनको देने के लिए स्वतंत्र होते हैं जो उन्हें भुगतान करते हैं। *दूसरे,* जब कमीन महसूस करते हैं कि उनके साथ अन्याय हुआ है तब वे अपनी जाति की पंचायत करते हैं जो यजमानों को उनकी माँगों को पूरा करने के लिए बाध्य करते हैं। इसी प्रकार जब भूस्वामी ऐसा अनुभव करते हैं कि उनके किसी कमीन ने काम में कोताही की है या यजमान के पद और गरिमा को ठेस पहुँचाई है या चुनौती दी है, यजमान परिवार मिलकर उनके भुगतान रोककर या अन्य प्रकार से उन पर दबाव डाल सकते हैं। फिर भी किसी भी तरफ से सामूहिक कार्यवाही संपूर्ण जाति के हितों को प्रभावित नहीं करती। जातीय एकता यजमानी समूह के प्रति निष्ठा से कहीं ऊपर होती है। *तृतीय,* यजमान अपने कमीनों से पैतृक तरह से व्यवहार करते हैं और संकट उनके में सहायता करते हैं। *चौथे,* यजमानी नियम इतने लचीले होते हैं कि उनका अर्थ किसी भी प्रकार से लगाया जा सकता है और सेवा प्रबंधों में परिवर्तन किया जा सकता है। प्रत्येक यजमानी संबंध में निश्चित समय पर न्यूनतम मापदंड बनाए रखे जाते हैं। *अन्तिम,* उच्च जाति के सदस्य दूषित व विशिष्ट कार्यों से बचना चाहते हैं। अत: उन्हें उन परिवारों पर निर्भर रहना पड़ता है जो उन्हें वाँछनीय सेवाएँ व वस्तुएँ प्रदान करें। यजमानी आदान-प्रदान को आपसी लाभकारी समझते हुए वे अपने कमीनों की अनर्गल माँगों को भी कभी-कभी सहन करते हैं, जैसे कि कमीन अपने यजमानों का दबाव सहन करते हैं। अत: यजमानी प्रथा को शोषणात्मक समझना अतर्कसंगत होगा। राव (1961), कोलेन्डा (Kolenda, 1963 : 21-29), ओरेन्सटीन (Orenstein, 1962) और हैरोल्ड गाउल्ड (Harold Gould, 1985) की भी यही मान्यता है कि यजमानी व्यवस्था को निर्दयी शोषणात्मक कहकर निंदा करना चौंकाने वाला शीघ्रता में किया हुआ सामान्यीकरण है। हैरोल्ड गूल्ड (1987 : 176-177) ने कहा है कि यजमानी प्रथा का ऐसा विश्लेषण जो इसे सामंती व्यवस्था का हिस्सा मानता हो अविश्वसनीय है। इस प्रथा का महत्त्व किसी भी आर्थिक क्रिया के सामने कम है। यह प्रथा किसी तर्कयुक्त आर्थिक प्रेरक (motivations) के कारण टिकी हुई नहीं है बल्कि सामाजिक स्थिति तथा उस सामाजिक अंतर्क्रिया के स्वरूपों को बनाए रखने में इसके महत्त्व को देखते हुए भी जो कि ग्रामीण हिंदूवाद के सफल अभ्यास के लिए आवश्यक है, टिकी हुई है। यजमान प्रमुख रूप से आर्थिक व राजनैतिक दृष्टि से समरसता वाला (homogeneous) समूह नहीं है, बल्कि यह तो एक धार्मिक-आर्थिक समूह है जो भारतीय

नोट

सभ्यता में विशेष रूप से समाहित हैं। यजमानों और सेवादारों के बीच का बंधन समान धार्मिक-आर्थिक संबंधों का लाभ उठाना है, न कि समाज में धन व शक्ति के स्रोतों में समान संबंधों का।

अत: यह स्वीकार किया जा सकता है कि यजमानी प्रथा में यजमान की स्थिति न तो जमींदार वर्ग के साथ और न ही प्रभुत्व संपन्न जाति के साथ मिलती है और न ही यह किसी विशेष सामाजिक समूह की सदस्यता पर निर्भर करती है; बल्कि यह तो भूमि के स्वामित्व, या किसी भी साधन से भूमि से प्राप्त उत्पादन पर निर्भर रहती है। मेयर (1960), माथुर (1958) और पोकॉक (1963) ने भी माना है कि कृषि भूमि तक पहुँच भारत में हमेशा जाति-मुक्त (caste free) रही है जिसका अर्थ है कि यजमान स्थिति की कुछ समानता बनाए रखने के सामान्य साधन श्रेणीक्रम (hierarchy) में किसी भी जाति के सदस्यों के लिए सदैव उपलब्ध रहे हैं। हैरोल्ड गाउल्ड (1987 :177) का अनुसरण करते हुए यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि यजमानों को (सामाजिक वर्ग के रूप में) शोषक की दृष्टि से नहीं देखा जा सकता। ज्यादा से ज्यादा यह कहा जा सकता है कि यजमानों द्वारा कमीनों को दी जाने वाली राशि वर्तमान में कम है जिसके कारण वे अन्य साधनों से नकद आय ढूंढने के लिए बाध्य होते हैं। दूसरी ओर, यजमान की स्थिति (पुरानी सामाजिक व्यवस्था में भी) केवल भूमि के आधार पर कुलीनता तक कभी भी सीमित नहीं रही। दूसरी जाति के लोगों को भी यजमान बनने के अवसर प्राप्त थे। लेकिन यजमान होना और वर्तमान प्रभावशाली राजनैतिक व्यवस्था का हिस्सा होना स्वत: साथ-साथ अन्तिम पड़ाव नहीं थे। राजनैतिक श्रेणीक्रम की सदस्यता उस शक्ति और भौतिकता को प्राप्त करने का जिसे वह यजमान होकर प्राप्त कर सकता था, केवल एक साधन मात्र था। यह कोई एकान्तिक साधन (exclusive means) नहीं था।

यजमान होने का अर्थ था एक रूढ़िवादी हिन्दू होना जिसका मूल्य व्यवस्था में कुछ विशेषज्ञों (सेवक जातियों) के साथ संपर्क बनाना आवश्यक था। जमींदार होने का मतलब होता था शासक वर्ग का होना (Harold Gould, 1987 : 185)। यजमान कमीन का शोषक नहीं था यद्यपि जमींदार 'शोषक' हो सकता था। 'यजमान' बनने की इच्छा होना 'सामंती स्थिति' या 'कमज़ोरों के शोषण की ओर झुकाव' का होना नहीं है बल्कि कुछ रिवाजों का पालन करने और अपवित्र जीवन से बचने की इच्छा है।

4.8 यजमानी प्रथा में परिवर्तन (Changes in Jajmani System)

यजमानी व्यवस्था का जाति व्यवस्था, धार्मिक व्यवस्था, भूस्वामी व्यवस्था, नातेदारी व्यवस्था और गाँव के राजनैतिक वर्तमान में इन सभी व्यवस्थाओं में आने वाले परिवर्तनों ने यजमानी व्यवस्था की कार्यप्रणाली को भी प्रभावित किया है। विगत पाँच या छ: दशकों में यजमानी प्रथा को प्रभावित करने वाले प्रमुख परिवर्तन इस प्रकार हैं: गाँव के बुजुर्गों की पंचायत की शक्तियों में कमी, कमीनों द्वारा की जाने वाली सेवाओं की गुणवत्ता पर फैक्टरी तथा औद्योगीकरण का प्रभाव, जाति प्रथा की सख्तियों में शिथिलता, शिक्षा का प्रसार, मध्यम और निम्न जातियों के लोगों का भौतिक सुविधाओं और नौकरी की तलाश में शहरों की ओर प्रव्रजन, जागीरदारी प्रथा का उन्मूलन, भूमि सुधारों का लागू होना, शहरी क्षेत्रों में अच्छा रोजगार मिलना, आधुनिक यातायात की सुविधाओं के उपलब्ध होने के कारण बाज़ार के लेनदेन में सुविधा, आदि। इन सभी कारकों के कारण अनेक गाँवों में यजमानी प्रथा या तो कमज़ोर हो गई है या समाप्त हो गई है। शिल्पियों को अपनी चीजों के बदले नकद मूल्य अधिक अच्छा लगता है। जिन किसानों के पास पैसा है वे बाज़ार से अच्छी गुणवत्ता वाली वस्तुएँ खरीदना अच्छा समझते हैं। प्रभुत्व वाली जातियाँ कमीनों से समर्थन लेने की अपेक्षा राजनैतिक सहायता लेना अच्छा मानते है। यह कोई आश्चर्य नहीं है कि वर्तमान में यजमानी प्रथा काफी कमज़ोर पड़ गई है। इरावती कर्वे और वाई. बी. डामले (1963 : 151-152) ने महाराष्ट्र के पाँच गाँवों में 1962 में किए गए सर्वेक्षण में दो-तिहाई उत्तरदाता (326 में से 222) और बोस और जोधा (1965 : 118-123) ने 80% उत्तरदाता (129 में से 111), (1963 में पश्चिम राजस्थान के बाड़मेर जिले में सर्वेक्षण में) यजमानी प्रथा के पक्ष में पाए। इसके मुख्य कारण थे : आर्थिक लाभ, कर्मकांड सेवाओं की उपलब्धि, अपने गुटीय संघर्षों में कुछ परिवारों या जातियों के भूस्वामियों का विश्वस्त सहयोग लेना, आपात काल में अपने संरक्षकों का संरक्षण प्राप्त करना, आदि। सत्य यह है कि हाल के वर्षों में यजमानी संबंध बहुत कमज़ोर हो गए हैं। अब गाँव की अर्थव्यवस्था यजमानी लेने-देने पर नहीं चलती। बीडिलमैन भी इस मत के हैं कि इसमें संदेह है कि यजमानी प्रथा भविष्य में रहेगी भी या नहीं।

नोट

4.9. जजमानी व्यवस्था का पतन (Decline of Jajmani System)

अब जजमानी व्यवस्था के द्वारा ग्रामीण अर्थव्यवस्था का ज्यादा कार्य नहीं होता। अब तक जजमानी संबंध बहुत सारे गाँवों में बदल गए हैं। कुछ गाँवों में तो यह पूर्णत: समाप्त हो गयी है। इस संदर्भ में हम गाउल्ड (Gould) के शोध निष्कर्षों का उल्लेख कर सकते हैं (एच. ए. गाउल्ड, जजमानी सिस्टम ऑफ नॉर्थ इंडिया: इट्स स्ट्रक्चर, मैग्नीच्यूड एंड मीनिंग. एथनोलॉजी 1964)। उन्होनें उत्तर प्रदेश के वर्तमान फैजाबाद शहर के दक्षिण भाग की घनी आबादी वाले इलाके शेरूरपुर और नाकटीपुर का अध्ययन किया। उनके अध्ययन के अनुसार छ: विशेषज्ञ जातियों के परिवार दूसरे गाँव के लोगों के साथ, जजमानी संबंध बनाए रखते हैं और उनमें से सर्वाधिक जजमान धोबी जाति के हैं। इनका प्रतिशत लगभग 77 है जो निश्चित अनाज भुगतान के आधार पर काम करते हैं। इसके बाद बढ़ई और लुहार के ग्राहकों की संख्या सबसे अधिक यानी 69 और 67 प्रतिशत है। नाइयों के ग्राहकों की संख्या 62 प्रतिशत है जो जजमानी प्रथा से काम करवाते हैं, हालांकि व्यावसायिक तौर पर नाई आसानी से उपलब्ध हैं। ठाकुर और ब्राह्मणों के 70 प्रतिशत जजमानी संबंध हैं। गाउल्ड निष्कर्षत: यह कहते हैं कि जजमानी प्रथा के जारी रहने का सबसे बड़ा कारण विशेषज्ञ जातियों, खासकर नाई और धोबी के कार्यों के ''संस्कारगत महत्त्व हैं। वे तर्क देते हुए कहते हैं कि बढ़ई और लुहार अपने ग्राहकों की महत्त्वपूर्ण संख्या को बनाए रख सके, क्योंकि ''बढ़ई और लुहार के साथ पारंपरिक संबंध बनाए रखना घर परिवार के लिए सामाजिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।''

मैंडल बाउम कहते हैं कि जजमानी लेन-देन की उपरोक्त संख्या इस बात को परिलक्षित नहीं करती कि ग्रामीण अर्थव्यवस्था में इस प्रकार के लेन-देन का बहुत महत्त्व था। वस्तु स्थिति इसके बिलकुल विपरीत है जैसा कि निम्नलिखित तथ्य से जाहिर होता है-''सबसे कीमती और उत्पादक फसल ईख है और यह नकदी फसल जजमानी के अंतर्गत नहीं आती। ऐसे 70 घरों में जो जजमानी संबंध चला रहे हैं, 1960 में 221 टन आनाज का उत्पादन हुआ। इस उत्पादन में मात्र 3 टन जजमानी विशेषज्ञों के बीच निश्चित भुगतान के रूप में वितरित किए गए।''

ऐसा प्रतीत होता है कि जजमानी संबंध आज भी यज्ञ-याजनों और सामाजिक नियमों के लिए महत्त्वपूर्ण हैं। शेरूरपुर, नकटीपुर और जजमानी वाले बहुत सारे दूसरे गाँवों में ''आर्थिक भुगतान स्थायित्व का एक नियामक है। इससे बढ़कर यह उनके लिए स्थानीय सामाजिक नियमों को परिभाषित करता है जो ज्यादा से ज्यादा यज्ञ-याजन संबधी सेवाएँ प्राप्त कर सकते हैं।'' गाउल्ड कहते हैं कि जजमानी व्यवस्था एक धार्मिक द्वैध से पैदा होता है। यह द्वैध शुद्ध-अशुद्ध की धारणा है जिसका क्रियान्वयन धार्मिक और आर्थिक संबंधों की जटिलता युक्त व्यवस्था में होता है जो स्थानीय संदर्भ के आयामों को समाहित और बहुत हद तक परिभाषित करती है। यह भी देखते हैं कि जजमानी व्यवस्था इसलिए भी समाप्त हो रही है क्योंकि ग्रामीण अर्थव्यवस्था में अब रुपये का अधिक प्रयोग हो रहा है। इसका कारण यह भी है कि आधुनिक यातायात के साधनों ने बाज़ार के साथ लेनदेन को ज्यादा संभव बना दिया है।

4.10 सारांश (Summary)

- आर्थिक गतिविधियों इतिहास में हमेशा मानवजाति की प्रमुख गतिविधयाँ रही हैं। आर्थिक संस्थाओं के बारे में समाजशास्त्रियों की चिंता इस तथ्य से उपजती है कि आर्थिक और सामाजिक जीवन के अन्य पक्ष एक दूसरे के साथ घनिष्ठता से जुड़े हुए हैं।
- हमारा आज का जटिल आर्थिक संगठन प्राचीन समय में भोजन इकट्ठा करने और शिकार करने की संस्कृति से प्रारंभ हुआ। ये शिकारी समुदाय आर्थिक रूप से स्वावलंबी थे। इसीलिए व्यापार का कोई अस्तित्व नहीं था। इसके साथ ही विनिमय में बहुत सी गंभीर व्यावहारिक समस्याएँ थीं। आदिम बस्तियाँ एक दूसरे से बहुत दूर थीं और आवागमन के साधन अविकसित थे।
- किसी खास बस्ती के भीतर विनिमय अतिथि-सत्कार या उपहार देकर किया जाता था।

नोट

- जमीन का निजी इस्तेमाल संभव नहीं था। एक जनजाति अपने प्रभाव की वृद्धि जंगल के किसी खास क्षेत्र में करती थी। धीरे-धीरे शिकार के द्वारा भोजन से जीवन-यापन की व्यवस्था खेती में बदल गई। आदिम समाज के लोग खेतों की उर्वरा शक्ति को विभिन्न प्रकार के खादों के इस्तेमाल से बढ़ाने की कला नहीं जानते थे। इसलिए झूम खेती ही उनके पास एक मात्र विकल्प बचा।
- मुद्रा की अनुपस्थिति के कारण आर्थिक लेनदेन हमेशा विनिमय पर आधारित होता था।
- जजमानी व्यवस्था एक अन्य प्रकार की विनिमय प्रणाली है।
- अपने मूल अर्थ में जजमानी आर्थिक संबंध का मतलब सेवाओं के बदले उपहारों का विनिमय था या भविष्य में हो सकता था। यह अर्थ आज भी नहीं बदला है। जजमानी का संबंध जाति के बजाय परिवार से होता है। इस प्रकार एक किसान परिवार खेती के धात्विक उपकरण किसी खास लुहार परिवार से पाता है और उसके बदले में वह फसल के समय किसान से अनाज का एक भाग हासिल करता है।
- जजमानी संबंध इस अर्थ में बहुआयामी है कि इसका दायरा आर्थिक तौर पर व्यापक है। यजमानी संबंध कर्मकांडी (ritual) मामलों तथा सामाजिक समर्थन के साथ साथ आर्थिक आदान-प्रदान को भी निश्चित करते हैं। सेवादार जातियाँ संस्कार तथा अन्य कर्मकांडी कर्त्तव्यों को पालन यजमान के घर पर जन्म, विवाह और मृत्यु जैसे अवसरों पर करते हैं।
- यजमानी व्यवस्था में निहित भूमिकाएँ यजमानों और कमीनों की हैं। कमीन जातियाँ यजमान जातियों के लिए कुछ पेशेवर, आर्थिक व सामाजिक सेवाएँ करतीं हैं जिसके बदले में यजमान उन्हें विशिष्ट अवसरों या निश्चित अवधि के बाद भुगतान करते हैं,
- एक कमीन अपने सेव्य के प्रति अधिकारों को दूसरे कमीन को बेच सकता है।
- यजमानों और कमीनों के लिए कर्त्तव्यों, अधिकारों, भुगतान तथा सुविधाओं से संबंधित कुछ प्रतिमान हैं। यजमान को अपने कमीनों के प्रति संरक्षक भाव रखना पड़ता है तथा उनकी माँगों को पूरा करना पड़ता है। यजमानी प्रथा में दानशीलता और उदारता, धार्मिक कर्त्तव्य तथा असमानता ईश्वरीय देन समझी जाती है जो कि सांस्कृतिक मूल्य माने जाते हैं।
- यजमान होने का अर्थ था एक रूढ़िवादी हिन्दू होना जिसका मूल्य व्यवस्था में कुछ विशेषज्ञों (सेवक जातियों) के साथ संपर्क बनाना आवश्यक था। जमींदार होने का मतलब होता था शासक वर्ग का होना (Harold Gould, 1987 : 185)। यजमान कमीन का शोषक नहीं था यद्यपि जमींदार 'शोषक' हो सकता था। 'यजमान' बनने की इच्छा होना 'सामंती स्थिति' या 'कमज़ोरों के शोषण की ओर झुकाव' का होना नहीं है बल्कि कुछ रिवाजों का पालन करने और अपवित्र जीवन से बचने की इच्छा है।
- हाल के वर्षों में यजमानी संबंध बहुत कमज़ोर हो गए हैं। अब गाँव की अर्थव्यवस्था यजमानी लेने-देने पर नहीं चलती। कुछ गाँवों में तो यह पूर्णत: समाप्त हो गयी है।

4.11 शब्दकोश (Keywords)

1. **जजमानी व्यवस्था**–जजमान और कमीनों के बीच सेव्य-सेवादार संबंधों को जजमानी व्यवस्था कहते हैं।
2. **झूम खेती**–आदिम समाज में ज़मीन की उर्वरा शक्ति बचाए रखने के लिए भूमि का टुकड़ा लंबे समय तक प्रयोग में नहीं लाया जाता था।
3. **कमीन**–जजमानों की सेवा करने वाली निम्न जातियाँ कमीन कहलाती थीं।

4.12 अभ्यास-प्रश्न (Review Question)

1. आदिम समाज का स्वरूप स्पष्ट करते हुए उसकी कुछ महत्त्वपूर्ण विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।
2. जजमानी व्यवस्था के स्वरूप पर प्रकाश डालिए।

नोट

3. जजमानी व्यवस्था के प्रकार्य एवं भूमिकाएँ स्पष्ट कीजिए।
4. जजमानी व्यवस्था में परिवर्तन एवं उसके ह्रास के कारण स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer : Self Assessment)

1. (ग) झूम खेती
2. (ख) जजमानों एवं कमीनों की
3. (क) परती ज़मीन

4.13 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. इंडियन सोसाइटी एंड सोशल इंस्टीट्यूशंस–*(2 वॉल्यूम्स सेट) एन. जयापालन, एटलांटिक।*
2. मैरिज, पापुलेशन एंड सोसाइटी : डेमोग्राफ़िक पर्सपेक्टिव्स ऑफ़ ए सोशल इंस्टीट्यूशंस–*एम. एम. कृष्णारेड्डी, कनिष्का, 1998.*
3. सोशल इंस्टीट्यूशंस ऑफ़ शिया मुस्लिम्स–*एन. एंथ्रोपोलॉजिकल एनालिसिस : सईद कामिल हुसैन, क्लासिकल, 1999.*

नोट

इकाई–5 : परिवार एवं विवाह (Family and Marriage)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)
प्रस्तावना (Introduction)
5.1 संयुक्त परिवार (Joint Family)
5.2 एकाकी परिवार (Nuclear Family)
5.3 संयुक्त एवं एकाकी परिवार में अंतर (Distinction between Joint and Nuclear Family)
5.4 भारत में संयुक्त परिवारों का एकाकी परिवारों में परिवर्तन (Changing of Joint Families into Nuclear Families in India)
5.5 आधुनिक भारत में विवाह की पद्धति (Modern Trends in Contemporary India)
5.6 सारांश (Summary)
5.7 शब्दकोश (Keywords)
5.8 अभ्यास-प्रश्न (Review Question)
5.9 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- संयुक्त परिवार एवं एकाकी परिवार की प्रकृति को समझने में।
- भारत में संयुक्त परिवार की टूटन और एकाकी परिवार के उद्‌भव को समझने में।
- आधुनिक भारत में पारिवारिक संरचना को समझने में।
- भारत में विवाह : हिंदू विवाह, मुस्लिम विवाह, ईसाई विवाह, जनजातीय विवाह को समझने में।

प्रस्तावना (Introduction)

परिवार मानव-समाज की एक मौलिक एवं आधारभूत इकाई रही है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, लेकिन सबसे पहले वह पारिवारिक प्राणी है, क्योंकि वह परिवार में ही जन्म लेता और परिवार के द्वारा धीरे-धीरे सामाजिकता को विकसित करता है। व्यक्ति की जीवन-संबंधी आवश्यकताओं की पूर्ति करने एवं उसे सामाजिक प्राणी बनाने का महत्त्वपूर्ण काम परिवार का है। इसलिए परिवार किसी के ऊपर जबरदस्ती लादने वाली वस्तु नहीं है, अपितु इसका जन्म मानव की जीवन-संबंधी आवश्यकताओं की पूर्ति के अनिवार्य साधन के रूप में स्वत: हुआ है। वस्तुत: परिवार छोटे रूप में समाज और व्यक्ति के समाजीकरण का महत्त्वपूर्ण साधन है।

नोट

5.1 संयुक्त परिवार (Joint Family)

परिवार का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Family)

परिवार शब्द अंग्रेजी के 'Family' शब्द का रूपांतर है जो कि लैटिन भाषा के 'Famulus' शब्द से निकला है परिवार शब्द का सदैव एक-सा अर्थ नहीं लगाया गया है। वास्तविक लैटिन शब्द 'Familias' के अंतर्गत माता-पिता, बच्चे, नौकर और गुलाम भी सम्मिलित किए जाते थे। ग्रीक लोग परिवार के लिए 'Oikonomia' शब्द का प्रयोग किया करते थे जिसका अभिप्राय उपर्युक्त समूह से भी बड़े समूह से हुआ करता था। सामान्य रूप से परिवार में माता-पिता एवं उनके बच्चों को सम्मिलित किया जता है। जर्मनी और फ्रांस में इनके अतिरिक्त घर के नौकरों व आश्रितों को भी परिवार में ही सम्मिलित किया जाता है। इस प्रकार विभिन्न समाजों में परिवार के लिए विभिन्न शब्दों का प्रयोग होता रहा है और उसके विभिन्न अर्थ लगाए जाते रहे हैं। विभिन्न विचारकों द्वारा प्रस्तुत परिवार की निम्नलिखित परिभाषाओं से परिवार के वास्तविक अर्थ को ढूँढने में पर्याप्त मदद मिलेगी–

- **सर्वश्री ऑगबर्न तथा निमकॉफ–**''परिवार पति-पत्नी का बच्चों-सहित अथवा थोड़ा-बहुत स्थाई संघ है अथवा एक स्त्री या पुरुष का अकेले ही बच्चों के साथ वाला संघ है।'
- **सर्वश्री मेकाइवर और पेज–**''परिवार उस समूह को कहते है जो यौन संबंधों पर आधारित है और जो इतना छोटा व स्थायी है कि उसमें बच्चों की उत्पत्ति एवं पालन-पोषण हो सके।''
- **सर्वश्री बर्गेस और लॉक–**''परिवार व्यक्तियों के उस समूह का नाम है जिसमें वह विवाह, रुधिर या दत्तक संबंध से बँधे होकर भिन्न-भिन्न नहीं अपितु एक गृहस्थी का निर्माण करते हैं। इस गृहस्थी में वे एक-दूसरे पर पति-पत्नी, माता-पिता, पुत्र-पुत्री तथा भाई-बहन के रूप में प्रभाव डालते हैं और एक-दूसरे के साथ संबंध स्थापित करते हैं। वे सब एक गृहस्थी में एक सामान्य संस्कृति को जन्म देते हैं और उसको बनाए रखते हैं।''
- **सर्वश्री वील्स तथा हॉइजर–**''परिवार को संक्षेप में एक सामाजिक समूह के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जिसके सदस्य रक्त के आधार पर एक-दूसरे से जुड़े रहते हैं।''

भारत में संयुक्त परिवार (Joint Family in India)

संयुक्त परिवार प्रणाली भारतीय समाज का एक प्रमुख स्तंभ है। मैक्स मूलर ने भारत की आदि परंपरा के रूप में संयुक्त परिवार के महत्त्व को स्वीकारा है। सामान्य रूप से संयुक्त परिवार में पति-पत्नी, पुत्र-पुत्री तथा निकट संबंधी एक साथ निवास करते हैं तथा सभी सदस्य अपनी योग्यता तथ सामर्थ्य के अनुसार आर्थिक क्रियाओं का संचालन करते हेतु अपना योगदान करते हैं। घर के कार्यों का निर्देशन व संचालन कर्त्ता के द्वारा होता है तथा वह पद सामान्यत: घर के वृद्ध व्यक्ति को दिया जाता है।

संयुक्त परिवार का अर्थ एवं परिभाषाएँ (Meaning and Definition of Joint Family)

संयुक्त परिवार (जिसे विस्तृत परिवार भी कहा जाता है) एक गृहस्थ समूह है जिसमें माता-पिता, दादा-दादी, चाचा-चाची, भाई-भाभी, चचेरे भाई-बहन तथा अविवाहित भाई-बहन सम्मिलित होते हैं। इस प्रकार, संयुक्त परिवार में कई पीढ़ियों के सदस्यों का एक सामान्य निवास-स्थान होता है, वे एक रसोई का पका भोजन करते हैं तथा सामान्य संपत्ति रखते हैं। **के. एम. कपाडिया** ने पीढ़ियों की गहराई को संयुक्त परिवार का लक्षण माना है। संयुक्त परिवार की पूरी सत्ता मुखिया में केंद्रित होती है जिसे संयुक्त परिवार का कर्त्ता कहा जाता है। कर्त्ता ही पूरे परिवार के बारे में सभी प्रकार के निर्णय लेता है। इस अर्थ में भारतीय संयुक्त परिवार को निरंकुश सामाजिक संरचना वाला परिवार भी कहा गया है।

प्रमुख समाजशास्त्रियों ने संयुक्त परिवार की परिभाषाएँ निम्न प्रकार से दी हैं–

- **कर्वे–**''एक संयुक्त परिवार उन व्यक्तियों का समूह है जो एक ही छत के नीचे रहते हैं, जो एक रसोई में पका भोजन करते हैं जो सामान्य संपत्ति के अधिकारी होते हैं, जो सामान्य पूजा में भाग लेते हैं तथा जो परस्पर एक-दूसरे से विशिष्ट नातेदारी से संबंधित हैं।''

नोट

- **देसाई**–''हम उस परिवार को संयुक्त परिवार कहते हैं जिसमें एकाकी परिवार की अपेक्षा अधिक पीढ़ियों (तीन या उससे अधिक) के सदस्य सम्मिलित होते हैं और जो एक-दूसरे से संपत्ति, आय और परस्पर अधिकारों तथा कर्त्तव्यों द्वारा बँधे होते हैं।''
- **श्रीनिवास**–''वह गृहस्थ समूह, जो प्रारंभिक परिवार से बड़े होते हैं और जिनमें सामान्यत: दो या दो से अधिक एकाकी परिवार पाए जाते हैं, संयुक्त या विस्तृत परिवार कहलाते हैं।''
- **वॉटमोर**–''भूतकाल में यह एक संगठित समूह के समान था जिसमें सामान्य संपत्ति तथा रक्षक देवता की आमतौर पर पूजा तथा परिवार के प्रमुख (साधारणत: पुरुषों में सबसे ज्येष्ठ पुरुष) के द्वारा शक्ति का प्रयोग होता है।''

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर यह कहना अधिक उचित होगा कि प्रत्येक विद्वान् का अपना स्वतंत्र दृष्टिकोण है। फिर भी, इन परिभाषाओं के आधार पर संयुक्त परिवार की एक गृहस्थ समूह के रूप में मौलिक विशेषताओं का पता चलता है। संयुक्त परिवार में रक्त संबंध व विवाह के आधार पर सदस्यता मिलती है, सदस्यों में सामान्य संपत्ति व पारस्परिक अधिकारों एवं कर्त्तव्यों की भावना पाई जाती है। सदस्य मुख्यत: एक साथ रहते हैं सामान्य रूप में पूजा में भाग लेते हैं तथा एक ही रसोई का भोजन करते हैं। परंतु यह जरूरी नहीं है कि सभी सदस्य एक ही छत के नीचे रहें। अगर कोई सदस्य नौकरी के कारण बाहर रहता है परंतु पैतृक घर को अपना घर समझता है, सामूहिक पूजा इत्यादि में उपस्थित रहता है, बड़ों के प्रति अपने अधिकारों और कर्त्तव्यों को समझता है तो वह भी संयुक्त परिवार का ही सदस्य है।

संयुक्त परिवार की विशेषताएँ (Characteristics of Joint Family)

संयुक्त परिवार की प्रमुख विशेषताएँ निम्न हैं–

1. **बड़ा आकार**–संयुक्त परिवार में एकाकी परिवार की तुलना में अधिक पीढ़ियों के सदस्य रहते हैं। साथ ही, इसमें कई एकाकी परिवार पाए जाते हैं अर्थात् कई विवाहित भाई अपने बच्चों तथा माता-पिता के साथ रहते हैं। इस कारण संयुक्त परिवार का आकार बड़ा होता है और सदस्यों की संख्या 30-40 तक होना सामान्य बात होती है।
2. **सामान्य निवास स्थान**–कुछ विद्वानों जैसे **मजूमदार व मदान, किंग्स्ले डेविस, इरावती कर्वे** आदि ने संयुक्त परिवार के लिए संयुक्त निवास स्थान का होना एक आवश्यक लक्षण माना है। परंतु **आई. पी. देसाई** संयुक्त निवास स्थान के पक्ष में नहीं हैं। उनका विचार है कि आधुनिक युग में यह आवश्यक नहीं है कि सभी सदस्य एक साथ रहें।
3. **सामान्य संपत्ति**–संयुक्त परिवार में व्यक्तिगत संपत्ति का कोई महत्त्व नहीं होता है। परिवार का सदस्य चाहे अधिक धन उपार्जन करता हो या कम, सभी का संपत्ति पर समान अधिकार होता है अर्थात् संपत्ति किसी व्यक्ति-विशेष की न होकर संपूर्ण परिवार की होती है।
4. **सहयोगी भावना**–इस भावना को 'हम की भावना' की संज्ञा दी जा सकती है। सदस्य चाहे साथ रहें या अलग, पर वे अपने परिवार के हित तथा कल्याण हेतु त्याग करने के लिए सदैव तैयार रहते हैं। संयुक्त परिवार में सदस्य अपने बारे में कम तथा अन्य सदस्यों के बारे में अधिक सोचता व करता है। उसे दूसरे सदस्यों की आवश्यकताओं के सामने अपनी आवश्यकता तुच्छ लगती है।
5. **कर्त्ता की प्रधानता**–संयुक्त परिवार के कर्त्ता को परिवार के बारे में प्रत्येक निर्णय लेने का अधिकार प्राप्त होता है। परिवार का प्रतिनिधित्व कर्त्ता के द्वारा होता है जो कि अपनी अधिक आयु के कारण अनुभवी एवं परिपक्व होता है तथा परिवार के सदस्यों के मध्य उसके सुझाव व निर्णय एक मत से स्वीकारे जाते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि संयुक्त परिवार का सारा कार्य कर्त्ता के निर्देशन में होता है।
6. **सामान्य पूजा**–संयुक्त परिवार के सदस्य सामान्यत: एक देवता या देवी की आराधना करते हैं। पितरों की पूजा पितृ प्रधान परिवार की विशेषता है तथा संयुक्त परिवार के सभी सदस्य इस पूजा में भाग लेते हैं।

नोट

दैनिक धार्मिक कृत्य, त्योहारों के समय पूजा तथा अन्य धार्मिक कार्य, उत्सव एवं त्योहार संयुक्त परिवार के सदस्यों को एक साथ बाँधे रखते हैं।

7. **सामान्य रसोई**–संयुक्त परिवार के सदस्य एक ही रसोई का पका हुआ भोजन करते हैं। परंतु यह विशेषता तभी संभव है जबकि सभी सदस्य एक साथ निवास करते हों।
8. **पारस्परिक अधिकार एवं कर्त्तव्य**–संयुक्त परिवार के सदस्यों में एक दूसरे के प्रति अधिकारों तथा कर्त्तव्यों की भावना पाई जाती है। बड़े, छोटे को स्नेह देते हैं, उनका समाजीकरण करते हैं तथा उनकी आवश्यकताओं को यथासंभव पूरा करने का प्रयास करते हैं जबकि छोटे, बड़ों का सम्मान करते हैं तथा उनकी आज्ञा का पालन करते हैं। बिना इस पारस्परिक सहयोग के संयुक्त परिवार नहीं चल सकता।
9. **सांस्कृतिक निरंतरता**–संयुक्त परिवार में एकाकी परिवार की तुलना में प्रथाओं व परंपराओं का पालन अधिक कठोर रूप से होता है। कर्त्ता का प्रभुत्व होने के कारण सभी सदस्यों को इन्हें मानना पड़ता है जो आगे चलकर उनके जीवन का एक अंग बन जाता है तथा जब एक और पीढ़ी आती है तो ये सदस्य उन्हें इन्हीं नियमों व प्रथाओं का पालन कराते हैं जिनका वे खुद पालन कर चुके हैं। इस प्रकार, संयुक्त परिवार के सदस्य समाज के सांस्कृतिक तत्त्वों को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित करते हैं।

संयुक्त परिवार के प्रकार (Type of Joint Family)

संयुक्त परिवार को दो प्रमुख आधारों पर वर्गीकृत किया जा सकता है।

(अ) सत्ता, वंश व स्थान के आधार पर
(On the basis of Familial Authority, Clan and Place)

1. **पितृसत्तात्मक संयुक्त परिवार**–इस प्रकार के परिवार में पुरुषों की प्रधानता होती है। वंश परंपरा पिता से पुत्र को मिलती है तथा पिता की संपत्ति का उत्तराधिकारी पुत्र होता है। विवाह के पश्चात् वधू अपने पति (जो संयुक्त परिवार में रहता है) के घर आ जाती है। घर में जो अधिक आयु का पुरुष है वही कर्त्ता कहलाता है तथा उसके निर्देशन में ही पारिवारिक कार्य होते हैं। भारत में अधिकांश संयुक्त परिवारों का प्रकार पितृसत्तात्मक है।
2. **मातृसत्तात्मक संयुक्त परिवार**–मातृसत्तात्मक संयुक्त परिवारों की संख्या बहुत कम है। केरल में ऐसे परिवारों को धारवाड़ या तारवाड़ कहते हैं। गारो तथा खासी लोग भी मातृसत्तात्मक परिवारों में रहते हैं। मातृसत्तात्मक परिवार में वंश का नाम माँ के नाम से चलता हैं। मातृसत्तात्मक संयुक्त परिवार का निर्माण स्त्री, उसके भाई-बहनों तथा उनके बच्चों से होता है। पति को पत्नी के घर जाकर रहना पड़ता है। संपत्ति का अधिकार स्त्री से पुत्रियों तथा भाई के पुत्रों (भांजों) को प्राप्त होता है। इस प्रकार के परिवार में कर्त्ता घर की बड़ी-बूढ़ी स्त्री होती है। तारवाड़ के कर्त्ता को 'कार्णवती' कहते हैं।

नोट्स मातृसत्तात्मक परिवारों में परिवार की मुखिया स्त्री होती है और परिवार का निर्माण उसके भाई-बहनों तथा उसके बच्चों से होता है।

मातृसत्तामक तथा पितृसत्तात्मक परिवारों में निम्नलिखित प्रमुख अंतर पाए जाते हैं–

1. मातृसत्तात्मक परिवारों में वंश माता के नाम पर होता है, जबकि पितृसत्तात्मक परिवारों में वंश पिता के नाम पर होता है।
2. मातृसत्तात्मक परिवार मातृस्थानीय होते हैं अर्थात् लड़की विवाह के पश्चात् अपनी माता के परिवार में ही रहती है और उसका पति वहाँ आकर रहता है, जबकि पितृसत्तात्मक परिवार पितृस्थानीय होते हैं।
3. मातृसत्तात्मक परिवारों में संपत्ति पुत्रियों को अथवा भांजों को प्राप्त होती है, जबकि पितृसत्तात्मक परिवारों में पुत्रों को।

नोट

4. मातृसत्तात्मक परिवारों की देख-रेख सामान्यत: भाई करते हैं अर्थात् जिस स्त्री का परिवार है उसका भाई उसकी देख-रेख करता है, जबकि पितृसत्तात्मक परिवारों में ऐसी कोई व्यवस्था नहीं पाई जाती है।
5. मातृसत्तात्मक परिवारों में लड़का पिता की अपेक्षा अपने मामा के अधिक नजदीक होता है, जबकि पितृसत्तात्मक परिवारों में लड़का पिता के अधिक नजदीक होता है।

(ब) संपत्ति के आधार पर (On the basis of Property)

1. **मिताक्षरा संयुक्त परिवार**–मिताक्षरा का नियम **विज्ञानेश्वर महाराज ने बनाया जिसका आधार 'याज्ञवल्क्य स्मृति'** है। इसके अनुसार पिता संपत्ति का एकमात्र अधिकारी न होकर संरक्षक होता है। इस सिद्धांत के अनुसार बालक को गर्भ में आते ही संपत्ति का अधिकारी मान लिया जाता है। पुत्र अपने पिता से किसी भी समय अपने हिस्से की संपत्ति की माँग कर सकता है। कालांतर युग में नीतिशास्त्रियों ने ऐसी व्यवस्था की जिसमें पिता के जीवित रहते हुए पुत्र संपत्ति की माँग नहीं कर सकता है, परंतु अगर पिता दुर्व्यसनी है तथा संपत्ति का गलत उपयोग कर रहा है तो वह अपना भाग माँग सकता है। विज्ञानेश्वर के अनुसार उत्तराधिकारियों के क्रम इस प्रकार हैं–(1) पुत्र, (2) पौत्र, (3) प्रपौत्र, (4) धर्मपरायण विधवा, (5) अविवाहित पुत्री, तथा बाद में (6) विवाहित पुत्री। इस नियम के अंतर्गत कर्त्ता अपनी संपत्ति का विक्रय या दान नहीं कर सकता है। यह नियम जिन संयुक्त परिवारों में माना जाता है। उनमें हिस्सेदारी की मृत्यु होने के बाद उसका भाग उसके रक्त-संबंधियों में वितरित हो जाता है। इस प्रणाली के अनुसार संयुक्त परिवार एक प्रकार का निगम कहा जा सकता है। यह प्रणाली भारत में बंगाल और असम को छोड़कर शेष सभी भागों में पाई जाती रही है।
2. **दायभाग संयुक्त परिवार**–दायभाग नियम के प्रवर्तक जीमूतवाहन थे। यह सिद्धांत बंगाल में बहुत ज्यादा प्रचलित है। इस नियम के अनसुार संपत्ति पर सामूहिक अधिकार होता है, व्यक्तिगत नहीं। पिता के जीवित रहते हुए संपत्ति पर किसी का अधिकार नहीं होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि पिता के जीवनकाल में संपत्ति का बँटवारा पुत्र नहीं कर सकता है। पिता के जीवति रहने तक पुत्र को केवल भरण-पोषण का ही अधिकार होता है। पिता की मृत्यु के पश्चात् पितृ-पक्ष की ओर छह पीढ़ी (तीन पीढ़ी नीचे व तीन पीढ़ी ऊपर) तक कोई पुरुष रक्त संबंधी जीवित न हो तथा मृतक की पत्नी भी जीवित न हो तो संपत्ति प्राप्त करने का अधिकार मातृ-पक्ष के किसी व्यक्ति को प्राप्त होता है।

   आधुनिक समय में संपत्ति के उत्तराधिकार के नियम (विशेषत: हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956) बन जाने के बाद दोनों प्रकार के संयुक्त परिवारों में अंतर समाप्त हो गए हैं और अब पूरे भारत में एक-सी व्यवस्था लागू है।

संयुक्त परिवार के कार्य या लाभ (Functions or Advantages of Joint Family)

संयुक्त परिवार की निरंतरता अब तक बने होने के प्रमुख कारण उसके मूलभूत कार्य या लाभ हैं। संयुक्त परिवार के कार्यों या लाभों को अग्रलिखित दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है–

(अ) सामाजिक कार्य या लाभ (Social Functions or Advantages)

संयुक्त परिवार के प्रमुख सामाजिक कार्य या लाभ निम्नलिखित हैं–

1. **सामाजिक सुरक्षा**–संयुक्त परिवार अपने सदस्यों को सामाजिक एवं मानसिक सुरक्षा प्रदान करता है। संयुक्त परिवार में वृद्ध, शिशु, विधवा तथा अपाहिजों आदि का उनके सामाजिक पद के अनुसार भरण-पोषण किया जाता है। ये अवस्थाएँ अत्यंत ही असहाय अवस्थाएँ होती है, परंतु संयुक्त परिवार के कारण ही दूसरे लोगों से मदद नहीं माँगनी पड़ती है।
2. **समाजीकरण तथा शिक्षा**–संयुक्त परिवार काफी उम्र के सदस्य रहते हैं जो अच्छा बुरा समझते हैं और उन लोगों की देख-रेख में नई पीढ़ी सामाजिक नियमों, प्रथाओं, परंपराओं, धर्म आदि से अर्थात् अपने समाज व संस्कृति से परिचित होती है। सामान्यत: यह देखा गया है कि संयुक्त परिवार में समाजीकरण बहुत ही अच्छे ढँग से होता है क्योंकि बच्चे अनेक सदस्यों के मध्य रहते हुए ममत्व, प्रेम व त्याग सीखते

नोट

हैं। यहाँ संकुचित स्वार्थ को कोई स्थान नहीं मिलता है। इस प्रकार संयुक्त परिवार समाजीकरण व शिक्षा के द्वारा समाज को सफल नागरिक देता है।

3. **संस्कृति की निरंतरता**–भारतीय समाज में अनेक प्रकार की उथल-पुथल होने के बाद भी भारतीय संस्कृति अपनी जगह विद्यमान है। इसका श्रेय संयुक्त परिवार को ही जाता है। संयुक्त परिवार में पुरानी पीढ़ी के लोग रहते हैं और उनका प्रभाव सारे सदस्यों पर होता है। इस कारण जो नियम, प्रथा, धार्मिक संस्कार आदि वे मानते आते हैं, उन्हें अपने सदस्यों से भी मनवाते हैं। अगर कोई सदस्य इनका विरोध करने का प्रयत्न करे तो परिवार के अन्य लोगों के सामने उसकी बात अनसुनी कर दी जाती है जिसके परिणामस्वरूप संस्कृति का जो मूलरूप होता है वह एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित होता रहता है।
4. **मनोरंजन का साधन**–व्यक्ति अगर अकेले रहे या बहुत कम सदस्यों के साथ रहे तो स्वाभाविक है कि उसमें ऊब पैदा होगी, परंतु संयुक्त परिवार में हमेशा चहल-पहल रहती है। किसी-न-किसी का आना-जाना हमेशा ही लगा रहता है। इसके अतिरिक्त, परिवार में आपसी वार्तालाप, हँसी-मजाक तथा अनेक प्रकार के सामाजिक व धार्मिक त्योहार होते ही रहते हैं जिनसे सदस्य अपनी थकान व ऊब दूर कर लेते हैं। साथ ही, छोटे बच्चों के खेल, उनकी मधुर मुस्कान, उनकी बातें आदि सदस्यों का मनोरंजन करती रहती हैं। इस प्रकार, संयुक्त परिवार स्वयं अपने आप में मनोरंजन का साधन बन जाता है।
5. **अनुशासन तथा सामाजिक नियंत्रण**–संयुक्त परिवार धार्मिक व नैतिक आधार पर व्यक्ति की व्यक्तिवादी धारणा को नियंत्रित करते हैं। यह नियंत्रण मनुष्य के बाहरी एवं आंतरिक दोनों पक्षों पर होता है। चूँकि घर का कर्त्ता वृद्ध व्यक्ति होता है, इस कारण उसके अनुभव व उम्र का ध्यान रखकर लोग उसके पारिवारिक निर्देशों का पालन करते हैं। घर की महिलाओं पर नियंत्रण व अनुशासन घर की वयस्क व वृद्ध महिलाएँ करती हैं। पारिवारिक अनुशासन में कठोरता होने के कारण कोई भी सदस्य गलत या अनैतिक कार्य नही करता है।
6. **देश सेवा या समाज सेवा का अवसर**–देश सेवा या समाज सेवा के लिए आवश्यक है कि व्यक्ति को अपने परिवार, विशेषकर माता-पिता व पत्नी तथा संतान की चिंता न हो। संयुक्त परिवार संपूर्ण दायित्व के साथ अपने सदस्यों की देखभाल करता है इसलिए व्यक्ति देश सेवा या समाज सेवा के कार्य बिना किसी चिंता व दुविधा के करता है। उसे ज्ञात रहता है कि उसकी अनुपस्थिति में भी उसके परिवार के सदस्य आर्थिक व सामाजिक रूप से पूर्णत: सुरक्षित हैं।

(ब) आर्थिक कार्य या लाभ (Economic Functions or Advantages)

सामाजिक कार्यों एवं लाभों के अतिरिक्त, संयुक्त परिवार के कुछ आर्थिक कार्य या लाभ भी हैं जिनमें से प्रमुख निम्नलिखित हैं–

1. **धन का उचित उपयोग**–संयुक्त परिवार के सदस्यों द्वारा अपनी आय के द्वारा संयुक्त कोष का निर्माण होता है तथा सुविधाओं का समान प्रबंधन होने के कारण प्रति व्यक्ति खर्च कम होता है। कर्त्ता परिवार के अनावश्यक व्यय पर नियंत्रण रखता है जिसके फलस्वरूप फिजूलखर्ची पर रोक लग जाती है। सभी सदस्यों का भोजन एक ही रसोईघर में बनता है और खाद्य-सामग्री थोक भाव से आती है। इससे पैसे की बचत के साथ खाद्य-सामग्री का दुरुपयोग नहीं हो पाता है। इन कारणों से संयुक्त परिवार को समाजवादी संगठन का छोटा रूप कहा जाता है।
2. **संपत्ति विभाजन से रक्षा**–अगर संपत्ति बार-बार विभाजित होती रहे तो अंत में एक ऐसी अवस्था आ सकती है जब संपत्ति नाम मात्र भी न बचे। मिताक्षरा के अंतर्गत कर्त्ता को संपत्ति बेचने अथवा बंधक रखने के अधिकार प्राप्त नहीं हैं। परिवार का कार्य सामान्य कोष से चलने के कारण संपत्ति विभाजित नहीं होती है।
3. **श्रम-विभाजन की व्यवस्था**–सुचारु रूप में कार्य होने के लिए आवश्यक है कि कार्य सही लोगों के द्वारा किए जाएँ। संयुक्त परिवार अपने सदस्यों को योग्यता के अनुसार ही कार्य सौंपता है जिस कारण कार्य सुचारु ढँग से चलते हैं। जब कार्य सही ढँग से होता है तो परिवार में संगठन बना रहता है और उपार्जन के क्षेत्र में प्रगति होती है।

नोट

इन सभी कार्यों अथवा लाभों के आधार पर हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि संयुक्त परिवार एक निगम के समान है जिसमें सभी व्यक्ति अपनी योग्यता के अनुसार अर्जन करते हैं और आवश्यकता के अनुसार व्यय करते हैं। संयुक्त परिवार सभी प्रकार से आरामदायक और लाभदायक हैं। सदस्यों में स्वार्थ के स्थान पर त्याग की भावना तथा द्वेष के स्थान पर प्रेम की भावना रहती है जिसके कारण यह प्रणाली सदैव अच्छे ही परिणाम उत्पन्न करती है।

संयुक्त परिवार के अकार्य या दोष (Dysfunctions or Disadvantages of Joint Family)

संयुक्त परिवार के लाभ के अतिरिक्त कुछ अकार्य अथवा दोष भी हैं जिनके कारण यह व्यवस्था दिनों-दिन कमज़ोर पड़ती जा रही है–

(अ) सामाजिक अकार्य या दोष (Social Dysfunctions or Disadvantages)

संयुक्त परिवार के प्रमुख सामाजिक अकार्य या दोष निम्नलिखित हैं–

1. **व्यक्तित्व के विकास में बाधक**–संयुक्त परिवार में कर्त्ता की इच्छा को प्रधानता मिलने के कारण अन्य सदस्य अपनी इच्छा एवं अपने विचारों के अनुसार कोई भी स्वतंत्र कार्य नहीं कर सकता है। कर्त्ता जो आदेश दे, चाहे वह सही है या गलत, उसे सभी सदस्यों को मानना पड़ता है। संयुक्त परिवार में रूढ़िवादी अनुशासन के कारण सदस्यों के गुणों को विकसित होने का मौका ही नहीं मिलता है। शिक्षा, विवाह, व्यवसाय इन तमाम महत्त्वपूर्ण विषयों पर कर्त्ता की राय ही अंतिम राय मानी जाती है। इन कारणों से व्यक्तित्व के विकास में संयुक्त परिवार बाधक माना जाता है।
2. **द्वेष और कलहपूर्ण वातावरण**–प्रत्येक सदस्य स्वतंत्रता न मिलने के कारण पारिवारिक वातावरण से क्षुब्ध रहता है और अपने असंतोष को कलह के रूप में व्यक्त करने का प्रयत्न करता है, तथा दूसरा यह कि पुरुष जिन छोटी-छोटी बातों को देखते नहीं या अनदेखा करने का प्रयास करते हैं, महिलाएँ उन्हीं बातों को देखती हैं और उन्हें कई गुना बढ़ाकर सामने लाती हैं और चाहे पुत्र हो या पति, उसे उत्तेजित करती हैं कि इसका समाधान करो। इसका परिणाम द्वेष तथा कलह होता है। महिला सदस्यों के कलहपूर्ण वातावरण और अशांत पारिवारिक वातावरण में रहने वाला व्यक्ति न तो ठीक ढँग से घर का कार्य कर सकता है और न बाहर का ही। साथ ही, द्वेष तथा कलह व्यक्ति के व्यक्तित्व को विघटित भी करते हैं।
3. **कर्त्ता की स्वेच्छाचारिता**–संयुक्त परिवार में कर्त्ता की प्रवृत्ति में अधिनायकवाद स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। वह यह मान लेता है कि आयु में बड़ा एवं अनुभवी होने के कारण मेरे सोचने व काम करने के ढँग में कोई दोष नहीं है। कर्त्ता आयु में अधिक होने के कारण रूढ़िवादी विचारों का भी समर्थक होता है। अगर कोई अन्य पीढ़ी का सदस्य कोई नई बात या विचार सामने रखे तो कर्त्ता की निगाहों में वह असभ्यता और विद्रोह है।
4. **स्त्रियों की हीन दशा**–संयुक्त परिवारों में (पितृसत्तात्मक) स्त्रियों को आर्थिक उत्पादन के कार्यों में भाग न लेने के कारण निम्न दृष्टि से देखा जाता रहा है। केवल कुछ निम्न जातियों में ही स्त्रियाँ आर्थिक उत्पादन का कार्य करती है। संयुक्त परिवार में रूढ़िवादिता की प्रधानता होने के कारण स्त्रियों को कुल की प्रतिष्ठा के रूप में देखा जाता है और इस कारण उनके अधिकारों तथा हितों का हनन किया गया है।
5. **सामाजिक समस्याओं का उद्‌गम**–बाल-विवाह, विधवा-पुनर्विवाह पर रोक, दहेज प्रथा, सती प्रथा, अशिक्षा, पर्दा तथा स्त्रियों की निम्न दशा जैसी सामाजिक समस्याओं का जन्म संयुक्त परिवार से ही हुआ है जिसका प्रधान कारण कर्त्ता की स्वेच्छाचारिता एवं रूढ़िवादी वातावरण रहा है। कर्त्ता की इच्छा से ही बाल विवाह हुआ करते थे। विधवा पुनर्विवाह पर रोक होने के कारण अगर कोई विधवा पुनर्विवाह करना भी चाहे तो उसे तिरस्कृत किया जाता था और ऐसी परिस्थिति में उससे कोई भूल हो जाना स्वाभाविक है। संयुक्त परिवार ने सती प्रथा व अशिक्षा को भी बढ़ावा दिया है।

नोट

6. **स्वस्थ वैवाहिक जीवन में बाधक**–स्वस्थ वैवाहिक जीवन के लिए वर तथा वधू में वैचारिक सामंजस्य होना आवश्यक है। यह तभी संभव हो सकता है जब वे परस्पर एक-दूसरे के विचारों से परिचित हों। परंतु सदस्यों की अधिकता होने के कारण तथा गोपनीयता का अभाव होने के कारण ऐसा संभव नहीं हो पाता है। पहले दूसरे सदस्यों के सामने पति-पत्नी का बातें करना अभद्रता या शालीनता के विरुद्ध माना जाता था। इस कारण परंपरागत मान्यताओं व प्रथाओं से प्रभावित संयुक्त परिवार स्वस्थ वैवाहिक जीवन में हमेशा से बाधक रहा है।
7. **कृत्रिम पारिवारिक वातावरण**–संयुक्त परिवार में मुखिया का निरंकुश शासन होने के कारण तथा पारस्परिक अधिकारों एवं कर्त्तव्यों की भावना के कारण, छोटों को न चाहते हुए भी बड़ों का सम्मान करना पड़ता है। सदस्य मनचाहा व्यवहार न करके कृत्रिम व्यवहार करते हैं अर्थात् ऊपर से देखने में तो सदस्यों में परस्पर सहयोग एवं स्नेह दिखाई देता है परंतु वास्तव में ऐसा नहीं होता। साथ ही बड़ा आकार होने के कारण तथा कृत्रिम व्यवहार के कारण संबंधों में औपचारिकता आ जाती है।
8. **संतानोत्पादन में वृद्धि**–चूँकि संयुक्त परिवार में बाल विवाह को प्रोत्साहन मिलता है तथा बच्चों का पालन-पोषण किसी व्यक्ति द्वारा पूरा नहीं किया जाता क्योंकि सामान्य कोष पाया जाता है इसलिए अधिक बच्चों को भी कोई बोझ नहीं समझा जाता है। नए दंपत्ति को भी संयुक्त परिवार में सभी प्रकार की सुरक्षा मिली होती है। ये सभी कारण संतानोत्पादन की वृद्धि में सहायक होते हैं।

(ब) आर्थिक अकार्य या दोष (Economic Dysfunctions or Disadvantages)

संयुक्त परिवार के प्रमुख आर्थिक अकार्य या दोष निम्नलिखित हैं–

1. **श्रम की गतिशीलता तथा कुशलता में बाधक**–संयुक्त परिवार का कोई भी सदस्य मौका मिलने या रोज़गार मिलने पर भी बाहर जाकर काम करना पसंद नहीं करता है। इसका प्रमुख कारण अपने परिवार से मोह, परंपरा की प्रवृत्ति तथा पारिवारिक सुविधाओं से वंचित न होने की भावना है। वह सोचता है कि अगर मैं बाहर काम करने जाऊँगा तो वे सुविधाएँ प्राप्त नहीं होंगी जो मुझे मेरे परिवार में प्राप्त हो रही हैं। संयुक्त परिवार में जो व्यक्ति परिश्रम करते हैं उन्हें जीवन भर अधिक से अधिक परिश्रम करना पड़ता है। इसका कारण यह है कि घर में कुछ सदस्य ऐसे भी होते हैं जो किसी भी प्रकार की आर्थिक मदद नहीं करना चाहते पर सुविधाओं का लाभ उठाना चाहते हैं। इससे परिश्रमी सदस्य की कार्य कुशलता प्रभावित होती है।
2. **सामान्य निर्धनता**–संयुक्त परिवार में कुछ आलसी सदस्य होते हैं जो किसी प्रकार का सहयोग नहीं देते अपितु जमा होने वाले सामान्य कोष का उपयोग करते हैं। इस कारण दूसरे सदस्य अधिक धन उपार्जन के संबंध में उदासीन हो जाते हैं वे सोचते हैं कि अधिक धन कमा कर कोई लाभ नहीं क्योंकि वे उसे व्यक्तिगत रूप से खर्च नहीं कर सकते। संयुक्त परिवार में कमाने वालों की संख्या कम व खाने वालों की संख्या अधिक होती है जिसके कारण संयुक्त परिवार में सामान्य निर्धनता बनी रहती है।
3. **नवीन आर्थिक विचारों के विरुद्ध**–औद्योगिक प्रगति के साथ कुटीर उद्योग समाप्त हो गए हैं तथा आर्थिक उत्पादन के केंद्र के रूप में कृषि का महत्त्व कम हो गया है। परंतु परिवार का मोह तथा परंपरागत व्यवसाय के कारण सदस्य बाहर जाकर फैक्ट्री में काम करने के विरुद्ध हैं। इस प्रकार पुरातन विचार होने के कारण उनका प्रभाव संयुक्त परिवार के आर्थिक पक्ष पर पड़ा है।
4. **आर्थिक निर्भरता की भावना**–संयुक्त परिवार में सामान्य संपत्ति, सामान्य कोष तथा जीवन निर्वाह के लिए सामूहिक योगदान के कारण आर्थिक निर्भरता की भावना विकसित हो जाती है। इससे सदस्यों में स्वावलंबन नहीं आ पाता तथा उनका व्यक्तित्व अविकसित रह जाता है।

इस प्रकार, संयुक्त परिवार के जहाँ गुण हैं तो वहीं अनेक दोष भी हैं। प्राचीन समय में संयुक्त परिवारों के जो गुण थे वे आधुनिक युग में लुप्त होते जा रहे हैं।

संयुक्त परिवार में आधुनिक परिवर्तन (Recent Changes in Joint Family)

नोट

वर्तमान भारतीय परिस्थितियों में संयुक्त परिवार एक नाजुक दौर से गुजर रहा है। उसमें अनेक परिवर्तन हो रहे हैं। कुछ समाजशास्त्रियों के दृष्टिकोण में यह विघटन की स्थिति में है और कुछ समाजशास्त्री इसे परिवर्तन की संज्ञा देते हैं। आज संयुक्त परिवार की संरचना तथा कार्य दोनों ही में परिवर्तन हो रहे हैं और इसलिए प्रश्न उभरता है कि क्या संयुक्त परिवार जीवित रहेगा? इसका उत्तर देने से पहले इसमें होने वाले परिवर्तनों एवं इन परिवर्तनों के कारणों को जान लेना अनिवार्य है। महत्त्वपूर्ण परिवर्तन निम्नलिखित हैं–

1. **संपत्ति के अधिकारों में परिवर्तन**–संयुक्त परिवार में संपत्ति के अधिकारों में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं जिनका श्रेय वर्तमान क़ानूनों को जाता है। पहले संयुक्त परिवार में संपत्ति पर सदस्यों का व्यक्तिगत अधिकार नहीं था परंतु 'हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम 1956' के लागू होने के बाद उन सदस्यों को संपत्ति संबंधी अधिकार दिए गए जो संयुक्त परिवार से अलग होना चाहते थे। 'हिंदू स्त्रियों का संपत्ति पर अधिकार क़ानून, 1939' ने संयुक्त परिवार में स्त्रियों को भी संपत्ति के अधिकार दिए है। इसका प्रभाव संयुक्त परिवार के आकार तथा स्थिरता पर पड़ा है।
2. **परंपरागत व्यवसाय के महत्त्व में कमी**–पहले संयुक्त परिवार की प्रमुख आधारशिला परंपरागत व्यवसाय था, परंतु औद्योगीकरण, नगरीकरण, पश्चिमीकरण तथा शिक्षा के समान अवसरों ने सभी लोगों को व्यवसाय चुनने के समान अवसर दिए हैं। जब सदस्यों ने पाया कि परंपरागत व्यवसाय की तुलना में नवीन व्यवसायों का आर्थिक लाभ व सामाजिक प्रतिष्ठा अधिक है तो वे परंपरागत पेशों को छोड़ने लगे। लोगों का शहरों की तरफ पलायन हुआ और संयुक्त परिवार टूटते रहे।
3. **संबंधों में परिवर्तन**–परिस्थिति व समय के साथ व्यक्ति आत्मकेंद्रित हो गया है। पहले जिन संबंधों के कारण वह सब कुछ करने को तैयार हो जाता था या जो 'एक के लिए सब, सबके लिए एक' की भावना पाई जाती थी, वह अब समाप्त हो गई है। स्त्रियों को समान अधिकार मिल जाने के कारण लिंग संबंधों में भी काफी परिवर्तन आ गया है क्योंकि अब पुरुष का निरंकुश शासन नहीं रहा है।
4. **धार्मिक प्रवृत्ति का ह्रास**–पहले संयुक्त परिवार धार्मिक कार्यों को पूरा करना अपना दायित्व व सम्मान समझते थे, पर विज्ञान के विकास के साथ व तर्क को प्रधानता मिलने के कारण धर्म के प्रति उदासीनता बढ़ गई है। पहले धर्म एक महत्त्वपूर्ण बंधन था जो एक सदस्य को दूसरे के साथ, बाँधे रखता था परंतु आज यह भी मृतप्राय होने लगा है। साथ ही, परिवार के सदस्यों में धार्मिक विजातीयता बढ़ती जा रही है जिस कारण परिवार के सदस्यों में आज इतना मतैक्य नहीं है।
5. **कर्त्ता की स्वेच्छाचारिता पर अंकुश**–पहले कर्त्ता के पास आर्थिक, सामाजिक व धार्मिक अधिकार थे जिनके माध्यम से वह अपने सदस्यों को नियंत्रित करता था। परंतु नई शिक्षा, विज्ञान के महत्त्व तथा क़ानून के सहयोग के कारण कर्त्ता का आज वह पद नहीं रहा जो पहले था। प्रजातांत्रिक विचारों के कारण आज कर्त्ता अपने निर्णय को दूसरे सदस्यों पर नहीं थोप सकता है।
6. **युवा सदस्यों की शक्ति में वृद्धि**–शिक्षा एवं प्रजातांत्रिक विचारों ने नई पीढ़ी को शक्ति दी है। इस कारण आज वे परंपरागत तथा रूढ़िवादी विचारों को मानने के लिए तैयार नहीं हैं। समय के साथ मूल्यों में परिवर्तन हो चुके हैं और युवा सदस्य इन नए मूल्यों को अपने परिवार में प्रवेश कराने की चेष्टा करते हैं। अगर कर्त्ता युवा सदस्यों पर परंपरागत विचारों को लादना चाहता है तो वे तैयार नहीं होते हैं जिस कारण नई तथा पुरानी पीढ़ियों में संघर्ष होता है।
7. **आकार का ह्रास**–आज संयुक्त परिवार का आकार भी छोटा हो गया है। इसका कारण यह है कि वर्तमान परिस्थितियों में अधिक सदस्य इच्छा रहने पर भी एक साथ नहीं रह सकते हैं। प्रत्येक व्यक्ति जितना श्रम कर रहा है, जितना कमा रहा है उसका वह पूर्ण उपभोग करना चाहता है जो अधिक सदस्यों के साथ रहकर नहीं हो सकता है। इस कारण, संयुक्त परिवार का आकर छोटा हो गया है।
8. **परिवार के महत्त्व में कमी**–संयुक्त परिवार के परंपरागत व आर्थिक कार्य दूसरी संस्थाओं ने ले लिए हैं उदाहरण के लिए–पहले उत्पादन का कार्य संयुक्त परिवार करता था परंतु अब उन कार्यों को औद्योगिक संस्थानों ने ले लिया है। शिक्षा, स्कूल व कोचिंग सेंटर में है। पहले संयुक्त परिवार से पद मिलता था परंतु

नोट

आज काम तथा पद योग्यता व धन के आधार पर मिलता है। सामाजिक गतिशीलता में वृद्धि तथा परंपरागत कार्यों में कमी के कारण इसका महत्त्व कम होता जा रहा है।

9. **स्त्रियों की स्थिति में परिवर्तन**–पहले स्त्रियों तथा बच्चों की स्थिति संयुक्त परिवार में इतनी अच्छी नहीं थी परंतु शिक्षा तथा अन्य कारणों से स्त्रियों को समानता तथा अधिक स्वतंत्रता मिल गई है। वे परिवार से बाहर नौकरी करने लगी हैं तथा आज निश्चित रूप से स्त्रियों की स्थिति में सुधार हुआ है।

संयुक्त परिवार की संरचना एवं कार्यों में परिवर्तन
(Changes in the Structure and Functions of Joint Family)

आधुनिक युग में संयुक्त परिवार की संरचना तथा कार्यों में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो रहे हैं जिसके आधार पर कुछ विद्वानों ने तो यहाँ तक कह दिया कि संयुक्त परिवार समाप्त हो रहे हैं। इन परिवर्तनों को निम्न प्रकार से समझा जा सकता है–

(अ) परिवार की संरचना में परिवर्तन (Change in the Structure of Family)

परिवार की संरचना में होने वाले प्रमुख परिवर्तन निम्नलिखित है–

1. **परिवार के आकार में परिवर्तन**–पाश्चात्य सभ्यता, आवास की समस्या, जनसंख्या में वृद्धि, आत्मकेंद्रित विचारधारा आदि कुछ ऐसे प्रमुख कारण हैं जिनसे परिवार का आकार छोटा हो गया है। आकार छोटा होने का तात्पर्य है सदस्यों की संख्या में कमी। आज के आधुनिक परिवार में पति तथा पत्नी व उनके अविवाहित बच्चे ही रहते हैं।
2. **पारिवारिक सत्ता में परिवर्तन**–कर्त्ता के पास सर्वोच्च शक्ति थी। परिवार में वह जो भी कहता था उसका पालन होता था। परंतु वर्तमान स्थिति में आयु का महत्त्व कम हो गया है तथा वैयक्तिक योग्यता को अधिक महत्त्व मिलने लगा है। इस स्थिति के कारण कर्त्ता या पिता की स्थिति एवं शक्ति में परिवर्तन हो गया है। आज परिवार के सदस्यों के मतों को समान महत्त्व दिया जाता है।
3. **संबंधों में परिवर्तन**–परिवार के सदस्यों के मध्य जो अनौपचारिक संबंध थे वे अब क्रमशः औपचारिक संबंधों में परिवर्तित होते जा रहे हैं। आज प्रत्येक सदस्य निजी स्वार्थों से ग्रसित है तथा व्यक्तिवादिता निरंतर बढ़ती जा रही है। इसके कारण सदस्यों में कर्त्तव्य की भावना समाप्त होती जा रही है।
4. **विवाह के रूप में परिवर्तन**–आज विवाह का धार्मिक आधार समाप्त होता जा रहा है। इसका धार्मिक पक्ष काफी कमज़ोर हो गया है। आज के युग में विलंब-विवाह, प्रेम-विवाह, अंतर्जातीय विवाह अधिक हो रहे हैं। इनसे विवाह की प्रकृति ही बदलती जा रही है। अगर विवाह की प्रकृति में परिवर्तन होता है तो इससे परिवार की संरचना भी प्रभावित होती है।
5. **स्त्री की शक्ति में वृद्धि**–आज स्त्री को पुरुषों के समान सभी क्षेत्रों में अधिकार प्राप्त हैं। पत्नी, पति की दासी नहीं अपितु सहयोगी व मित्र है। आर्थिक क्षेत्र, शैक्षणिक व राजनीतिक क्षेत्र में पुरुषों के समान भागीदारी से उनके पद एवं सम्मान में वृद्धि हुई तथा पुरुषों की सत्ता कम हुई। इस प्रकार परिवार के कार्यों के स्वरूप में अंतर आया है।

(ब) परिवार के कार्यों में परिवर्तन (Change in the Functions of Family)

परिवार के कार्यों में होने वाले प्रमुख परिवर्तन निम्नलिखित हैं–

1. **सामाजिक तथा सांस्कृतिक कार्यों में परिवर्तन**–आज का युग परिवर्तन का युग है। समाज में हर पहलू से परिवर्तन हो रहे हैं। इन तीव्र परिवर्तनों, नवीन मूल्यों एवं आदर्शों के कारण परिवार भी प्रभावित हुआ है। परिवार के सामाजिक तथा सांस्कृतिक कार्य आज दूसरी समितियों ने ले लिए हैं।
2. **आर्थिक कार्यों में परिवर्तन**–पहले परिवार आर्थिक उत्पादन की एक इकाई था, पर अब नहीं है। पहले लोग परिवार के व्यवसाय (मुख्यतः कृषि) से अपना जीवन-यापन करते थे। वही व्यवस्था परंपरागत रूप में पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलती रहती थी। पर आज व्यक्तिवादिता तथा निजी स्वार्थ की भावना ने व्यक्ति को

नोट

स्वतंत्र रूप में आर्थिक क्षेत्र चुनने के लिए मज़बूर किया है। ज्यादा आर्थिक लाभ उसका मुख्य उद्देश्य बन गया है। इस संदर्भ में **सदरलैंड एवं वुडवर्ड** का विचार है कि, ''परिवार से आर्थिक उत्पादन का हस्तांतरण हो चुका है परंतु एक उपभोग की इकाई के रूप में अभी भी परिवार का महत्त्व बना हुआ है।''

3. **धार्मिक कार्यों में परिवर्तन**–पहले परिवार में धर्म की शिक्षा दी जाती थी। सभी सदस्यों पर धर्म का बहुत अधिक प्रभाव था और इसी कारण धर्म के द्वारा सामाजिक नियंत्रण रखा जाता था। परंतु आज वैज्ञानिक प्रगति, औद्योगीकरण, धर्मनिरपेक्षता व भौतिकवाद के कारण धर्म का स्थान गौण हो गया है। आज परिवारों में सामूहिक पूजा जैसे कार्यों को अधिक महत्त्व नहीं दिया जाता है।
4. **मनोरंजनात्मक कार्यों में परिवर्तन**–परिवार परंपरागत रूप से मनोरंजन का स्थल भी माना जाता रहा है। आज परिवार का यह कार्य भी परिवर्तित हो गया है। आज व्यावसायिक मनोरंजन का युग है। सिनेमा, रेडियो, टेलीविजन, इंटरनेट, मोबाइल या पिकनिक आदि अनेक प्रकार के साधनों के द्वारा मनुष्य मनोरंजन करना चाहता है। फुर्सत का समय दोस्तों के संग बिताने की वजह से व्यक्ति परिवार के मध्य रहना नहीं चाहता। वास्तव में व्यक्तिवादिता के कारण सामूहिक जीवन का महत्त्व भी समाप्त होता जा रहा है।

संयुक्त परिवार में परिवर्तन अथवा विघटन के कारण
(Causes Responsible for Changes or Disorganization in Joint Family)

संयुक्त परिवार में होने वाले परिवर्तनों को अधिकांश समाजशास्त्री विघटन की प्रक्रिया का प्रारंभ मानते हैं। इसी कारण, परिवर्तन हेतु विघटन के कारण शब्द का भी प्रयोग किया जाता है। प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं–

1. **औद्योगीकरण**–औद्योगीकरण की प्रक्रिया ने संयुक्त परिवार को सर्वाधिक प्रभावित किया है। इसके प्रभावों को निम्न प्रकार से समझा जा सकता है–
   - (अ) **रोज़गार के नए अवसर**–औद्योगीकरण के कारण तीव्र गति से कारखानों का उदय हुआ है जिस कारण श्रमिकों की माँग में वृद्धि हुई है। संयुक्त परिवार के सदस्य तीन कारणों से नए रोज़गार की तरफ आकृष्ट हुए हैं–(1) श्रम का महत्त्व, (2) नकद मज़दूरी तथा (3) आकर्षक सामाजिक पद व स्वतंत्र जीवन। संयुक्त परिवार का सदस्य अब यह सोचता है कि वह जीवन भर कितना भी श्रम क्यों न करे, उसे व्यक्तिगत रूप से कुछ भी लाभ नहीं होगा। इसके विपरीत, कारखाने व आफिस में काम करने से उसके श्रम को सार्थकता मिलेगी तथा साथ ही धन भी प्राप्त होगा। उसे एक विशेष पद भी प्राप्त होगा और अपनी इच्छा के अनुसार वह अपना जीवन व्यतीत कर सकता है। ये विचार उसे औद्योगिक केंद्रों की ओर आकर्षित करते हैं तथा वह अपनी पत्नी और बच्चों सहित औद्योगिक क्षेत्र में बस जाता है और आवास की समस्या के कारण, इच्छा रहने पर भी, दूसरे सदस्यों को अपने साथ नहीं रख पाता है।
   - (ब) **व्यक्तिवादी विचारों को प्रोत्साहन**–औद्योगिक समाज में प्रतिष्ठा का प्रमुख आधार धन या संपदा होती है तथा भौतिक सुख को प्रधानता दी जाती है। व्यक्ति धन तभी कमा सकता है जब वह अपने परिवार के अन्य सदस्यों के प्रति उदारवृत्ति त्याग दे। इस प्रकार, वह अधिक भौतिक सुख के साधनों को एकत्र करने में तथा धन के संचय में व्यस्त रहता है और अपने संयुक्त परिवार के प्रति उदासीन होने लगता है।
   - (स) **मकानों की समस्या**–संयुक्त परिवार आकार में बड़ा होता है। कई पीढ़ी के सदस्य एक साथ रहते हैं इसलिए औद्योगिक क्षेत्रों में जहाँ अधिक किराया देने पर दो कमरे मुश्किल से मिलते हैं, वहाँ सभी सदस्यों का एक साथ रहना असंभव भी लगता है। इस कारण, लोग अपने एकाकी परिवार को लेकर संयुक्त परिवार से अलग हो जाते हैं।
   - (द) **कुटीर उद्योगों का ह्रास**–औद्योगीकरण के कारण मशीनों के महत्त्व में वृद्धि हुई है जिसके परिणामस्वरूप कुटीर उद्योगों का ह्रास होने लगा है। इसका यह प्रभाव हुआ कि जब कुटीर उद्योग बंद होने के कारण व्यक्ति की महत्ता न रही तो वह अपने परिवार या अपने पालन-पोषण के लिए औद्योगिक क्षेत्रों में जाने लगा है। इस प्रकार, व्यक्तियों का एक बहुत बड़ा भाग नगरों में जाकर रहने लगा है तथा इससे एकाकी परिवारों में वृद्धि हुई है।

नोट

2. **नगरीकरण**–औद्योगीकरण ने नगरीकरण को बढ़ावा दिया है तथा नगरीकरण ने संयुक्त परिवार प्रणाली को प्रभावित किया है। लोग नगरीकरण के परिणामस्वरूप नगरों की ओर आकर्षित होते हैं क्योंकि वहाँ नवीन व्यवसायों को अपनाए जाने की संभावना अधिक होती है। नगरों में निवास स्थान की समस्या के कारण बड़े परिवार में पाई जानेवाली आपसी मेल एवं सहयोग की भावना समाप्त हो जाती है और हर व्यक्ति अपना पृथक् एकाकी परिवार बनाकर रहना चाहता है।
3. **यातायात तथा संचार के साधनों का विकास**–यातायात व संचार के साधनों में विकास के कारण गतिशीलता तथा बाहरी जगत के बारे में जागरूकता में वृद्धि हुई है जिसके परिणामस्वरूप व्यक्ति संयुक्त परिवार छोड़कर दूसरी जगह जा सकता है। यातायात व संचार के साधनों का विकास होने के कारण व्यक्ति को अपने संयुक्त परिवारों से दूर रहने तथा दूर-दूर नौकरी करने का अवसर मिला है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति अपना एकाकी परिवार बनाकर रहने लगे है।
4. **विदेशी शिक्षा, संस्कृति तथा आदर्श**–इंग्लैंड व अमेरिका से प्रभावित आज की संस्कृति, शिक्षा व आदर्श में व्यक्तिगत संपत्ति, व्यक्तिगत अधिकार व व्यक्तिगत नेतृत्व को प्रधानता दी जाती है। ये आदर्श संयुक्त परिवार के संगठन के विरुद्ध हैं। संयुक्त परिवार के सदस्यों पर पाश्चात्य शिक्षा व आदर्शों का प्रभाव पड़ा है जिसके परिणामस्वरूप सदस्य वैयक्तिक हित को प्रधानता देने लगे हैं इसके फलस्वरूप संयुक्त परिवार में विघटन दृष्टिगोचर होने लगा है। आज पढ़े-लिखे युवक तथा युवतियाँ संयुक्त परिवार के बंधनों तथा कर्त्ता की निरंकुश सत्ता के अधीन नहीं रहना चाहते।
5. **महिला शिक्षा, आंदोलन तथा जागरूकता**–समय के साथ-साथ होने वाले आंदोलनों तथा आर्थिक व शैक्षणिक निर्भरता ने महिलाओं में समानता की चेतना को जन्म दिया है। समान अधिकारों की प्राप्ति की ललक ने स्त्रियों को संगठित व सशक्त किया है। भारत में भी निश्चित रूप से महिला शिक्षा एवं आंदोलनों के परिणामस्वरूप उनकी परंपरागत स्थिति में सुधार हुआ है। इसके परिणामस्वरूप उनमें स्वतंत्र विचारों का जन्म हुआ है और वे संयुक्त परिवार में दासी के रूप में रहने का विरोध करने लगी है। स्त्रियों द्वारा राजनीतिक अधिकार, नौकरी करने के अधिकार की माँग तथा स्वीकृति से संयुक्त परिवार में विघटन हुआ है।
6. **नवीन आर्थिक संगठन**–अंग्रेजी के आने से पूर्व भारतीय गाँव आत्म-निर्भर थे तथा कृषि व्यवसाय की प्रधानता के कारण संयुक्त परिवार प्रणाली का ही प्रचलन था। सामूहिक जीवन होने के कारण परिवार का महत्त्व अधिक था। अंग्रेजों ने भारतीय अर्थव्यवस्था में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किए। जमींदारी प्रथा, मुद्रा के महत्त्व, व्यापारिक फसलों तथा आवागमन के विकसित साधनों के कारण परिवार के लोग काम की तलाश में गाँव से बाहर जाने लगे। इससे सामाजिक गतिशीलता में वृद्धि हुई और संयुक्त परिवारों में परिवर्तन होने लगे।
7. **व्यक्तिवाद की भावना**–व्यक्तिवाद की भावना भी संयुक्त परिवार में परिवर्तन के लिए उत्तरदायी है। नगरीकरण, औद्योगीकरण, पश्चिमी शिक्षा एवं अन्य आधुनिक कारणों ने व्यक्तिवाद को जन्म दिया है जिसके परिणामस्वरूप व्यक्ति में स्वार्थ की भावना जाग्रत हुई है। इसके कारण, उसकी परिवार के अन्य सदस्यों के प्रति उत्तरदायित्वों की भावना ही नहीं रही तथा साथ ही सामूहिक जीवन का महत्त्व कम हो जाने के कारण भी संयुक्त परिवार को धक्का पहुँचा है।
8. **परिवार के कार्यों में कमी**–संयुक्त परिवार के विघटन का कारण इसके कार्यों में कमी भी है। पहले संयुक्त परिवार के सदस्यों के लिए पाठशाला, मनोरंजन, अस्पताल, बीमा इत्यादि का कार्य करता था परंतु बाज़ार में उपलब्ध अनेक संस्थाओं ने संयुक्त परिवार के इन कार्यों को सफलतापूर्वक किया है। इससे संयुक्त परिवार की महत्ता का कम होना स्वाभाविक है।
9. **जनसंख्या में वृद्धि तथा बेरोजगारी**–जनसंख्या में वृद्धि का प्रभाव दो प्रकार से पड़ा है–पहला यह कि संयुक्त परिवार के सदस्यों की संख्या में वृद्धि होती है तथा दूसरा यह कि खेती की भूमि में वृद्धि नहीं होती अपितु उस पर आश्रित रहने वाले सदस्यों की संख्या में वृद्धि होती है। इसका प्रभाव यह हुआ कि

नोट

निर्धनता एवं बेरोजगारी को प्रोत्साहन मिला तथा इससे तंग आकर लोग बाहर नौकरी करने चले जाते हैं और उनका अपने संयुक्त परिवार के प्रति कोई मोह नहीं रह जाता है।

10. **पारिवारिक कलह**–संयुक्त परिवार में सदस्यों की अधिक संख्या होने के कारण विचारों में संघर्ष होना स्वभाविक बात है। वाद-विवाद भी कभी-कभी संघर्ष का रूप धारण कर लेता है। संयुक्त परिवार में स्त्रियों में कलह होना सामान्य बात होती है। यह कलह कभी-कभी बँटवारे का रूप धारण कर लेती है। लोग इस प्रकार के कलहपूर्ण वातावरण से त्रस्त होकर अलग एकाकी परिवार बसा लेते हैं।
11. **क़ानूनों का प्रभाव**–संयुक्त परिवार को विघटित करने में नए क़ानूनों ने महत्त्वपूर्ण सहयोग दिया है। प्रभावित करने वाले प्रमुख क़ानून हैं–हिंदू विधवा पुनर्विवाह अधिनियम, 1856; हिंदू स्त्रियों का संपत्ति पर अधिकार क़ानून, 1937; शारदा एक्ट, 1929; विशेष विवाह अधिनियम, 1954; हिंदू विवाह और विवाह विच्छेद अधिनियम, 1955; हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 (जिसने संयुक्त परिवार के मिताक्षरा व दायभाग में अंतर को दूर किया); दहेज निरोधक अधिनियम, 1961 व उसका संशोधन, 1886 इत्यादि। इस प्रकार संयुक्त परिवार क़ानून एवं न्यायालयों द्वारा प्रोत्साहित वैयिक्तक विचारों का शिकार होता चला गया है।

5.2 एकाकी परिवार (Nuclear Family)

जहाँ भारत में प्रारंभ से ही संयुक्त परिवार प्रणाली की प्रधानता रही है, वहीं आज पश्चिमी औद्योगीकृत समाजों में एकाकी परिवारों (जिन्हें नाभिक, प्रारंभिक, केंद्रक अथवा एकल परिवार भी कहा जाता है) की प्रधानता पाई जाती है। **टी. बी. बॉटोमोर** के अनुसार वैयक्तिक एकाकी परिवार एक सार्वभौमिक सामाजिक तथ्य है। **लॉवी** के अनुसार भी सर्वत्र पति, पत्नी तथा अवयस्क बच्चों से मिलकर एक एकाई बनती है जो शेष समुदाय से पृथक् होती है।

एकाकी परिवार का अर्थ एवं परिभाषाएँ
(Meaning and Definitions of Nuclear Family)

एकाकी परिवार से अभिप्राय ऐसे गृहस्थ समूह से है जिसमें पति-पत्नी बच्चों रहित अथवा अविवाहित बच्चों सहित रहते हैं। अगर पति या पत्नी में से किसी एक की मृत्यु हो गई है और दूसरा अपने अविवाहित बच्चों के साथ रह रहा है, तो इसे भी हम एकाकी परिवार ही कहेंगे। इस प्रकार के परिवार में पति या पत्नी से संबंधित अन्य रिश्तेदार निवास नहीं करते हैं (जैसा कि संयुक्त परिवार में होता है)।

किसी भी संस्था के विविधि कार्य होते हैं। संभवत: संस्थाओं में परिवार अत्यंत विविध कार्यों वाली संस्था है। अतएव स्पष्ट है कि परिवार का समाज में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। **ऑगवार्न** एवं **निमकॉफ** ने कहा है कि किसी भी संस्कृति में परिवार के महत्त्व का मूल्याँकन करने के लिए यह बात करना आवश्यक है कि उसके क्या कार्य हैं तथा किसी सीमा तक उन्हें पूर्ण किया जाता है। **वॉटमोर** का कहना है कि एकाकी परिवार की सार्वभौमिकता का कारण वे अपरिहार्य कार्य हैं जो यह करता है तथा वे कठिनाइयाँ हैं जो कि इन कार्यों को किसी अन्य सामाजिक समूह के द्वारा किए जाने पर सामने आती हैं।

एकाकी परिवार की प्रमुख परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं–

- **लॉवी**–''पति, पत्नी तथा अपरिपक्व आयु के बच्चों से मिलकर बनी एक इकाई है, जो शेष समुदाय से पृथक होती है।''
- **श्रीनिवास**–''व्यक्ति, उसकी पत्नी और अविवाहित बच्चों के गृहस्थ समूह को प्रारंभिक अथवा एकाकी परिवार कहते हैं।''

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट हो जाता है कि एकाकी परिवार में केवल पति-पत्नी को बच्चों रहित अथवा पति-पत्नी को अविवाहित बच्चों सहित अथवा केवल माता या पिता को अविवाहित बच्चों सहित ही सम्मिलित किया जाता है और यह संसार के अधिकांश देशों में पाया जाता है।

नोट

टास्क भारत का संयुक्त परिवार धीरे-धीरे एकाकी परिवार में बदल रहा है। क्या यह आपके व्यक्तित्व के विकास में सहायक है अथवा बाधक-अपने तर्क प्रस्तुत कीजिए।

5.3. संयुक्त एवं एकाकी परिवार में अंतर (Distinction between Joint and Nuclear Family)

अंतर का बिंदु	*संयुक्त परिवार*	*एकाकी परिवार*
1. **आकार**	संयुक्त परिवार का आकार बड़ा होता है क्योंकि इसमें अनेक एकाकी परिवार पाए जाते हैं।	एकाकी परिवार का आकार सामान्यत: अपेक्षाकृत छोटा होता है।
2. **पीढ़ियाँ**	संयुक्त परिवार में अनेक पीढ़ियों के सदस्य एक साथ निवास करते हैं।	एकाकी परिवार में अधिक से अधिक दो पीढ़ियों के सदस्य ही एक साथ निवास करते हैं।
3. **संचालन**	संयुक्त परिवार में कर्त्ता की विशेष स्थिति होती है तथा वही परिवार के कार्यों के संचालन का कार्य करता है।	एकाकी परिवार में पति-पत्नी की एक समान स्थिति होती है तथा दोनों परिवार के संचालन में अपना योगदान देते हैं।
4. **गतिशीलता**	संयुक्त परिवार में सामान्यत: परंपरागत व्यवसाय एवं कर्त्ता के निरंकुश शासन के कारण सदस्यों में गतिशीलता नहीं पाई जाती।	एकाकी परिवार में बच्चों की रुचियों का विशेष ध्यान रखा जाता है, अत: इनमें अपेक्षाकृत अधिक गतिशीलता पाई जाती है।
5. **स्त्रियों की दशा**	द्वेष एवं कलहपूर्ण वातावरण से संयुक्त परिवारों में स्त्रियों की स्थिति अपेक्षाकृत निम्न होती है।	एकाकी परिवार में स्त्री की स्थिति अपेक्षा-कृत अच्छी और सम्मानजनक होती है।
6. **नियंत्रण**	सदस्य संख्या अधिक होने के कारण प्रत्येक सदस्य अन्य सदस्यों के कार्यों को देखता रहता है, अत: इसमें सामाजिक नियंत्रण अधिक रहता है।	एकाकी परिवार में माता-पिता द्वारा बच्चों पर केवल आवश्यकतानुसार ही नियंत्रण रखा जाता है।
7. **सामाजिक समस्याएँ**	संयुक्त परिवारों में बाल विवाह, दहेज प्रथा, पर्दा प्रथा, विधवा पुनर्विवाह पर प्रतिबंध, स्त्रियों की निम्न दशा इत्यादि अनेक प्रकार की समस्याएँ होती हैं।	एकाकी परिवार इस प्रकार की समस्याओं से अपेक्षाकृत मुक्त होते हैं।
8. **व्यक्तित्व का विकास**	कर्त्ता की प्रधानता के कारण सदस्य अपनी इच्छा एवं विचारों से कोई भी कार्य नहीं कर सकते हैं। यह व्यक्तित्व के विकास में बाधक है।	एकाकी परिवार में बच्चों के व्यक्तित्व के विकास का विशेष ध्यान रखा जाता है।
9. **वैवाहिक जीवन**	सदस्यों की अधिकता होने एवं गोपनीयता के अभाव के कारण कई बार पति-पत्नी में वैचारिक सामंजस्य तक नहीं हो पाता।	एकाकी परिवार में ऐसी कोई समस्या नहीं है तथा यह स्वस्थ वैवाहिक जीवन का श्रेष्ठ आधार है।
10. **संतानोत्पादन**	बाल विवाह तथा सामान्य कोष के कारण संयुक्त परिवारों में बच्चों की संख्या अधिक होती है।	एकाकी परिवारों में बच्चों की संख्या सामान्यत: सीमित ही होती है।

5.4 भारत में संयुक्त परिवारों का एकाकी परिवारों में परिवर्तन (Changing of Joint Families into Nuclear Families in India)

नोट

क्या भारत में संयुक्त परिवार एकाकी परिवारों में परिवर्तित हो रहे हैं? यह एक वाद-विवाद का विषय है। कुछ लोगों का कहना है कि बढ़ते हुए औद्योगीकरण, नगरीकरण, पश्चिमीकरण एवं नवीन आर्थिक परिस्थितियों के परिणामस्वरूप भारत में संयुक्त परिवारों का स्थान एकाकी परिवार लेते जा रहे हैं। इस मत का समर्थन **टी.बी. वॉटोमोर, बार्गेस** एवं **कोलण्डा** जैसे विदेशी समाजशास्त्री करते हैं। इन विद्वानों का यह तर्क है कि नवीन भारतीय परिस्थितियों में संयुक्त परिवार आदर्श परिवार नहीं रहा है। इसलिए इसका विघटन हो रहा है तथा इसका स्थान पश्चिमी समाजों जैसे एकाकी परिवार लेते जा रहे हैं। परंतु भारतीय समाजशास्त्री इस मत के समर्थक नहीं हैं। परिवार एवं नातेदारी पर अध्ययन करने वाले विद्वान् (जैसे **आई.पी. देसाई, के.एम. कपाडिया, इरावती कर्वे, एम.एन. श्रीनिवास** आदि) इस बात पर बल देते है कि संयुक्त परिवार नवीन परिस्थितियों के अनुकूल थोड़ा-बहुत परिवर्तित होता जा रहा है, परंतु इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि भारत में संयुक्त परिवार का विघटन हो रहा है तथा इनका स्थान एकाकी परिवार लेते जा रहे हैं। आज भी भारतीय परिस्थितियाँ ऐसी हैं कि संयुक्त परिवार अपनी महत्ता को बनाए हुए है। भारत गाँवों का देश है तथा अधिकांश भारतीय कृषि व्यवसाय में लगे हुए हैं। कृषि एक ऐसा व्यवसाय है जिसमें संयुक्त परिवार प्रणाली ही सर्वाधिक उपयुक्त है। इसलिए जब तक कृषि व्यवसाय भारत में प्रमुख व्यवसाय बना रहेगा, तब तक भारत में संयुक्त परिवार एकाकी परिवारों में सरलता से परिवर्तित नहीं होंगे।

आधुनिक काल में परिवार का आकार सिकुड़कर छोटा हो गया है जिसे 'न्यूक्लियर या एकीकृत परिवार' की संज्ञा दी गई है। केवल इतना ही नहीं, अब तो यह स्थिति हो गई है कि अधिकांश परिवारों में माता-पिता में से केवल एक व्यक्ति ही घर में मौजूद रहता है। विधवा और तलाक शुदा होने की स्थिति के अतिरिक्त भी बहुत परिस्थितियों में पति को अपने व्यवसाय के सिलसिले में व्यस्त रहने के कारण केवल महिलाओं को ही सारे पारिवारिक दायित्वों को वहन करना पड़ता है। भारतीय परिवार में प्रवास एवं पुनर्वास की समस्या ने घर कर लिया है, जिससे परिवारों में टूटन के आसार नज़र आने लगे हैं।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

दिए गए कथन के सामने सही (✓) अथवा गलत (✗) का निशान लगाएँ–

1. भारत प्राचीन काल से एकाकी परिवारों का देश रहा है। ☐
2. संयुक्त परिवार प्रणाली भारतीय समाज का एक प्रमुख अंग है। ☐
3. एकाकी परिवार मुख्य रूप से गाँवों में पाए जाते हैं। ☐
4. जब तक कृषि व्यवसाय भारत में प्रमुख व्यवसाय बना रहेगा, तब तक भारत में संयुक्त परिवार आसानी से एकाकी परिवारों में परिवर्तित नहीं होंगे। ☐

विवाह का अर्थ एवं परिभाषाएँ (Meaning and Definitions of Marriage)

विवाह समाज द्वारा स्वीकृत यौन-संबंधों को नियमित करने से संबंधित एक सामाजिक संस्था है। प्रत्येक समाज में यौन-संबंधों की स्थापना के बारे में कुछ निश्चित नियम होते हैं। इन्हीं मान्यता प्राप्त नियमों को विवाह कहा जाता है। विवाह के बंधन में बँधने वाले स्त्री-पुरुष पत्नी और पति के रूप में एक परिवार का हिस्सा बन जाते हैं।

प्रमुख विद्वानों ने विवाह की परिभाषाएँ निम्नलिखित प्रकार से दी हैं–

- **वेस्टरमार्क–**''विवाह एक या अधिक पुरुषों का एक या अधिक स्त्रियों के साथ होने वाला यौन संबंध है जो प्रथा या क़ानून द्वारा मान्य होता है तथा जिसमें दोनों पक्षों तथा उनके बच्चों के अधिकारों तथा कर्त्तव्यों का समावेश होता है।''

नोट

- **लॉवी–**''विवाह उन स्वीकृत संगठनों को व्यक्त करता है जो इंद्रिय संबंधी संतोष (यौन संतुष्टि) के अतिरिक्त भी स्थिर रहता है तथा पारिवारिक जीवन को आधार प्रदान करता है।''
- **बोगार्डस–**''विवाह स्त्री और पुरुष को पारिवारिक जीवन में प्रवेश कराने वाली संस्था है।''
- **गिलिन एवं गिलिन–**''विवाह एक प्रजनन मूलक परिवार की स्थापना का समाज द्वारा स्वीकृत तरीका है।''

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट हो जाता है कि विवाह समाज द्वारा स्वीकृत एक सामाजिक संस्था है। यह दो विषमलिंगी व्यक्तियों को यौन संबंध स्थापित करने का अधिकार प्रदान करती है। विवाह संबंध बहुत ही व्यापक होते हैं। इनमें एक-दूसरे के प्रति भावात्मक लगाव, प्रतिबद्धता, सेवा भाव, सहायता व एक-दूसरे को निरंतर सहारा देना सम्मिलित है। विवाह के पश्चात् उत्पन्न संतान को ही वैध माना जाता है।

विवाह के प्रकार (Types of Marriage)

यौन-संबंधों को नियमित व स्थिर करने, परिवार को स्थायी रूप प्रदान करने, आर्थिक सहयोग का विकास करने तथा बच्चों के लालन-पालन की एक सुनिश्चित व्यवस्था करने के लिए विवाह की संस्था का जनन हुआ है-इस तथ्य के पक्ष में प्राय: सभी समाजों से, चाहे वह अति आदिम समाज हो या अति आधुनिक, अनेक प्रमाणों को प्रस्तुत किया जा सकता है। इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए विवाह, चाहे उसका स्वरूप कुछ भी हो, हमेशा ही था और रहेगा भी।

विवाह के स्वरूप एवं प्रकार–विवाह के दो प्रमुख स्वरूप होते हैं-

(1) एक-विवाह

(2) बहु-विवाह

बहु-विवाह के तीन भेद होते हैं-

(1) बहुपति विवाह

(2) बहुपत्नी विवाह

(3) समूह-विवाह

इन सभी का विस्तृत विवरण निम्नवत् है-

1. **एक-विवाह–**एक विवाह तब कहा जाता है जब एक पुरुष केवल एक स्त्री से ही विवाह करता है और उस स्त्री के जीवन काल में वह दूसरी स्त्री से विवाह नहीं करता है। **श्री बुकेनोविक** का इस संबंध में यह विचार हैं कि वास्तव में उसी विवाह को एक विवाह-कहना उचित होगा जिसमें न केवल एक व्यक्ति की एक ही पत्नी या पति हों, बल्कि इनमें से किसी की मृत्यु हो जाने पर भी दूसरा पक्ष (विधुर या विधवा) विवाह नहीं करे। परंतु सामान्यत: एक पति या पत्नी के जीवित रहते हुए दूसरे किसी से विवाह न करना ही एक-विवाह माना जाता है। जिन समाजों में सामान्य रूप से स्त्रियों और पुरुषों का अनुपात बराबर है, वहाँ प्राय: एक-विवाह प्रथा ही पाई जाती है।

   भारत में हिंदू विवाह का आदर्श एक-विवाह ही है। इसका प्रमाण 'दम्पत्ति' शब्द के प्रयोग से ही स्पष्ट है। दम्पत्ति का अर्थ दो से होता है। ऐसी स्थिति में एक पुरुष या नारी के जीवन में एक से अधिक स्त्री या पुरूष का स्थान नहीं है। एक-विवाह, प्रथा अधिकतर सभी समाजों में पाई जाती है। वास्तव में एक-विवाह आधुनिक समाज में सर्वस्वीकृत प्रतिमान के रूप में प्रतिष्ठित होता जा रहा है।

2. **बहु-विवाह–**बहु-विवाह के निम्नलिखित तीन स्वरूपों या भेदों का वर्णन किया जा सकता है।

(1) बहुपति-विवाह–बहुपति-विवाह वह विवाह है जिसमें एक पत्नी के साथ दो या अधिक पुरुषों का विवाह होता है। दूसरे शब्दों में, एक स्त्री के एकाधिक पतियों का होना बहुपति-विवाह का ही द्योतक है। भारतवर्ष में इस प्रकार के विवाह का प्रचलन बहुत कम देखने को मिलता है। कुछ जनजातीय समूहों में ही बहुपति-विवाह का प्रचलन है। केरल के टियान, कुसुम्ब, कोट, लड़ाखी बोट, नीलगिरी पर्वत के टोंडा और देहरादून जिले में जौनसार-बावर की खस जनजाति में इस प्रकार के विवाह के दर्शन होते हैं।

बहुपति-विवाह की विशेषताएँ

नोट

(क) इस प्रकार के विवाह में एक स्त्री एक से अधिक पतियों से विवाह-संबंध स्थापित करती है।

(ख) ये एकाधिक पति आपस में भाई-भाई भी हो सकते हैं और नहीं भी हो सकते हैं, अर्थात् कभी-कभी भाइयों के अतिरिक्त के गोल के अन्य व्यक्ति भी मिलकर इस प्रकार का विवाह कर लेते हैं।

(ग) पत्नी पर प्रत्येक भाई का अधिकार होता है, परंतु बड़े भाई का अधिकार सबसे अधिक होता है।

(घ) मातृसत्तात्मक परिवारों में स्त्री अपने पतियों को स्वयं चुनती है और प्रत्येक पति के पास बारी-बारी से कुछ समय के लिए रहती है। परंतु जब वह एक पति के साथ रह रही होती हैं तो उस दौरान उस पर अन्य पतियों का कोई अधिकार नहीं होता।

(ङ) जहाँ एक परिवार में एक से अधिक स्त्रियाँ हैं वहाँ प्रत्येक भाई का अपने सब भाइयों की पत्नियों के साथ यौन-संबंध स्थापित करने की स्वतंत्रता होती है।

(च) संतानों और संपत्ति के संबंध में बड़े भाई का या प्रथम पति का दूसरे सब भाइयों या पतियों की तुलना में अधिक अधिकार होता है।

बहुपति-विवाह के प्रचलन के कारण–इस प्रथा के प्रचलन के निम्नलिखित दो कारण हो सकते हैं-

(क) बहुपति-विवाह का एक सामान्य कारण एक समाज में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की संख्या कम होना बताया जाता है। जहाँ पर स्त्रियों की कमी है वहाँ प्रत्येक पुरुष के लिए यह संभव नहीं होता है कि वह अपने लिए एक पृथक पत्नी प्राप्त कर सके। इसलिए एकाधिक पुरुष मिलकर एक स्त्री से विवाह कर लेते हैं।

(ख) अधिकतर समाजशास्त्री इस प्रथा का कारण निर्धनता मानते हैं। चूँकि कुछ प्रदेशों में आर्थिक जीवन इतना कठोर तथा संघर्षपूर्ण होता है कि एक व्यक्ति के लिए पृथक रूप में परिवार की स्थापना संभव नहीं है, इस कारण एकाधिक पुरुष मिलकर एक परिवार की स्थापना करते हैं।

भारतवर्ष में बहुपति-विवाह के दो प्रमुख प्रकार हैं–

(अ) भ्रातक बहुपति-विवाह–जब एकाधिक भाई आपस में मिलकर एक ही स्त्री से विवाह करते हैं तो उसे भ्रातक बहुपति-विवाह कहते हैं। इस प्रकार के विवाह नीलगिरी की टोडों और जौनसार बावर की खस जनजातियों में पाए जाते हैं। इस प्रकार के विवाह से उत्पन्न बच्चे ज्येष्ठतम भाई की संतान समझे जाते हैं।

(ब) अभ्रातक बहुपति-विवाह–इस प्रकार के विवाह में एक स्त्री के अनेक पति होते हैं, जिनके साथ वह लैंगिक संबंध रखती हैं। इन पतियों का आपस में भाई होना आवश्यक नहीं होता। जब भी किसी बच्चे का जन्म होता है तो उसके पिता का निर्धारण एक धार्मिक संस्कार द्वारा किया जाता है जो उसका सामाजिक पिता कहलाता है। जब तक स्त्री किसी एक पति के साथ रहती है, तब तक अन्य पतियों का उस पर अधिकार नहीं होता। यह प्रथा मालाबार नायरों में कुछ सीमा तक पाई जाती थी।

बहुपति-विवाह के गुण–इस प्रकार का विवाह समाज में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की संख्या कम होने के कारण उत्पन्न कन्या-मूल्य की समस्या को हल कर सकता है।

- यह निर्धनता के क्षेत्र में भी महत्त्वपूर्ण कार्य करता है। कई भाइयों का कई पुरुषों की एक ही पत्नी होने के कारण पत्नी का भरण-पोषण आसानी से संभव हो जाता है।
- स्त्रियों की स्थिति अच्छी होती है।

बहुपति-विवाह के अवगुण–संतानों की संख्या कम हो जाती है।

- इस प्रथा के अन्य अवगुण हैं कि स्त्रियों में बाँझपन की प्रतिशतता बढ़ जाती है।
- शारीरिक दृष्टिकोण से भी यह प्रथा स्त्रियों में गुप्त रोगों को जन्म देती है।

इस प्रथा के कारण विवाह-विच्छेद की संख्या काफी बढ़ जाती है।

बहुपत्नी-विवाह एक पुरुष का दो या दो से अधिक स्त्रियों से विवाह होना बहुपत्नी-विवाह कहलाता है। आर्थिक कठिनाइयों के कारण सामान्य रूप से बहुपत्नी-विवाह की प्रथा भारतीय जनजातियों में बहुत कम पाई जाती है।

नोट

भारत में हिंदुओं में यह प्रथा काफी समय पूर्व पाई जाती थी। धनिक वर्गों में विशेषकर राजाओं में, बहुपत्नी-विवाह का खूब प्रचलन देखने को मिलता था। मुसलमानों में आज भी इस प्रथा का अच्छा रूप देखने को मिलता है। इसके अतिरिक्त भारत में नागा, गोंड, बैगा आदि जनजातियों में भी इस प्रथा की कुछ झलक देखने को मिलती है।

(2) बहुपत्नी विवाह–बहुपत्नी-विवाह के प्रचलन के **मुख्य कारण** इस प्रकार हैं–

(क) समाज में बाधित बह्मचर्य की प्रथा, जिसके कारण पुरुष गर्भावस्था में अपनी पत्नी के साथ सहवास नहीं कर पाता, इस प्रकार के विवाह को प्रश्रय देती है।

(ख) असभ्य कबीलों में व्यक्ति अनेक बार विवाह इसलिए करते हैं क्योंकि यह अवमानना है कि स्त्रियाँ शीघ्र ही बूढ़ी हो जाती हैं।

(ग) आदिम एवं सरल समाजों में बहुपत्नी विवाह को मान्यता भी इसका एक महत्त्वपूर्ण कारण है।

(घ) बहुपत्नी-विवाह के द्वारा अधिक संतानों को प्राप्त किया जा सकता है।

(ङ) कुछ समाजों में अनेक पत्नियों का होना सामाजिक सम्मान का द्योतक होता है।

(च) कुछ क्षेत्रों में बहुपत्नीत्व का कारण यह है कि इसमें पत्नियों के रूप में सस्ते एवं विश्वसनीय श्रमिक मिल जाते हैं। हिमालय के क्षेत्रों में व्यक्ति अनेक बार विवाह अपनी सम्पत्ति की सुरक्षा तथा कृषि हेतु सहायता प्राप्त करने के लिए करते हैं।

(छ) बहु:पत्नीत्व दाम्पत्य द्रोह के मामलों को कम कर देता है, परंतु इससे पत्नियों में घृणा एवं द्वेष उत्पन्न हो जाता है।

बहुपत्नी-विवाह के गुण

- बच्चों की देख-रेख भली-भाँति होती है।
- यौन संबंधी अनैतिकता एवं व्यभिचार में कमी।
- स्वस्थ बच्चों की उत्पत्ति।

बहुपत्नी विवाह के दोष

- परिवार पर अत्यधिक आर्थिक बोझ।
- स्त्रियों की दयनीय स्थिति का सूचक।
- परिवार में अत्यधिक स्त्रियों के होने के कारण परिवार का वातावरण ईर्ष्या, द्वेष और लड़ाई-झगड़े से कलुषित होता है।

(3) समूह विवाह–कुछ प्रारंभिक सिद्धांतों में इस बात का उल्लेख मिलता है कि मानव जीवन के आरंभ में विवाह की कोई संस्था थी नहीं और लोग कामाचार की स्थिति में रहते थे। उसके बाद एक प्रकार के 'समूह-विवाह' का प्रचलन हुआ जिसके अनुसार एक समूह के सभी पुरुषों का विवाह दूसरे समूह की सभी स्त्रियों से होता था और इनमें से प्रत्येक स्त्री के पास यौन-संबंध स्थापित करता था। कुछ विद्वानों का मत है कि ऐसे विवाह को वास्तव में विवाह नहीं कहना चाहिए बल्कि ''यौन-साम्यवाद'' कहना उचित होगा। श्री मॉर्गन ने अपने उद्विकासीय सिद्धांत में अंतर स्पष्ट करते हुए यौन-साम्यवाद को प्रारंभिक स्तर का विवाह एवं समूह विवाह को इसके बाद के स्तर का माना है। श्री वेस्टरमार्क ने यौन साम्यवाद तथा समूह विवाह दोनों के अस्तित्व को स्वीकार किया है।

क्या आप जानते हैं

विवाह का यह स्वरूप आस्ट्रेलिया के आदिवासियों की एक अनोखी विशेषता है। वहाँ एक कुल की स्त्रियाँ दूसरे कुल की भावी पत्नियाँ समझी जाती हैं और ये आस्ट्रेलियाई उन समस्त पुरुषों के लिए, जो कि उनकी माताओं के भावी पति हो सकते हैं पिता शब्द का प्रयोग करते हैं।

5.5 आधुनिक भारत में विवाह की प्रवृत्तियाँ (Modern Marriage Trends in Contemporary India)

नोट

भारत में विवाह का परंपरागत रूप अनेक प्रकार के नियमों तथा निषेधों से घिरा हुआ है। परंतु आज औद्योगीकरण, नगरीकरण, पाश्चात्य विचार, शिक्षा विशेषकर स्त्री-शिक्षा के प्रसार, राजनीतिक व सामाजिक सुधार-आंदोलन आदि के फलस्वरूप सामाजिक संरचना व संस्थाओं में और साथ-ही-साथ विचार, जीवन-दर्शन आदि में क्रांतिकारी परिवर्तन होते जा रहे हैं। इन सबका प्रभाव हिंदू-विवाह-संस्था पर भी पड़ा है। और विवाह के संबंध में कुछ नए झुकाव या प्रवृत्तियाँ पनप गई हैं। संक्षेप में प्रवृत्तियाँ इस प्रकार हैं–

1. **विलंब-विवाह** (Late-marriage)–बाल-विवाह के दुष्परिणामों के संबंध में हिंदुओं में जागरूकता शीघ्रता से बढ़ती जा रही है। इसलिए बाल-विवाह के पक्ष में भी लोगों का झुकाव कम हो रहा है। चूँकि आज लड़के पढ़ी-लिखी पत्नी चाहते हैं और अपने पैरों पर खड़े न होने तक विवाह का विरोध करते हैं और चूँकि आज लड़कियों में भी शिक्षा प्राप्त करके अपने व्यक्तित्व को विकसित करने तथा अपने अधिकारों को समझने की प्रवृत्ति बढ़ रही है इस कारण बाल-विवाह का विरोध अब किया जाता है और विवाह की उम्र बढ़ती जा रही है। विलंब-विवाह के अंतर्गत अब लड़कों का विवाह 20 और 25 वर्ष की आयु के बीच होता है और इस आयु को विवाह के लिए आदर्श मानने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। आज यह अनुभव किया जा रहा है कि विलंब-विवाह में दंपत्तियों के स्वास्थ्य की रक्षा, स्वस्थ संतान, लड़कों व लड़कियों के व्यक्तित्व के विकास में सुविधा तथा योग्य जीवन-साथी चुनने में सहायता मिलती है।
2. **विधवा-पुनर्विवाह** (Widow-remarriage)–विवाह से संबद्ध एक और आधुनिक प्रवृत्ति विधवा-पुनर्विवाह की है। आज सामाजिक व नैतिक दोनों ही दृष्टियों से यह अनुभव किया जाता है कि विधवाओं का भी पुनर्विवाह होना चाहिए, विशेषकर उन विधवाओं का जो कम आयु में विधवा हो गई हैं। उनके व्यक्तित्व के विकास के लिए, अनैतिक व्यभिचार को रोकने के लिए, उनके बच्चों को अनाथ होने से बचाने के लिए और विधवाओं को भी राष्ट्र के उपयोगी नागरिक बनाने के लिए विधवा-पुनर्विवाह उचित है, यह धारणा हिंदुओं में धीरे-धीरे पनप रही है।
3. **विवाह के उद्देश्यों में परिवर्तन** (Changes in the aims of marriage)–**मुरडॉक** ने संसार के विभिन्न भागों में पाए जाने वाले 250 समाजों में, विवाह के उद्देश्यों का अध्ययन करके यह निष्कर्ष निकाला कि मानव समाजों के विवाह के सामान्यत: तीन प्रमुख उद्देश्य हैं–**प्रथम** यौन संबंधी इच्छओं की तृप्ति, **द्वितीय** आर्थिक सहयोग और **तृतीय** अगर बच्चों का पालन-पोषण केवल हिंदू विवाह के उद्देश्यों को लिया जाए तो हम कह सकते हैं कि धार्मिक कर्त्तव्यों का पालन पुत्र-प्राप्ति तथा रति विवाह के प्रमुख उद्देश्य हैं। स्पष्ट है कि आधुनिक समय में विवाह के इन उद्देश्यों में परिवर्तन देखने को मिलता है। आज यौन संबंधी इच्छाओं की तृप्ति 'कॉल गर्ल', 'सोसाइटी गर्ल' आदि के माध्यम से संभव है, उसी प्रकार बच्चों का पालन-पोषण भी विवाह का कोई महत्त्वपूर्ण उद्देश्य नहीं रह गया है। बच्चों के पालन-पोषण की व्यवस्था भी 'नर्सरी' या आयाओं की सहायता से की जा सकती है। आधुनिक वैज्ञानिक या व्यक्तिवादी युग में धर्म का महत्त्व दिन-प्रतिदिन घटता ही जा रहा है और आज विवाह को धार्मिक कर्त्तव्य के रूप में ग्रहण करने की प्रवृत्ति शायद ही दृष्टिगोचर होती है। उसी प्रकार पुत्र का महत्त्व अब पहले जैसा नहीं रह गया है और यह समझा जाने लगा है कि पुत्र या पुत्री दोनों ही परिवार के कल्याण में समान सहयोग दे सकते हैं।
4. **विवाह के स्वरूपों में परिवर्तन** (Changes in the forms of marriage)–आधुनिक समय में विवाह के स्वरूपों में भी परिवर्तन हो रहा है आज सह-शिक्षा के विस्तार, युवक-युवतियों का साथ-साथ काम करने तथा स्वतंत्रतापूर्वक मेल-मिलाप करने के कारण वे परस्पर प्रेम करने एवं अपनी इच्छानुसार, बिना अपने माता-पिता की अनुमति के ही एक-दूसरे को पति और पत्नी के रूप में स्वीकार कर लेते हैं। इस प्रकार के विवाह में शरीर-संयोग विधिवत् विवाह होने से पूर्व भी हो सकता है। और चूँकि प्रेम

नोट

जाति या धर्म के बंधन को स्वीकार नहीं करता है, इस कारण आज अंतर्जातीय विवाह का भी प्रचलन बढ़ रहा है। यह बात केवल हिंदू-विवाह के संबंध में ही नहीं, अन्य भारतीय समुदायों पर भी लागू होती है। विवाह से संबंधित रीति-रिवाज या रस्मों में अब काफी परिवर्तन हो गए हैं।

5. **दहेज का विरोध** (Opposition of dowry)–आज दहेज या सही अर्थ में वर-मूल्य का भी विरोध किया जा रहा है। लड़के व लड़कियों में विशेषकर शिक्षित लोगों में यह भावना पनप रही है कि दहेज जैसी सामाजिक प्रथा का अंत होना ही चाहिए। यद्यपि इस प्रथा का प्रचलन आज भी कम नहीं हुआ है फिर भी प्रवृत्ति इसके पक्ष में नहीं है।
6. **विवाह-विच्छेद के प्रति झुकाव** (Favourable attitude towards divorce)–पहले कोई भी हिंदू, विशेषकर, हिंदू स्त्री, विवाह-विच्छेद की कल्पना ही नहीं करती थी और विवाह-बंधन को एक आजीवन का बंधन मान लिया जाता था। पर अब इस प्रवृत्ति में परिवर्तन हो रहा है और आवश्यकता पड़ने पर, विवाह-विच्छेद बुरा नहीं है, यह प्रवृति दिन-प्रतिदिन प्रबल होती जा रही है। ऐसा इसलिए हो रहा है कि विवाह-विच्छेद की आवश्यकता कुछ विशेष परिस्थिति में हो सकती है, आज यह अनुभव किया जा रहा है।
7. **अंतर्जातीय विवाह** (Inter-caste marriage)–विवाह के संबंध में एक क्रांतिकारी प्रवृत्ति जीवन-साथी के चुनाव के मामले में जातीय बंधन को तोड़ना या अंतर्विवाह के नियमों को न मानना है। आज अंतर्जातीय विवाह के प्रति लोगों का झुकाव बढ़ रहा है।

5.6 सारांश (Summary)

- मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, लेकिन सबसे पहले वह पारिवारिक प्राणी है, क्योंकि वह परिवार में ही जन्म लेता और परिवार के द्वारा धीरे-धीरे सामाजिकता को विकसित करता है।
- संयुक्त परिवार प्रणाली भारतीय समाज का एक प्रमुख स्तंभ है।
- सामान्य रूप से संयुक्त परिवार में पति-पत्नी, पुत्र-पुत्री तथा निकट संबंधी एक साथ निवास करते हैं तथा सभी सदस्य अपनी योग्यता तथ सामर्थ्य के अनुसार आर्थिक क्रियाओं का संचालन करते हेतु अपना योगदान करते हैं। घर के कार्यों का निर्देशन व संचालन कर्त्ता के द्वारा होता है तथा वह पद सामान्यत: घर के वृद्ध व्यक्ति को दिया जाता है।
- संयुक्त परिवार में व्यक्तिगत संपत्ति का कोई महत्त्व नहीं होता है। सदस्य अपने बारे में कम तथा अन्य सदस्यों के बारे में अधिक सोचता व करता है।
- पितृसत्तात्मक संयुक्त परिवार में पुरुषों की प्रधानता होती है। वंश परंपरा पिता से पुत्र को मिलती है तथा पिता की संपत्ति का उत्तराधिकारी पुत्र होता है।
- मातृसत्तात्मक संयुक्त परिवार का निर्माण स्त्री, उसके भाई-बहनों तथा उनके बच्चों से होता है। भाई के पुत्रों (भांजों) को प्राप्त होता है। इस प्रकार के परिवार में कर्त्ता घर की बड़ी-बूढ़ी स्त्री होती है।
- संयुक्त परिवार एक निगम के समान है जिसमें सभी व्यक्ति अपनी योग्यता के अनुसार अर्जन करते हैं और आवश्यकता के अनुसार व्यय करते हैं। संयुक्त परिवार सभी प्रकार से आरामदायक और लाभदायक हैं इसके साथ-साथ।
- संयुक्त परिवार के दोष भी हैं जिनके कारण यह व्यवस्था दिनों-दिन कमज़ोर पड़ती जा रही है।
- परिवार में कर्त्ता की इच्छा को प्रधानता मिलने के कारण अन्य सदस्य अपनी इच्छा एवं अपने विचारों के अनुसार कोई भी स्वतंत्र कार्य नहीं कर सकता है। कर्त्ता जो आदेश दे, चाहे वह सही है या गलत, उसे सभी सदस्यों को मानना पड़ता है।
- आज संयुक्त परिवार की संरचना तथा कार्य दोनों ही में परिवर्तन हो रहे हैं। वर्तमान भारतीय परिस्थितियों में संयुक्त परिवार एक नाजुक दौर से गुजर रहा है। उसमें अनेक परिवर्तन हो रहे हैं।

नोट

- भारत में प्रारंभ से ही संयुक्त परिवार प्रणाली की प्रधानता रही है, वहीं आज पश्चिमी औद्योगीकृत समाजों में एकाकी परिवारों की प्रधानता पाई जाती है। एकाकी परिवार से अभिप्राय ऐसे गृहस्थ समूह से है जिसमें पति-पत्नी बच्चों सहित अथवा अविवाहित बच्चों सहित रहते हैं।
- परिवार के स्वरूप में समय-समय पर परिवर्तन होता रहा है। आधुनिक समय में यह परिवर्तन क्रांतिकारी है क्योंकि यह युग औद्योगिक युग है।

5.7 शब्दकोश (Keywords)

1. **पाणिग्रहण**–विवाह की इस प्रक्रिया में वर-वधू एक-दूसरे का हाथ पकड़कर छः मंत्रोच्चारण करते हैं और जीवन-भर साथ रहने, सौ वर्ष तक जीने, संतानोत्पत्ति इत्यादि की प्रतिज्ञा करते हैं।
2. **पितृसत्तात्मक परिवार**–पिता पर आधारित परिवार।
3. **मातृसत्तात्मक परिवार**–ऐसे परिवारों में घर की मालिक स्त्री होती है तथा वंश स्त्री के आधार पर चलता है।

5.8 अभ्यास-प्रश्न (Review Question)

1. संयुक्त परिवार के स्वरूप पर प्रकाश डालिए।
2. एकाकी परिवार से आप क्या समझते हैं?
3. संयुक्त परिवार की प्रमुख विशेषताएँ बताइए।
4. विवाह से आप क्या समझते हैं? विवाह की परिभाषा दीजिए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer : Self Assessment)

1. (✗)
2. (✓)
3. (✗)
4. (✓)

5.9 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. डायनमिक्स ऑफ सोशल इंस्टीट्यूशंस–*अज़हर शेख़, सब्लाइम पब्लिकेशंस, 2008.*
2. इंडियन सोसाइटी एंड सोशल इंस्टीट्यूशंस–*(2 वॉल्यूम्स सेट) एन. जयापालन, एटलांटिक।*
3. मैरिज, पापुलेशन एंड सोसाइटी : डेमोग्राफ़िक पर्सपेक्टिव्स ऑफ़ ए सोशल इंस्टीट्यूशंस–*एम. एम. कृष्णारेड्डी, कनिष्का, 1998.*

नोट

इकाई–6 : विश्व स्तर पर परिवार के स्वरूप में परिवर्तन (Changes in Form of Family at World Level)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)
प्रस्तावना (Introduction)
6.1 पारिवारिक प्रतिमानों में विविधता (Diversities in Familiar Pattern)
6.2 कृषि पर आधारित परिवार (Family based on Agriculture)
6.3 आधुनिक शहरी परिवार का अभ्युदय (Origin of Modern Urban Family)
6.4 परिवार पर प्रभाव डालने वाले कारक (Factors of Impacting on Family)
6.5 आधुनिक परिवार की संरचना (Structure of Modern Family)
6.6 आधुनिक परिवार के प्रकार्य (Function of Modern Family)
6.7 क्या नाभिकीय परिवार उद्योगवाद का नतीजा है? (In Nuclear Family result of Industrialism)
6.8 क्या नाभिकीय परिवार पारिवारिक संबंध का सार्वभौमिक रूप है? (Is Nuclear Family Universal form of Familiar Relation)
6.9 परिवार के ढाँचे में परिवर्तन (Changes in Structure of Family)
6.10 परिवार के कार्यों (प्रकार्यों) में परिवर्तन (Change in the Functions of Family)
6.11 सारांश (Summary)
6.12 शब्दकोश (Keywords)
6.13 अभ्यास-प्रश्न (Review Question)
6.14 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- पारिवारिक विविधता को समझने में।
- कृषि पर आधारित परिवार एवं आधुनिक परिवार को जानने में।
- परिवार को प्रभावित करने वाले कारकों को जानने में।
- परिवार के प्रकार्य एवं परंपरागत भारतीय परिवार को समझने में।

प्रस्तावना (Introduction)

मनुष्य अपने जन्म से ही परिवार से संबंधित होता है। विश्व के सभी समाजों में किसी न किसीं रूप में परिवार का अस्तीत्त्व रहा है। मनुष्य सामाजिक होने से पहले परिवार से जुड़ता है और तद्नुरूप संस्कार प्राप्त करता है। आदिम समाज से लेकर वर्तमान समाज तक परिवार के स्वरूप में परिवर्तन होता रहा है। विश्व के अलग-अलग भू-भाग पर परिवार के संस्कार एवं उनकी प्रकृति भी अलग-अलग रही है।

6.1 पारिवारिक प्रतिमानों में विविधता (Diversities in Familiar Pattern)

नोट

यद्यपि एक संस्था के रूप में परिवार के विकास के लिए जो स्थितियाँ जिम्मेदार हैं वे लगभग सार्वभौमिक हैं, अलग-अलग समाजों ने इन स्थितियों का सामना अलग-अलग ढंग से किया है। अत: विभिन्न संस्कृतियों में परिवार के विविध रूप सामने आए हैं। हम इन विविधताओं में से कुछ की चर्चा इस रूप में कर सकते हैं।

(*i*) परिवार वृत्त पर आधारित विविधता

परिवार पति, पत्नी और बच्चों की न्यष्टि के गिर्द विकसित हो सकता है। इस तरह के परिवार को दाम्पतिक या नाभिकीय परिवार (न्यूक्लियर फैमिली) कहते हैं।

दांपतिक और नाभिकीय परिवार में अंतर

यद्यपि इन दोनों पदों का प्रयोग एक-दूसरे के लिए होता है इनके बीच एक सूक्ष्म अंतर है। जब स्वयं परिवार-इकाई की चर्चा की जाती है तो इनमें से किसी भी पद का इस्तेमाल दूसरे के बदले में हो सकता है। पर जब संपूर्ण पारिवारिक व्यवस्था का जिक्र किया जाता है तो 'दांपतिक' शब्द को ज्यादा महत्त्व दिया जाता है। 'पारिवारिक व्यवस्था' से तात्पर्य यह है कि नाभिकीय परिवार के सदस्य अपने अधिक दूर के संबंधियों के साथ रिश्तेदारी बरकरार रखते हैं। **ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमेरिका** सहित विभिन्न औद्योगीकृत पाश्चात्य देशों में जितने समसामयिक अध्ययन हुए हैं उनसे स्पष्ट है कि जब हम 'नाभिकीय' शब्द का प्रयोग करते हैं तो अधिक बल नाभिकीय परिवार के संरचनात्मक रूप पर होता है। दूसरी ओर जब हम दांपतिक पद का प्रयोग करते हैं तो अधिक बल दाम्पतिक के संबंध के सामाजिक पक्षों पर होता है।

समरक्त या संयुक्त परिवार

यह एक अन्य प्रकार का परिवार है ''जहाँ रक्तसंबंधियों, जैसे भाई और बहन या माता-पिता और बच्चे का संबंध केंद्रीय महत्त्व रखता है।'' इन रक्त संबंधियों के बीच बंधन विवाहित पति-पत्नी के बंधन से अधिक मजबूत प्रतीत होता है। अत: इस तरह के परिवार को ''परिधिस्थ विवाहित जोड़ों से घिरे रक्त संबंधियों की एक नाभि या न्यष्टि'' के रूप में चित्रित किया जाता है। ''इस तरह के परिवार को 'समरक्त परिवार' कहा जाता है चूँकि पारिवारिक समूह रक्त संबंधों के इर्दगिर्द संघटित होते हैं न कि पति और पत्नी के बीच वैवाहिक संबंधों के इर्दगिर्द जैसाकि हम दांपतिक या नाभिकीय परिवार के परिप्रेक्ष्य में देखते हैं। समरक्त परिवार को संयुक्त या विस्तृत परिवार भी कहा जाता है।

संयुक्त परिवार और विस्तृत परिवार में अंतर

कुछ मानवशास्त्री संयुक्त परिवार और विस्तृत परिवार के बीच भेद करते हैं। ''नोट्स एंड क्वेरीज आन सोशियोलॉजी'' नामक पुस्तिका के अनुसार, संयुक्त परिवार उस समय अस्तित्व में आता है जब ''एक ही लिंग के और रैखिक रूप से संबद्ध दो या दो से अधिक संबंधी, उनकी पत्नियाँ और बच्चे एक ही घर में रहने लगते हैं और एक सत्ता या एक ही नेतृत्व की अधीनता सामूहिक रूप से स्वीकार कर लेते हैं।'' इसका उदाहरण एक ऐसा समूह है जिसमें कोई व्यक्ति और उसकी पत्नी अपने विवाहित पुत्रों, पुत्रवधुओं तथा उनके बच्चों के साथ रहते हैं ऐसे किसी समूह के बारे में यह सोचना गलत होगा कि यह नाभिकीय परिवारों का एक मशीनी संकलन मात्र होता है।

संयुक्त परिवार आमतौर पर इसलिए अस्तित्व में आते हैं और बरकरार रहते हैं क्योंकि नाभिकीय परिवार समूह से जिस तरह की जिम्मेदारियों का निर्वाह संभव होता है उनकी अपेक्षा संयुक्त परिवार अधिक विस्तृत जिम्मेदारियाँ निभा सकता है। दूसरी ओर विस्तृत परिवार संयुक्त परिवार के अधिक परिक्षिप्त संस्करण हैं। विस्तृत परिवार के घट समूहों के सदस्य एक साथ सम्मिलित रूप से एक ही घर में नहीं रहते हैं। प्राय: वे एक-दूसरे के नजदीक रहते हें और एक जैसी गतिविधियों में जुड़े रहते हैं।

नोट

विस्तृत परिवार की अवधारणा इस तरह के आनुभविक वर्गीकरण के लिए 'परिवार' शब्द की उपयोगिता को खत्म कर देती है क्योंकि इस तरह का परिवार एक लघु वंशावली (लीनिएज) होता है ('वंशावली' शब्द का अभिप्राय जानने के लिए नातेदारी या रक्तसंबंध पर आधारित अध्याय देखें) और जाहिर है इसीलिए वंशावली सिद्धांत इस पर बहस का आधार हो सकता है। वैसे सगोत्र समूह के रूप में भी इसका विश्लेषण हो सकता है। चूँकि वंशावलियों और सगोत्र समूहों की सदस्यता में मानदंड जन्म होता है, वे अपने सदस्यों के जन्म, प्रशिक्षण और अंतत: उनकी प्रतिबद्धता में काफी रुचि दिखाते हैं। जिससे इन समूहों और 'परिवारों' के बीच, जो रंगरूट पैदा करते हें और उन्हें प्रशिक्षित करते हैं, एक नजदीकी 'संगति' स्थापित हो सके।

मिश्र परिवार

जब नाभिकीय परिवार की इकाइयों व उनके अंशों के संयोजन-संकलन के जरिए एक मूर्त समूह का निर्माण होता है तो इसे 'मिश्र परिवार' के नाम से जाना जाता है। बहुपत्नी विवाह पर आधारित किसी परिवार में एक पुरुष, उसकी पत्नियाँ व उनसे उत्पन्न उसके बच्चे मिश्र परिवार का संघटन करते हैं। अगर किसी परिवार समूह के घटकों में कोई पुनर्विवाहित विधवा या तलाकशुदा स्त्री तथा पिछले विवाह से उत्पन्न उसके बच्चे हो तो इस तरह का परिवार भी मिश्र परिवार ही होगा। मिश्र परिवार किसी सहवासी (को-रेजिडेंसियल) समूह को ही इंगित करें यह जरूरी नहीं है।

स्तंभ परिवार

19वीं सदी में लेप्ले ने यूरोपीय परिवार की संरचनाओं का एक वर्गीकरण प्रस्तुत किया जिसमें अर्धसामंती पूर्वी यूरोपीय क्षेत्रों की पितृसत्तात्मक व्यवस्थाओं में उद्‌भूत और विस्तृत परिवारों के विकास को प्रोत्साहित करने वाले परिवार तो शामिल थे ही, अर्ध-औद्योगिक क्षेत्रों के स्तंभ परिवार सहित वैसे सारे परिवार शामिल थे जिन्हें शहरी औद्योगिक क्षेत्रों की अस्थायी और असंघटित व्यवस्थाओं के रूप में देखा गया। ले प्ले ने यह निष्कर्ष निकाला कि औद्योगीकरण की माँगों के प्रति अनुकूलित होकर स्तंभ परिवार पारिवारिक नैरंतर्य को सुरक्षित रखता है। यद्यपि परिवार के अनेक युवा सदस्य उत्प्रवासित होकर अन्यत्र चले गए या औद्योगिक केंद्रों में काम करने के लिए चले गए, मुख्य परिवार या स्तंभ अपनी जगह पर कायम रहा। इसका निवास-स्थान आमतौर पर इसकी अपनी भूमि या इसका अपना घर था।

(*ii*) विवाहोत्तर आवास के आधार पर विविधता

विवाह के उपरांत जब नवविवाहित जोड़े घरेलू इकाइयाँ स्थापित करते हैं तो इसे नवस्थानीय (Neolocal निओलोकल) आवास कहा जाता है। यह प्रथा पाश्चात्य समाजों में प्रचलित है।

जब विवाह किसी समरक्त परिवार में होता है तो एक भागीदारी दूसर के परिवार का/की सदस्य/सदस्या हो जाता/जाती है। जब पति अपनी पत्नी के परिवार के साथ रहने लगता है तो इसे 'मातृस्थानीय आवास' कहते हैं। मेघालय के खासियों में यही रिवाज है। जब पत्नी अपने पति के परिवार की सदस्यता ग्रहण कर लेती है तो यह व्यवस्था 'पितृस्थानीय आवास' कहलाती है। यह रिवाज बहुत थोड़े अपवादों को छोड़कर पूरे भारत में हर जगह प्रचलित है।

आवास को हम 'पुंस्थानीय' (Virilocal विरिलोकल) कहते हैं जब विवाहित जोड़ा एक ऐसे घरेलू समूह के साथ रहने लगता है जहाँ पति विवाह से पहले रहा करता होगा और जिसमें संपत्ति या अन्य किसी भी तरह के दावे पत्नी के बजाय पति द्वारा किए जाते हैं।

आवास को स्त्रीस्थानीय (Uxorilocal उक्सोरीलोकल) कहते हैं जब जोड़ा एक ऐसे घरेलू समूह के साथ रहने लगता है जिससे पत्नी विवाह से पहले जुड़ी रह चुकी होती है और जिसमें संपत्ति या इस तरह के अन्य दावे पति के बजाय पत्नी द्वारा किए जाते हैं।

विवाहित जोड़ा जिस घरेलू समूह के साथ रहना शुरू करता है उसकी प्रकृति का वर्णन और अधिक सटीक ढंग से करने के लिए उपर्युक्त पदों के साथ और कुछ शब्द मिलाए जा सकते हें अत: 'पुंपितृस्थानीय आवास'

नोट

(विरिपैट्रीलोकल) घरेलू समूह के एक ऐसे निवास-स्थान का द्योतक है जिसके केंद्र में वर का पिता होता है। इसी तरह 'स्त्री मातृस्थानीय आवास' से किसी घरेलू समूह के उस निवास-स्थान का संकेत मिलता है जिसके केंद्र में वधू की माँ होती है।

'मातुलस्थानीय' (एवंक्यूलोकल) पद का प्रयोग किसी समूह के उस आवास को द्योतित करने के लिए होता है जिसके केंद्र में वर की माँ का भाई होता है।

(iii) वंश के सिद्धांत पर आधारित विविधता

जब कुलनाम और पारिवारिक संपत्ति विरासत के रूप में हासिल होते हैं तो इस आधार पर वंश तथा क्रम-विन्यास व पदानुषंग का उत्तराधिकार निर्धारण हमें परिवार के एक चतुर्वर्गी विभाजन से अवगत कराता है। ये चार वर्ग हैं–(क) पितृवंशीय (पैट्रीलीनियल) जिसमें संपत्ति का हस्तांतरण और वंश का निर्धारण पुरुष पक्ष के कुल के आधार पर होता है, (ख) या मातृवंशीय जिसमें संपत्ति का हस्तांतरण और वंश का निर्धारण स्त्री पक्ष के कुल या वंश के आधार पर होता है, (ग) पितृनामाधारित (पैटानाइमिक) जिसमें संतान अपने पिता का नाम धारण करते हैं और (घ) मातृनामाधारित (मैट्रोनाइमिक) जिसमें संतान माँ का नाम धारण करते हैं।

(iv) सत्ता पर आधारित विविधता

सत्ता के प्रयोग की दृष्टि से परिवार को निम्नलिखित वर्गों में विभक्त किया जा सकता है–(क) पितृसत्तात्मक (पैट्रीआर्कल) जिसमें सत्ता पिता के हाथों में होती है, (ख) मातृसत्तात्मक (मैट्रीआर्कल) जिसमें सत्ता माता के हाथों में होती है, (ग) मातुलसत्तात्मक (एवंक्यूपोटेस्टल) जिसमें सत्ता वर की माता के भाई के हाथों में होती है।

(v) एक अन्य भेद उत्पत्ति या अभिमुखन के परिवार और प्रजनन के परिवार के बीच भी किया जा सकता है। उत्पत्ति या अभिमुखन का परिवार वह होता है जिसमें किसी व्यक्ति का जन्म होता है जबकि प्रजनन का परिवार वैसा परिवार है जो विवाह के बाद किसी व्यक्ति द्वारा स्थापित किया जाता है।

6.2 कृषि पर आधारित परिवार (Family based on Agriculture)

परिवार के समाजशास्त्रीय अध्ययन का एक प्रमुख विषय परिवार की संरचना और औद्योगीकरण की प्रक्रिया के बीच संबंध है। औद्योगीकरण के प्रभाव के कारण पाश्चात्य समाजों में परिवार को जबर्दस्त परिवर्तनों के दौर से गुजरना पड़ा है। तीव्र औद्योगिक विकास और प्रौद्योगिकी के विस्तार के कारण भारतीय परिदृश्य में भी ऐसे परिवर्तनों का दौर शुरू हो गया है। इन परिवर्तनों को हम परंपरागत कृषि पर आधारित परिवार की विशेषताओं के परिप्रेक्ष्य में ज्यादा अच्छे ढंग से समझ सकते हैं। इस पर चर्चा की शुरूआत पूर्व-औद्योगिक समाजों में परिवार की पड़ताल से हो सकती है ताकि तुलना के लिए एक मानक स्थापित कर पाना संभव हो।

स्पष्ट कारणों से कृषि पर आधारित परिवार भू-संपदा, स्थायी घरबार, माल-मवेशी, मुर्गीखाना और यदाकदा हथकरघे से जुड़ा होता है इस तरह का परिवार आमतौर पर निम्नलिखित संलक्षण दर्शाता है।

पारिवारिक जीवन की पहली विशेषता घर को सुचारू ढंग से चलाने की प्रक्रिया से संबंधित आर्थिक गतिविधियों और प्रकार्यों पर केंद्रित होती है। स्त्रियों सहित परिवार के सभी बुजुर्ग खेतीबाड़ी में या बुनाई-कताई, सिलाई, फर्नीचर बनाने, घर की छप्पर बनाने अथवा उसकी मरम्मत करने आदि जैसे हस्तकर्मों में लगे रहते हैं। इस तरह के परिवार में पुरुष अक्सर घर से बाहर काम करते हैं जबकि औरतों से घर के अंदर का काम संभालने की उम्मीद की जाती है। स्त्री की भूमिका गृहप्रबंधक की होती है।

ऐसे परिवार की दूसरी विशेषता यह है कि उसके आर्थिक जीवन में पत्नी का महत्त्व किसी व्यक्ति द्वारा अपने जीवन साथी के चुनाव के मानदंडों को निर्धारित करता है। अत: कोई आदमी जब विवाह के अनुबंध के लिए तैयार होता है तो वह अपनी भावी जीवनसंगिनी के काम की आदतों व कौशलों को ध्यान में रखता है। दूसरी ओर, स्त्री को एक अच्छे 'दाता' की तलाश होती है। जीवनसाथी के चुनाव में स्नेह या प्रेम की भूमिका गौण होती है।

नोट

तीसरी विशेषता यह है कि कृषि पर आधारित परिवार आमतौर पर बड़े आकार का होता है कृषिकर्म में स्वाभाविक रूप से श्रम की अधिक जरूरत होती है। किसी खेत के सुचारू प्रबंध की दृष्टि से एक वृहत् श्रम शक्ति की जरूरत होती है। बच्चों की एक बड़ी तादाद इस समस्या का सबसे सहज समाधान है क्योंकि हर नया बच्चा परिवार की श्रम शक्ति में एक इजाफा होता है।

ऐसे परिवार की चौथी विशेषता है कृषि पर आधारित समाजों में संयुक्त या विस्तृत परिवारों की लोकप्रियता जिसके लिए उपर्युक्त कारक ही मुख्य रूप से जिम्मेदार है। परिवार की श्रम शक्ति को ''घर में विवाहित पुत्रों को रखकर और पुत्रवधुओं को लाकर भी बढ़ाया जा सकता है।'' अत: परिवार लंबवत् ढंग से फैल सकता है अगर दादा-दादियों, माँ-पिताओं, बच्चों, पोते-पोतियों आदि को मिलाकर तीन या चार पीढ़ियाँ एक ही छत के नीचे रह रही हों। कभी-कभी परिवार क्षितिजीय विस्तार भी दर्शाता है। चीन में यही स्थिति देखने को मिलती है जहाँ परिवार के साथ रहने के लिए संबंधियों को आमंत्रित किया जाता है।

इस तरह के परिवार की पाँचवीं विशेषता यह है कि चूँकि यह ''भूमि जैसी स्थायी संपत्ति से जुड़ा रहता है'', परिवार की प्रतिष्ठा ही बहुत हद तक किसी व्यक्ति की प्रस्थिति को निर्धारित करती है। व्यक्तिगत तौर पर किसी आदमी में चाहे जो भी योग्यता हो, वह अपने परिवार की प्रतिष्ठा के आधार पर समुदाय में श्रेष्ठ प्रस्थिति का हकदार होता है। इसी तरह अपना कोई दोष न होने के बावजूद किसी व्यक्ति को अपने परिवार की अप्रतिष्ठा के कारण अमर्यादित होने की विवशता झेलनी पड़ती है। जाहिर है व्यक्ति परिवार की तुलना में काफी कम महत्त्व रखता है। जैसाकि ओगबर्न और निमकौफ कहते हैं– ''परिवार की प्रस्थिति इतनी महत्त्वपूर्ण हो सकती है कि यह व्यक्ति को गौण बना देता है और उसे अपने तईं एक व्यक्तित्व के रूप में पहचान बनाने के बजाय किसी एक परिवार के पुत्र या पुत्री के रूप में पहचाने जाने के लिए प्रवृत्त करता है।''

अंतत: कृषि पर आधारित परिवार को लघु समुदाय कहा जा सकता है जो शैक्षिक, धार्मिक सुरक्षात्मक और यहाँ तक कि मनोरंजनात्मक आदि विभिन्न क्रियाकलापों का केंद्र होता है। चूँकि कृषि पर आधारित किसी परिवार के सदस्य लंबे समय तक अपने घरों से दूर नहीं रह सकते हैं, बच्चा उनके प्रत्यक्ष प्रभाव की छाँव में पलता-बढ़ता है। वे उसे यह समझने में मदद करते हैं कि अच्छा या बुरा उचित या अनुचित, नैतिक या अनैतिक के बीच भेद कैसे किया जा सकता है। वे उसे परिवार के साथ-साथ वृहत्तर समुदाय की परंपरा को भी हृदयंगम करने में मदद करते हैं। चूँकि कृषि पर आधारित समुदाय में गतिशीलता बहुत सीमित होती है, सामाजिक नियंत्रण बहुत कठोर होता है। परिणामस्वरूप सामाजिक मानदंडो से विक्षेप या विपथगमन काफी कम होते हैं। कृषि पर आधारित परिवार विभिन्न प्रकार के सुरक्षा प्रकार्यों का निष्पादन करता है, जैसे–बीमारों, बूढ़ों और बेरोजगारों की देखभाल। मनोरंजन की सुविधाएँ भी अक्सर परिवार वृत्त तक ही सीमित होती हैं क्योंकि कृषि पर आधारित परिवार बड़े आकार का होता है और इसके सदस्य अपने अवकाश के घंटे साथ-साथ गुजारते हैं। बेशक एक अन्य महत्त्वपूर्ण कारक ग्रामीण क्षेत्रों में सस्ते, व्यावसायिक मनोरंजन की अनुपस्थिति है। यह एक दिलचस्प सच्चाई है कि जब सामुदायिक पूजा जैसा कोई सामुदायिक समारोह या आयोजन भी होता है तो इसमें भागीदारी व्यक्तिगत आधार पर नहीं बल्कि परिवार के आधार पर होती है।

6.3 आधुनिक शहरी परिवार का अभ्युदय (Origin of Modern Urban Family)

परिवार आवास की तरह कोई स्थापित और मूर्त-सी चीज नहीं है बल्कि बहुत से क्रियाकलापों का एक समूह है जो संतान की उत्पत्ति और देखभाल पर केंद्रित होता है। परिवार सिर्फ लोगों से मिलकर नहीं बनता है बल्कि उन लोगों से मिलकर बनता है जो एक साथ रहते हैं और अपना एक घर बना लेते हैं। अत: पारिवारिक जीवन को हम एक प्रकार के साामजिक आचरण के रूप में देख सकते हैं। अत: यह स्वाभाविक है कि पारिवारिक जीवन पुरुषों, स्त्रियों व बच्चों के अन्य सामाजिक संबंधों के संदर्भ में उनके व्यवहार द्वारा प्रभावित होते हैं। फिर यह भी सच्चाई है कि अगर कोई परिवार अपने ''आत्मसंतोष के कठोर दायरे में ही सिमटकर रह जाता है'' तो इसके लिए अपने उद्देश्यों की पूर्ति कर पाना असंभव हो जाएगा। समाज की बदलती परिस्थितियों के प्रति निरंतर संवेदनशील रहना और उपयुक्त ढंग से स्वयं को अनुकूलित करना परिवार के लिए अनिवार्य है।

6.4 परिवार पर प्रभाव डालने वाले कारक (Factors Impacting on Family)

नोट

''परिवार स्वयं उतना परिवर्तित नहीं हुआ जितना परिवर्तन इस पर आरोपित किया गया है। यह संक्रमण की स्थिति में है क्योंकि सभ्यता स्वयं संक्रमण की स्थिति में है।''

सबसे पहले हम अनुप्रयुक्त (अप्लाइड) विज्ञान के प्रभावों पर विचार करते है। विज्ञान ने औद्योगिक संगठन के क्षेत्र में क्रांतिकारी आर्थिक परिवर्तनों का श्रीगणेश किया है। ''घर के बजाय कारखाना उत्पादन की इकाई हो गया'' क्योंकि ''वाष्प क्वथनित्र (स्टीम बॉयलर) घर के लिए आवश्यकता से ज्यादा बड़ा था और इससे उत्पन्न शक्ति के लिए अधिक स्थान की जरूरत थी।'' परिवार से पूँजीवादी संगठनों में उत्पादन का स्थानांतरण आधुनिक परिवार के लिए काफी महत्त्व की चीज थी। उत्पादन संबंधी प्रकार्यों ने देहाती कृषि पर आधारित परिवार में एकता के सूत्रों का बीजारोपण किया। शहरी परिवार की स्थिति इसके एकदम विपरीत है और जहाँ तक आर्थिक गतिविधियों का सवाल है, यह बहुत हद तक ''बाहर काम करने वाले सदस्यों द्वारा अर्जित आय पर अच्छी तरह विचार करने'' तक ही खुद को सीमित रखता है।

औद्योगीकरण के बाद परिवार को प्रभावित करने वाले अनेक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन दृष्टिगोचर हुए हैं। इन सबमें स्त्रियों की नई प्रस्थिति शायद सबसे महत्त्वपूर्ण है। यह न केवल पाश्चात्य बल्कि भारतीय समाज के संदर्भ में भी सत्य है।

परिवार पर अनुप्रयुक्त विज्ञान का एक अन्य प्रभाव जन्म नियंत्रण की तकनीकों में सुधार और इनके प्रचार-प्रसार के रूप में उभरकर सामने आया है यह सत्य है कि पहले भी जन्म दर पर नियंत्रण के संतोषजनक तरीके ढूँढने के प्रयास होते रहे हैं और इसलिए यह कोई नई बात नहीं है। पर फिर भी अपनी अत्यधिक दक्षता और व्यापक अपील के लिहाज से यह नया ही है। हर तरफ इसकी चर्चा हो रही है और जोर-शोर से इसे प्रचारित तथा विज्ञापित किया जा रहा है। सार्वजनिक रूप से लोगों के समक्ष तर्कपूर्ण भाषा में लघु परिवार के मानदंड का समर्थन किया जाता है।

परिवार पर अपने प्रभाव में एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण सामाजिक परिवर्तन की छाप छोड़ना ही शहरी संस्कृति के प्रभुत्व का कारण है। शहरी जीवन के उन विविध पक्षों में से जो परिवार को प्रभावित करते हैं, हम दो की चर्चा यहाँ कर सकते हैं। एक ओर तो जनसंख्या का दबाव सामुदायिक आधार पर सार्वजनिक मनोरंजन, स्वास्थ्य आदि से संबद्ध कुछ खास-खास सेवाएँ प्रदान करने की आवश्यकता और अवसर पैदा करता है तो दूसरी ओर किसी शहरी परिवार के पुरुष सदस्य अपने काम के सिलसिले में दिन का अधिकांश समय घर से बाहर गुजारते हैं। परिणामस्वरूप कृषि पर आधारित अर्थव्यवस्था के परिप्रेक्ष्य में परिवार के पिता की अपेक्षा शहरी परिवार का पिता अपने बच्चों की शिक्षा में नगण्य भूमिका निभाता है। कभी-कभी माँ को भी घर से बाहर काम करना पड़ता है। इन परिस्थितियों में शहर में रहने वाले लोगों ने छोटे-छोटे बच्चों की देखभाल के लिए क्रेच, नर्सरी, किंडरगार्टन आदि जैसे विद्यालय स्तर से पहले की अनेक 'एजेंसियाँ' विकसित कर ली हैं।

क्या आप जानते हैं शहर का प्रभाव सिर्फ उन्हीं लोगों तक सीमित नहीं है जो इसकी भौगोलिक सीमाओं के अंदर सिमटे हुए हैं। सच्चाई तो यह है कि इसका प्रभाव इससे ज्यादा व्यापक है और इसका हस्तक्षेप समाज के हर स्तर में है।

अंतत: हमें तथ्य को भी ध्यान में रखना होगा कि आधुनिक जीवन की जटिलताओं ने राज्य पर विभिन्न सामाजिक व आर्थिक दायित्वों का बोझ लाद दिया है जो पहले सिर्फ और सिर्फ परिवार के सरोकार थे। दृष्टांतों के रूप में हम उन विभिन्न सामाजिक सुरक्षा उपयों का जिक्र कर सकते हैं जो आधुनिक राज्यों द्वारा क्रियान्वित किए गए हैं।

इन विविध प्रभावों के परिणामस्वरूप, आधुनिक परिवार की प्रत्येक विशेषता यही जताती है कि कृषि पर आधारित या घर-गृहस्थी वाले परिवार से संबंधित चिंतन के लंबे समय से स्थापित मौलिक प्रतिमान टूट रहे हैं।

नोट

6.5 आधुनिक परिवार की संरचना (Structure of Modern Family)

इस संदर्भ में ध्यान देने योग्य सबसे पहली बात यह है कि नाभिकीय परिवार ने बहुत हद तक और खासकर पाश्चात्य समाजों में समरक्त परिवार को विस्थापित कर दिया है। इस तरह के परिवर्तन भारत के शहरी क्षेत्रों में भी लगातार दृष्टिगोचर हो रहे हैं। उत्पादन की इकाई के रूप में परिवार के आर्थिक महत्त्व में ह्रास ने परिवार समूह की पुरानी एकता को धक्का पहुँचाया है। जब कोई व्यक्ति किसी कारखाने में नौकरी पा लेता है और अपने माता-पिता और भाइयों के प्रयासों से स्वतंत्र होकर अपने तईं कुछ कमाने-धमाने लगता है तो मिले-जुले परिवार के व्यय के लिए अपनी कमाई देने का उसका इरादा उस हद तक मजबूत नहीं रह जाता है जिस हद तक उस समय था जब वह और उसके भाई साथ-साथ जमीन पर काम कर रहे थे।

दूसरी ध्यातव्य चीज पति और पत्नी के आपसी संबंध की प्रकृति में आने वाला बदलाव है। स्त्री की आर्थिक स्वतंत्रता ने विवाह के प्रति उसके पूरे दृष्टिकोण को प्रभावित किया है। अब उसे ''दाता'' की तलाश उस हद तक नहीं होती है। जीवन साथी का उसका चुनाव अक्सर प्रेम, स्नेह, रूचि या तेवर में समानता जैसी बातों द्वारा निर्धारित होता है। चूँकि आधुनिक परिवार अब उत्पादन की इकाई नहीं रह गया है, पुरुष भी अपनी पत्नी का चुनाव उसके कौशल अथवा कार्यक्षमता के आधार पर नहीं बल्कि इन्हीं बातों के आधार पर करता है। साथ ही पुरुष व स्त्री इन दोनों की आर्थिक स्वतंत्रा ने उन्हें ''उस पैतृक नियंत्रण व सामाजिक दबाव के अन्य रूपों से मुक्ति दिला दी है जिनका संबंध इस बात से है कि उन्हें किससे और कब शादी करनी चाहिए।''

आधुनिक परिवार में पति व पत्नी के संबंध को एक अलग कोण से देखा जा सकता है। चूँकि कृषि पर आधारित परिवार एक आर्थिक संगठन था, इसके लिए किसी-न-किसी तरह के नेतृत्व की जरूरत थी। आमतौर पर यह दायित्व पुरुषों के पास होता था। पर आधुनिक शहरी परिवार में, नेतृत्व और नियंत्रण की आवश्यकता उतनी ज्यादा नहीं है। अत: पति और पत्नी दोनों एक-दूसरे के साथ समानता का बर्ताव करते हैं। वे परिवार की समस्याओं पर एक साथ विचार-विमर्श करते हैं और ऐसे निर्णयों पर पहुँचने का प्रयास करते हैं जिनमें दोनों की सहमति हो।

इस सदंर्भ में तीसरी ध्यातव्य चीज आधुनिक परिवार का तुलनात्मक रूप से अधिक अस्थिर स्वरूप है। अत: आधुनिक शहरी परिवारों में पति व उसकी पत्नी के बीच विवाद की संभावनाएँ पुराने कृषि पर आधारित परिवारों के अपेक्षा ज्यादा हैं जिनमें पत्नी व पति की भूमिकाएँ सुनिश्चित होती थीं। परिवार के आर्थिक व सुरक्षात्मक प्रकार्यों की समाप्ति तथा ह्रास जैसे अन्य कारकों के चलते इनकी भमिका से संघर्षों को और अधिक प्रोत्साहन मिलता है। पश्चिम में ही नहीं बल्कि भारत में भी शहरी परिवारों में तलाक की तेजी से बढ़ती दरें उन तनावों व दबावों का संकेत देती हैं जो इन परिवारों पर हावी हैं।

चौथी बात यह है कि आधुनिक परिवार कृषि पर आधारित परिवारों की अपेक्षा छोटे आकर के हैं। इस प्रवृत्ति के लिए दो कारण मुख्य रूप से जिम्मेदार हैं। एक ओर तो परिवार से उत्पादन के स्थानांतरण के कारण खेत पर काम करने वाली अतिरिक्त श्रम-शक्ति के रूप में बड़े आकार के परिवार का मेरूदंड टूट गया। दूसरी ओर जन्म नियंत्रण की तकनीकों में होने वाली प्रगतियों ने पितृत्व के सोचे समझे नियोजन को संभव बना दिया।

6.6 आधुनिक परिवार के प्रकार्य (Function of Modern Family)

आधुनिक परिवार ने कृषि पर आधारित परिवार के परंपरागत प्रकार्यों में से अनेक को तिजांजलि दे दी है। हम पहले से ही यह देख चुके हैं कि उत्पादन के प्रकार्यों को निष्पादित करने का दायित्व परिवार से स्थानांतरित होकर घर से बाहर आर्थिक संगठनों को प्राप्त हो गया है।

शिक्षा भी इसी तरह घर की चहारदीवारी से बाहर आ चुकी है। विद्यालयों में विभिन्न प्रकार की शिक्षा दी जाती है जिसे अपने बच्चों को दे पाना अतीत में कभी किसी परिवार के लिए संभव न था। नर्सरी स्कूलों और किंडरगार्टनों के बढ़ते प्रचलन के साथ बच्चे की प्रारंभिक शिक्षा-दीक्षा की अधिकांश जिम्मेदारी विशेषज्ञों के हाथों में आ गई है। साथ ही शहरों ने खेल के मैदानों से वंचित छोटे-छोटे घरों में रहनेवाले बच्चों को अवकाश

नोट

के समय गलियों, सड़कों, सार्वजनिक पार्कों और खेल के मैदानों में खेलने-घूमने की आजादी दी है। इसके परिणामस्वरूप वे अपने माता-पिता, भाइयों या बहनों के प्रभाव से और भी ज्यादा दूर हो जाते हैं। इस तथ्य ने कि पिता और यदा-कदा माँ भी घर से बाहर काम करती है, बच्चों की शिक्षा में उनके योगदान को निस्संदेह काफी सीमित कर दिया है।

बीमार, बूढ़े और बेरोज़गार लोगों की देखभाल के रूप में परिवार जिन सुरक्षात्मक प्रकार्यों का निर्वाह पहले करता था उन्हें निबाहने की जिम्मेदारी अब अस्पतालों, सेवासदनों और क्लिनिकों की अथवा राज्य की है जो अपने नागरिको के हित में वृद्धावस्था पेंशन, बेरोजगारी भत्ता आदि जैसे सामाजिक सुरक्षा के उपायों पर अमल करता है।

मनोरंजन की सुविधाएँ जब प्राय: परिवार के दायरे के बाहर ही उपलब्ध होती हैं। रहने के क्वार्टरों का छोटा, आकार, परिवार के सदस्यों की कमतर संख्या, उन्हें एक साथ कर पाने की कठिनाई, घर पर इन सुविधाओं का अभाव, थियेटर, फिल्म आदि के रूप में अपेक्षाकृत सस्ते व्यावसायिक मनोरंजन के साधनों का विकास, आधुनिक परिवहन के साधनों का सुगमता से उपलब्ध होना–ये सब ऐसे कारक हैं जो घर की परिधि से बाहर परिवार के सदस्यों को मनोरंजन के अवसर तलाशने के लिए प्रेरित करते हैं। पुन: उम्र के आधार पर इन बाहरी मनोरंजनों का संघटन इन कार्यक्रमों में एक इकाई के रूप में पूरे परिवार की भागेदारी की संभावना को अवरुद्ध करता है।

इस तरह अपने अधिकांश परंपरागत प्रकार्यों से वंचित होकर आधुनिक परिवार मुख्य रूप से तीन काम करता है जिन्हें मैकाइवर और पेज परिवार के अनिवार्य प्रकार्यों का नाम देते हैं–(*i*) बच्चों का प्रजनन और पालन-पोषण; पर इस लिहाज से भी परिवार की कुछ जिम्मेदारियाँ मातृत्व सदन, 'एंटे-नेटल क्लीनिक' आदि जैसी बाहरी एजेंसियों ने ले लीं हैं, (*ii*) दंपत्तियों की यौन आवश्यकताओं की पुष्टि के लिए एक स्थायी आधार प्रदान करना; विवाह रूपी संस्था इन्हें न केवल अपनी शारीरिक भूख मिटाने का अवसर देती है बल्कि अपने आपसी प्रेम को गहरा बनाने तथा इसे वासना या शारीरिक हवस के स्तर से ऊँचा उठाने की प्रेरणा भी देती है। (*iii*) अपने सदस्यों के लिए घर प्रदान करना; ये सदस्य न केवल एक साथ एक ही छत के नीचे रहते हैं बल्कि आत्मीयता, अपनत्व और ऊष्म संबंध में सहभागिता द्वारा एक ऐसा माहौल तैयार करते हैं जो अन्य किसी भी संगठन के लिए संभव नहीं है।

टास्क क्या आपकी नज़र में वर्तमान युग में संयुक्त परिवार प्रासंगिक हो सकते हैं? पक्ष अथवा विपक्ष में अपने विचार प्रस्तुत करें।

6.7 क्या नाभिकीय परिवार उद्योगवाद का नतीजा है? (Is Nuclear Family Result of Industrialism?)

उपर्युक्त सवाल पर चर्चा करते हुए हम तीन परस्पर विरोधी विचारों से टकराते हैं। सबसे पहला विचार जिसे बहुतों का समर्थन प्राप्त है यह है कि यूरोप के पूर्व औद्योगिक समाज में संयुक्त या विस्तृत परिवार का प्रचलन था। इस तरह का परिवार अपने सदस्यों को आर्थिक, शैक्षिक, मनोविनोदपरक, सामाजिक, सुरक्षा संबंधी आदि विभिन्न जरूरतों को पूरा करता था पर औद्योगीकरण के आगमन के साथ आधुनिक परिवार इन प्रकार्यों से वंचित हो गया और अपने भूतपूर्व पर्याप्त स्व की एक बीमार परछाईं बनकर रह गया।'' अपने आदर्श रूप में आधुनिक परिवार ''नाभिकीय परिवार समूह है जो अपने अन्य संबंधियों से स्वतंत्र होकर अपने ही घर तक सीमित रहता है और पति अथवा पिता के वेतन या पारिश्रमिक पर निर्भर होता है।'' आगे यह भी कहा जाता है कि ''कम होती जन्म दरें, विवाह-विच्छेद की घटना में वृद्धि, घर में भोजन तैयार करने, कपड़े बनाने आदि की प्रक्रियाओं में कमी, परिवार के रहन-सहन के स्तर में गिरावट और बढ़ते व्यक्तिवाद तथा भौतिक मूल्यों के प्रति रुझान का संकेत देता है।''

नोट

दूसरा विचार टाल्कोट पार्सन्स तथा अन्य समाजशास्त्रियों द्वारा प्रतिपादित किया गया है। इनके अनुसार संयुक्त राज्य की शहरी दुनिया में विद्यमान परिवार-व्यवस्था अधिक सामान्य या स्वाभाविक परिवार-व्यवस्था का नग्न रूप नहीं है बल्कि स्वयं एक ऐसा अत्यंत विशिष्ट रूप है जो काफी विभेदीकृत अर्थव्यवस्था और राजनैतिक व्यवस्था तथा उन संस्थागत मूल्यों के अनुकूल होता है जो प्रदायन की अपेक्षा उपलब्धि पर ज्यादा बल देती है। पार्सन्स सामाजिक उद्विकास के अपने सिद्धांत के आधार पर अलग-अलग नाभिकीय परिवार के उद्भव पर दृष्टिपात करते हैं। समाज के उद्विकास में संरचनात्मक विभेदीकरण की प्रक्रिया निहित होती है। इसका अर्थ यह है कि उद्विकास की प्रक्रिया के दौरान ऐसी सामाजिक संसथाओं का जन्म होता है जो कमतर प्रकार्यों के लिए विशिष्ट होते हैं। अत: यह आश्चर्यजनक नहीं है कि परिवार और नातेदारी समूह बहुत से प्रकार्यों का निष्पादन नहीं करते हैं। इसके बजाय पाठशाला, चिकित्सालय, व्यावसायिक प्रतिष्ठान आदि परिवार के अनेक प्रकार्यों का निर्वहन विशिष्ट संस्थाओं के रूप में करने लगे हैं। पार्सन्स आगे यह विचार देते हैं कि अलग-थलग नाभिकीय परिवार और अर्थव्यवस्था के बीच भी औद्योगिक समाज के संदर्भ में एक प्रकार्यात्मक संबंध होता है। औद्योगिक समाज की आवश्यकताओं के प्रति अनुक्रिया के रूप में विलगित नाभिकीय परिवार के लिए उपयुक्त अनूकूलन स्थापित करना आवश्यक होता है। यह विचार दिया जाता है कि अन्य नातेदारी बंधनों से परिवार का आपेक्षिक अलगाव और इसकी लघुता एक प्रकार का अनुकूलन है जो इसके सदस्यों की स्थानीय और प्रास्थितिक गतिशीलता को संभव बनाता है। यह गतिशीलता आधुनिक औद्योगिक व्यवस्था के लिए आवश्यक है। विशिष्ट कौशलों वाले व्यक्तियों के लिए उन जगहों पर जाना आवश्यक होता है। यहाँ उनकी माँग होती है। अपने विचार की पुष्टि में पार्सन्स एक ओर दृष्टांत देते हैं। किसी औद्योगिक समाज में प्रस्थिति आरोपित नहीं होती बल्कि हासिल की जाती है। इसका अर्थ यह है कि विभिन्न व्यक्तियों के महत्त्व को उनके द्वारा प्राप्त की गई प्रस्थिति के आधार पर आँका जाता है पार्सन्स के अनुसार मूल्यांकन उन सार्वभौमिक मूल्यों के आधार पर होता है जो समाज के सभी सदस्यों पर समान रूप से लागू होते हैं। लेकिन परिवार के भीतर प्रस्थिति प्रदत्त होती है। इस तरह का आरोपण व्यक्तिगत मूल्यों पर आधारित होता है जो व्यक्तिगत तौर पर परिवार के विभिन्न सदस्यों पर ही लागू होते हैं। पार्सन्स का तर्क है कि किसी विस्तृत परिवार में ये दो तरह के मूल्य परिवार के भीतर द्वंद्व या संघर्ष के स्रोत हो सकते हैं। इस तरह अगर पिता किसी कारखाने का मैकेनिक और पुत्र डॉक्टर या इंजीनियर है तो पारिवारिक जीवन के व्यक्तिगत मूल्य पिता को परिवार में अधिक ऊँची जगह और प्रस्थिति देते हैं। दूसरी ओर सार्वभौमिक मूल्यों के अनुसार पुत्र को उच्चतम सामाजिक प्रस्थिति हासिल होगी जिस कारण पिता की सत्ता उपेक्षित हो सकती है। इस कारण से पैदा होने वाला द्वंद्व परिवार की मजबूती को धक्का पहुँचा सकता है। विलगित नाभिकीय परिवार औद्योगिक समाज की आवश्यकता के लिए एक प्रकार का अनकूलन है।

तीसरा विचार भी कैंब्रिज विश्वविद्यालय के इतिहासकार पैटर लैसलेट द्वारा प्रस्तुत किया गया है जो पार्सन्स द्वारा प्रदत्त नाभिकीय परिवार के महत्त्व की प्रकार्यात्मक व्याख्या को बहुत हद तक निरस्त कर देता है (द वर्ल्ड वी हेव लॉस्ट, लंदन, मैथ्वेन, 1965)। लैस्लेट की पुस्तक में इस बात का संकेत दिया गया है कि इंग्लैंड में पूर्व-औद्योगिक परिवार-व्यवस्था के अंतर्गत ऐसे विस्तृत परिवारों का अस्तित्व न था जिनके निवास स्थान एक ही हों। इसके विपरीत ऐसा लगता है कि नाभिकीय परिवार वाले घर में सामान्य प्रकार का निवास-समूह विद्यमान था। लेसलेट ने पाया कि 1564 ई. से 1821 ई. के बीच लगभग 100 परिवार ही ऐसे थे जिनमें नाभिकीय परिवार से बाहर के सबंधी रहते थे। 1966 में इंग्लैंड में यह प्रतिशत बरकरार था। इस तरह के अजीबोगरीब रूप से कम प्रतिशत की एक वजह यह है कि पूर्व-औद्योगिक इंग्लैंड में लोग बहुत देर से शादी करते थे और आयु-सीमा छोटी थी। परिणामस्वरूप विवाह के कुछ ही वर्षों के भीतर विवाहित जोड़े के माता-पिता काल-कवलित हो जाते थे। कारण जो भी हो लेस्लेट को इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिला कि पूर्व औद्योगिक इंग्लैंड में विस्तृत परिवार बड़ी तादाद में मौजूद थे जिन्होंने आधुनिक औद्योगिक समाज के छोटे नाभिकीय परिवार को जन्म दिया। अत: निष्कर्ष के तौर पर यह कहा जाता है कि नाभिकीय परिवार के उद्भव के मूल में औद्योगीकरण नहीं था। इसके विपरीत सच ये हो सकता है कि नाभिकीय परिवार उन अनेक कारकों में से एक हो जिसने इंग्लैंड में औद्योगिक क्रांति के विकास को बढ़ावा दिया। तात्पर्य यह है कि अगर नाभिकीय परिवार अनेक शताब्दियों से यूरोपीय पारिवारिक ढाँचे का प्रमुख रूप रहा है, अगर यह औद्योगिक क्रांति से अधिक पुराना है और जनसंख्यात्मक अथवा अन्य अवरोधों के बजाय सामाजिक मूल्यों की ही पैदाइश है तो आधुनिक परिवार सांस्कृतिक दृष्टि से अधिक वांछित रूप की निरंतरता मात्र भी हो सकते हैं।

6.8 क्या नाभिकीय परिवार पारिवारिक संबंध का सार्वभौमिक रूप है? (Is nuclear Family Universal form of Familiar Relations?)

नोट

मर्डोक ने यह सलाह दी कि नाभिकीय परिवार पारिवारिक संबंध का सार्वत्रिक या सार्वभौमिक रूप है और यह ''यौन, आर्थिक, प्रजनन-संबंधी और शैक्षिक दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण प्रकार्यों का संपादन करता है।'' वे इस विचार को आगे बढ़ाते हुए कहते हैं–''नाभिकीय परिवार एक प्रकार का सार्वभौमिक मानव-समूह है। परिवार के एकमात्र प्रचलित प्रकार के रूप में जटिलतर पारिवारिक रूपों की आधारभूत संघटक इकाई के रूप में यह हर मानव समाज में बतौर एक विशिष्ट तथा मजबूत प्रकार्यात्मक समूह विद्यमान होता है।''

मर्डोक के विचार की अनेक कोणों से आलोचना की गई है। सबसे पहले कुछ लोगों ने यह स्पष्ट किया है कि मर्डोक द्वारा प्रस्तुत परिवार की रूपरेखा बहुत कुछ ''बहुमुखी, अपरिहार्य, बालचर चाकू की तरह है।'' चूँकि यह बहुप्रकार्यात्मक है, इसे अपरिहार्य और इसीलिए सार्वभौमिक माना गया है। ऐसा माना जाता है कि उत्साह के अतिरेक में मर्डोक इनमें से कुछ प्रकार्यों के निष्पादन के वैकल्पिक तरीकों की पहचान नहीं कर सके।

मार्ग न अपनी आलोचना के जरिए यह स्पष्ट करते हैं कि मार्डोक इस सवाल का कोई जवाब नहीं दे पाते कि ''किस सीमा तक ये बुनियादी प्रकार्य अपरिहार्य रूप से नाभिकीय परिवार की संस्था से जुड़े हुए हैं।''

मर्डोक के निष्कर्ष ने नाभिकीय परिवार की अपरिहार्यता और सार्वभौमिकता पर जिस तरह से बल दिया गया है उसके पक्ष में निर्णायक प्रमाणों का नितांत अभाव है। संभव है कि यूरो-अमेरिकी समाजों से आँकड़ें एकत्र करने के कारण वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे। यह स्पष्ट किया गया है कि भारत में 'नायरों और मध्य घाना में' अशांति जन जाति के लोगों में जिस तरह के परिवारों का प्रचलन है उससे इस कथन की सत्यता पर प्रश्न चिह्न लग जाता है।

मध्य घाना के बड़े-बड़े अशांति गाँवों में बच्चे अपनी माँ के घर से भोजन की टोकरियाँ उठाकर पिता के घर तक पहुँचते हैं। वे अपने पिता के साथ खाना खाते हें। इसके बाद सोने के लिए वे उस घर में लौट आते हैं जहाँ उनकी माँ रहती है। माँ रात के समय अपने पति से मिलने के लिए जा सकती है। विभाजित आवास और आने-जाने की यह प्रणाली संभवत: इस कारण से विद्यमान है कि अशांति लोगों की परंपरागत सामाजिक व्यवस्था महत्त्वपूर्ण सामाजिक प्रयोजनों, जैसे भूमिका का उत्तराधिकार, पद-प्रतिष्ठा और राजनैतिक प्रस्थिति का उत्तराधिकार आदि दृष्टियों से मातृ वंशीय धारा पर आधारित होती है। स्त्रियाँ अक्सर अपने भाई के साथ संबंध को पति के साथ संबंध से भी ज्यादा या उतना ही महत्त्व देती हैं क्योंकि उनके बच्चे भाई से उत्तराधिकार ग्रहण करते हैं। चूँकि समाज में बच्चे का स्थान माँ और उसके मातृ-वंशीय संबंधियों से संबंध के द्वारा निर्धारित होता है, वैवाहिक बंधन का टूटना न तो पति-पत्नी के लिए और न ही बच्चों के लिए बहुत अधिक महत्त्व रखता है।

एक अन्य कारक जो विवाह के बाद भी औरतों को अपने घर के अंदर रहने के लिए प्रेरित करता है, माँ और बच्चों और खासकर माँ तथा बेटियों के बीच नजदीकी संबंध है। इससे यह जाहिर होता है कि नाभिकीय परिवार की संसक्तता में हितों और संबंधों का किस तरह हस्तक्षेप हो सकता है। यह स्पष्ट करना बहुत मुश्किल है कि अशांति लोगों में नाभिकीय परिवार सामान्य बात है या एक आवश्यक सह-इकाई। परिवार की उनकी अवधारणा यूरोप या अमेरिका या एशिया के लोगों की अवधारणा से पूरी तरह भिन्न है।

पारिवारिक संबंधों पर मातृवंशीय अन्वय (डीसेंट) के प्रभाव का सबसे चरम और श्रेष्ठतम उदाहरण अंग्रेजी राज्य के प्रभाव से पहले की अवधि में दक्षिण-भारत की नायर जाति में देखने को मिलता था। ऐसा प्रतीत होता है कि नायरों में वैवाहिक-संबंध सिर्फ एक प्रतीकात्मक स्तर तक ही सीमित था। यह उस समय अनुबंध का रूप ले लेता था जब कोई लड़की यौवन प्राप्त करती थी और उसके कुछ समय बाद रस्मी तरीके से तोड़ दिया जाता था। इसके बाद स्त्रियों को उन पुरुषों के साथ अनौपचारिक प्रेम-संबंध कायम करने की छूट होती थी जो रात के समय उसके घर पहुँचते थे। नायर-परिवारों में भाइयों और उनकी बहनों का समूह तथा बहनों के बच्चे होते थे। परिवार की किसी स्त्री को अगर कोई बच्चा पैदा होता था तो वह मातृवंशीय-परिवार का सदस्य बन जाता था। बच्चों को अपने पिता या जनक में से किसी से कोई मजबूत संबंध कायम करने से रोका जाता था। यद्यपि यह तर्क देना असंभव होगा कि इस तरह की सामाजिक-व्यवस्था में पिता की कतई कोई भूमिका नहीं थी पर

नोट

संपत्ति के हकदार मातृवंशीय समूह की संसक्तता के पक्ष में यह भूमिका स्पष्टत: काफी न्यूनीकृत हो जाती थी। ऐसा प्रतीत होता है कि समाजीकरण और व्यक्तित्व के विकास के संदर्भ में आमतौर पर जो प्रकार्य पिताओं द्वारा निष्पादित होते हैं उनका निर्वाह मातृकुल के पुरुष सदस्यों द्वारा होता था।

नोट्स आज भी भारत के पूर्वोत्तर राज्यों के कुछ भू-भाग ऐसे हैं जैसे–सिक्किम आदि स्थानों पर कुछ जनजातियों में मातृसत्तात्मक परिवार हैं, जहाँ लड़की के स्थान पर लड़का विवाह के पश्चात् वधू के घर जाकर रहता हैं।

इन दृष्टातों ने रेडक्लिफ-ब्राउन सहित कुछ लेखकों को इस निष्कर्ष पर पहुँचने की प्रेरणा दी है कि नातेदारी व्यवस्था की आधारभूत संरचनात्मक इकाई माँ और बच्चों की इकाई है। इस आधार पर नाभिकीय परिवार को अनेक युग्मित या युगल समूहों में विभक्त किया जा सकता है और विभिन्न समाजों में इस बात की पड़ताल की जा सकती है कि वे एक-दूसरे के साथ और अन्य समूहों के साथ तालमेल स्थापित कर पाते हैं अथवा इससे नाभिकीय परिवार समष्टि में सम्मिलित कोटियों के शिथिल पड़ने की संभावना पैदा होती है और उनके स्वतंत्र संपर्क-सूत्रों की खोज-बीन मुमकिन हो पाती है। जिन समाजों में पितृसत्तात्मकता स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है उनमें भी माँ और बच्चों से मिलकर बनी इकाई बहुधा एक स्वतंत्र उपसमूह का निर्माण करती है और इसे एक विशेष पहचान हासिल होती है। साथ ही इसके सदस्यों में परस्पर अत्यंत निकटवर्ती भावनात्मक बंधन विद्यमान होते है। टाल्कोट पार्सन्स ने यह सलाह दी है कि माँ की भूमिका की 'मुखर' या भावनात्मक विशेषता के विपरीत पिता की भूमिका हमेशा अपनी प्रकृति में 'सहायक' होती है।

जनजातीय समाजों में नातेदारी सामाजिक संबंधों और सामाजिक भूमिकाओं को समान रूप से निर्धारित करती है। परिवार को अन्य समूहों के साथ संपर्क में रहना पड़ता है और यह ''नए नातेदारी बंधों की अनवरत उत्पत्ति के लिए एक तरह का मैकेनिज़्म हो जाता है।''

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए–

1. संयुक्त परिवार के विघटन के पश्चात् ..... का जन्म हुआ।
2. बहुसंख्यक समाजों में ..... परिवार ही पाए जाते हैं।
3. नाभिकीय परिवार ..... का नतीजा हैं।

तीव्रतर श्रम-विभाजन वाली विभेदीकृत सामाजिक-व्यवस्थाओं में जहाँ एक साहित्यिक परंपरा तथा सुविकसित वर्ग या जाति व्यवस्था विद्यमान होती है और जिसके उदाहरण भारत या चीन में मिलते हैं, यह फिर भी सत्य है कि परिवार बड़ी व बहुप्रकार्यात्मक इकाइयाँ हो सकती है। यह बेशक नाभिकीय परिवार की अवधारणा के एकदम विपरीत है। पर्याप्त संपत्ति आधार की अनुपस्थिति परिपक्व पुत्रों को परिवार से अलग होने और स्वतंत्र घर बसाने की प्रेरणा देती है। ''बड़े संयुक्त परिवार मुख्य रूप से भू-स्वामी और व्यापारी वर्गों में पाये जाते हैं जहाँ बेटों को विरासत में लगातार अपनी भौतिक दिलचस्पी बरकरार रखते हुए पैतृक करुणा को पुनजीर्वित तथा संपोषित करना पड़ता है। इस तरह के बड़े परिवार वस्तुत: अन्वय समूह (डिसेंट ग्रुप्स) ही होते हैं। जिनसे सर्वाधिकृत प्रतिष्ठानों का प्रबंधन करने वाले स्थायी निगमों या संघों का निर्माण होता है।''

परिवार में होने वाले परिवर्तनों को दो भागों में बाँटा जा सकता है : प्रथम, वे परिवर्तन जो परिवार के ढाँचे या संरचना (Structure) में हो रहे हैं; द्वितीय, वे परिवर्तन जो परिवार के कार्यों अथवा प्रकार्यों (Functions) में हो रहे हैं। यहाँ हम दोनों ही प्रकार के परिवर्तनों पर विचार करेंगे–

6.9 परिवार के ढाँचे में परिवर्तन (Change in the structure of Family)

नोट

अनेक कारणों के संयुक्त प्रभाव के फलस्वरूप परिवार के नये प्रतिमान उभरकर सामने आ रहे हैं। परिवार के आकार, प्रकार, सदस्यों के संबंधों, प्रस्थिति और भूमिकाओं, अधिकारों एवं कर्त्तव्यों तथा वर्तमान समय में काफी परिवर्तन आए हैं। यहाँ हम इन्हीं पर विचार करेंगे–

1. **परिवार के आकार का घटना**–वर्तमान समय में परिवार का आकार अर्थात् सदस्य-संख्या घटती जा रही है। अब सीमित परिवार की ओर लोगों का झुकाव बढ़ता जा रहा है। सन्तति निग्रह या परिवार नियोजन से संबंधित विभिन्न विधियों के प्रयोग ने परिवारों की सदस्य-संख्या घटाकर दो या तीन तक सीमित कर दी है। अब परिवार में 20 या 25 सदस्य दिखाई नहीं पड़ते। अब तो पति-पत्नी और उनके अविवाहित बच्चों से मिलकर नाभिकीय परिवार ही बनने लगे हैं।
2. **पति-पत्नी के संबंधों में परिवर्तन**–कुछ समय पूर्व तक पत्नी के लिए पति ही परमेश्वर या देवता के रूप में था। चाहे पति कैसा ही क्रूर या अत्याचारी क्यों न हो, पत्नी को उसे परमेश्वर मानकर उसकी उचित-अनुचित सभी प्रकार की आज्ञाओं का पालन करना पड़ता था। अब इस स्थिति में अंतर आया है। शिक्षा तथा सामाजिक चेतना ने स्त्रियों को अपने अधिकारों के प्रति जागरूक बनाया है। अब वे दासी के रूप में नहीं बल्कि सहचरी या साथी के रूप में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने लगी हैं।
3. **पिता के अधिकारों में कमी तथा अन्य सदस्यों के महत्त्व का बढ़ना**–अब परिवार अधिनायकवादी आदर्शों से प्रजातांत्रिक आदर्शों की ओर बढ़ रहे हैं। अब पिता परिवार में निरंकुश शासक के रूप में नहीं रहा है। परिवार से संबंधित महत्त्वपूर्ण निर्णय अब केवल पिता के द्वारा ही नहीं लिये जाते। अब ऐसे निर्णयों में पत्नी और बच्चों का महत्त्व भी बढ़ता जा रहा है। अब परिवार में स्त्री को भारस्वरूप नहीं समझा जाता। अब बच्चों के प्रति भी माता-पिता के मनोभावों में परिवर्तन आया है। वे समझने लगे हैं कि बच्चों को मार-पीट कर या उनकी इच्छाओं का दमन करके उन्हें सही रास्ते पर नहीं लाया जा सकता और उनके व्यक्तित्त्व का ठीक से विकास नहीं किया जा सकता। स्पष्ट है कि परिवार में स्त्री-सदस्यों एवं बच्चों का महत्त्व बढ़ा है।
4. **विवाह एवं यौन-संबंधों में परिवर्तन**–वर्तमान में विवाह एवं यौन-संबंधों की दृष्टि से काफी परिवर्तन आए हैं। अब बाल-विवाहों की संख्या घटती और विलंब विवाहों की संख्या बढ़ती जा रही है। अब जीवन-साथी के चुनाव में भी लड़के-लड़कियाँ पहले की तुलना में काफी स्वतंत्र हैं। आजकल प्रेम-विवाह, कोर्ट मैरिज तथा अन्तर्जातीय विवाहों की संख्या बढ़ती जा रही है। अब विवाह में रोमांस का महत्त्व बढ़ता जा रहा है। आजकल लोग एक-विवाह (Monogamy) को ही उचित समझते हैं। अब परिवार में विधवाओं के प्रति सहिष्णुतापूर्ण दृष्टिकोण पाया जाता है।
5. **आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से स्त्रियों की स्वतंत्रता का बढ़ना**–वर्तमान में परिवार की संपत्ति में स्त्रियों के साम्पत्तिक अधिकार बढ़े हैं। अब इन्हें नौकरी या व्यापार करने की भी स्वतंत्रता है। इससे स्त्रियों की आर्थिक स्वतंत्रता बढ़ी है। अब वे परिवार पर भार या पुरुषों की कृपा पर आश्रित नहीं हैं। इससे परिवार में स्त्रियों का महत्त्व बढ़ा है, परंतु साथ ही उनके दायित्वों के बढ़ जाने से और अन्य सदस्यों की अपेक्षाओं के अनुरूप दायित्व नहीं निभा पाने के कारण उन्हें अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। आज उनके जीवन में अनेक तनाव एवं कुंठाएँ पाई जाती हैं। स्त्री-शिक्षा के प्रसार ने सामाजिक चेतना लाने और स्त्रियों को अपने अधिकारों के प्रति सजग बनाने में योग दिया है। अब वे सामाजिक जीवन से संबंधित विभिन्न गतिविधियों में भाग लेती हैं। इससे पारिवारिक क्षेत्र में कहीं-कहीं भूमिका संघर्ष (Role Conflict) की स्थिति पाई जाती है।
6. **नातेदारी के महत्त्व का घटना**–वर्तमान समय में नाते-रिश्तेदारों का महत्त्व कम होता जा रहा है। अब लोग अपने रिश्तेदारों से दूर भागना चाहते हैं। आज नाते-रिश्तेदारों के साथ संबंधों में घनिष्ठता का अभाव पाया जाता है।

नोट

7. **परिवार में स्थायित्व का बढ़ना**–आजकल अनेक परिवारों को अस्थायित्व की समस्या का सामना करना पड़ता है। जहाँ पति या पत्नी कर्त्तव्यों के बजाय अधिकारों पर अधिक जोर देते हैं और अपनी स्वयं की सभी आवश्यकताओं को हर दशा में पूरा करना चाहते हैं, वहाँ पारिवारिक तनाव की स्थिति उत्पन्न हो जाती हैं जो आगे चलकर तलाक का रूप ग्रहण कर लेती है। आज विशेष रूप से नगरीय क्षेत्रों में तलाकों की संख्या बढ़ती जा रही है जो परिवारों के स्थायित्व के लिए एक खतरा है।
8. **परिवार के सहयोगी आधार में कमी**–आज के आधुनिक परिवारों में व्यक्तिवादिता बड़ी तेजी से बढ़ती जा रही है। व्यक्ति आज अपने परिवार, माता-पिता, भाई-बहिनों या अन्य निकट के रिश्तेदारों की चिंता नहीं करते हुए अपने ही स्वार्थों की पूर्ति में लगा रहता है। इससे पारिवारिक संगठन पर कुप्रभाव पड़ता है। अब परिवार के सदस्यों में उतना सहयोग व त्याग की भावना नहीं पाई जाती जितनी कुछ समय पूर्व तक पाई जाती थी। आज परिवार की नियंत्रण शक्ति पहले की तुलना में काफी घटी है।

6.10 परिवार के कार्यों (प्रकार्यों) में परिवर्तन (Change in the Fuctions of Family)

परिवार सदैव से मानव के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण कार्य करता रहा है। यह व्यक्तियों की विभिन्न प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति करता रहा है, परंतु वर्तमान में विभिन्न कारणों से जिनका उल्लेख पहले किया जा चुका है, परिवार के प्रकार्यों में काफी कुछ परिवर्तन आए हैं। आज परिवार के बहुत-से कार्य अन्य समितियों द्वारा किए जाने लगे हैं। परिणामस्वरूप परिवार का महत्त्व कुछ घटा है और आज के बालक के व्यक्तित्व के निर्माण में उतनी महत्त्वपूर्ण भूमिका नहीं निभा पा रहे हैं जितनी पहले निभाते रहे हैं। लेकिन फिर भी परिवार परिवार ही है जहाँ व्यक्ति सब प्रकार के कष्टों को भूलकर सुख की नींद सोता है और आगे आने वाली चुनौतियों का सामना करने के लिए सामर्थ्य प्राप्त करता है। परिवार के कार्यों में आने वाले प्रमुख परिवर्तन इस प्रकार हैं–

1. **परिवार के आर्थिक कार्यों में परिवर्तन**–औद्योगिक क्रांति के पूर्व तक परिवार उत्पादन एवं उपभोग दोनों का ही केंद्र था। आवश्यकता की सभी वस्तुएँ परिवार में ही तैयार की जाती थीं। परिवार के सभी सदस्य मिलकर परिवार में ही आर्थिक दृष्टि से उत्पादन कार्य करते थे। लेकिन अब परिवार उत्पादन का केंद्र नहीं रहा है। अब परिवार के विभिन्न सदस्यों को अपनी आजीविका कमाने के लिए अलग-अलग स्थानों पर काम करना पड़ता है। इसके उपरांत भी उपभोग की इकाई के रूप में परिवार का महत्त्व आज भी बना हुआ है।
2. **धार्मिक कार्यों में कमी**–विभिन्न धार्मिक कार्यों का संपादन परिवार का मुख्य कार्य था। समय-समय पर परिवार में धार्मिक उत्सव मनाए जाते थे। कभी किसी कथा का तो कभी किसी पाठ या भजन-कीर्तन का आयोजन होता था। परिवार के बड़े-बूढ़े सदस्य उपदेशात्मक कहानी-किस्सों को सुनाकर, रामायण, महाभारत, गीता आदि धार्मिक ग्रंथों की महत्त्वपूर्ण घटनाओं को बताकर बालकों को संस्कारित कर उनके चरित्र एवं व्यक्तित्व निर्माण में योग देते थे। आज परिवार में धार्मिक कार्यों का महत्त्व घटा है। अब पारिवारिक संगठन बनाए रखने में धर्म उतनी महत्त्वपूर्ण भूमिका नहीं निभा पाता जितनी किसी समय में निभाता था। अब धर्म के बजाय तर्क की प्रधानता पाई जाती है।
3. **सामाजिक और सांस्कृतिक कार्यों में अंतर**–आज परिवार के सामाजिक और संस्कृतिक कार्यों में काफी कुछ परिवर्तन आए हैं। अब परिवार व्यक्ति की सामाजिक स्थिति के निर्धारण में उतनी महत्त्वपूर्ण भूमिका नहीं निभा पा रहे हैं जितनी कुछ समय पहले तक निभाते रहे हैं। व्यक्तिगत गुणों या उपलब्धियों का महत्त्व बढ़ जाने से व्यक्ति अपनी स्वयं की क्षमता या गुणों को बढ़ाने की दृष्टि से ज्यादा सोचता और प्रयत्न करता है। परिणामस्वरूप वह अन्य सदस्यों के हितों की उपेक्षा करता है। आज परिवार का सदस्यों पर वह नियंत्रण नहीं रहा जो किसी समय या कुछ समय पूर्व तक था। अब तो सदस्य सामाजिक व्यवहार की दृष्टि से बहुत कुछ स्वतंत्र है। अब परिवार के द्वारा अपने सदस्यों को सदियों से चली आ रही सांस्कृतिक परंपराओं से परिचित कराना लाभप्रद नहीं समझा जाता। अब तो परंपरावादिता के बजाय आधुनिकता का प्रभाव और व्यवहार के नवीन प्रतिमानों का महत्त्व बढ़ता जा रहा है।

नोट

4. **परिवार के मनोरंजन संबंधी कार्यों में परिवर्तन**–पहले परिवार स्वस्थ मनोरंजन का केंद्र था। सभी सदस्य मिलकर गपशप करते, बालकों की प्यार भरी बातों का आनंद लेते, कहानी-किस्से सुनाते, रामायण, महाभारत, आदि की घटनाएँ सुनाते। यहाँ सभी सदस्यों का स्वस्थ मनोरंजन हो पाता, परंतु अब मनोरंजन का व्यापारीकरण हुआ है। परिवार के मनोरंजन संबंधी कार्य अब क्लबों, नाटक-मंडलियों, सिनेमाओं, आदि ने ले लिए हैं। परिवार तो दो समय भोजन करने और रात्रि विश्राम करने के स्थान मात्र रह गए हैं। परंतु कुछ लोगों की मान्यता है कि अब परिवार पुनः मनोरंजन का केंद्र बनता जा रहा है। रेडियो, रेकार्ड प्लेयर, टेपरेकार्डर, टेलीविजन (टी. वी.), आदि ने सभी सदस्यों को साथ बैठकर इन मनोरंजन के साधनों का आनंद लेने के लिए प्रेरित किया है। इतना अवश्य है कि अब परिवार के बजाय क्लबों तथा मित्र मंडलियों में व्यक्तियों की रुचि बढ़ती जा रही है।
5. **स्नेह व प्रेम के लिए परिवार पर निर्भरता का बढ़ना**–आज व्यक्ति के जीवन में द्वितीयक समूहों एवं औपचारिक संबंधों की प्रधानता है। आज पड़ोस तथा नाते-रिश्तेदारों का महत्त्व कम हुआ है। द्वितीयक समूहों में व्यक्ति को स्नेह, प्रेम, सहानुभूति, संतोष एवं शांति नहीं मिल पाते, जबकि व्यक्ति को अपनी भावनात्मक संतुष्टि के लिए इन चीजों की काफी आवश्यकता रहती है। आज व्यक्ति को स्नेह, प्रेम एवं सहानुभूति परिवार के अतिरिक्त कही भी नहीं मिल पा रही है। अतः इन सबके लिए व्यक्ति की परिवार पर निर्भरता बढ़ती जा रही है।

   आज परिवार के अनेक कार्य अन्य समितियों ने छीन लिए हैं। राज्य के कार्यों एवं महत्त्व का विस्तार हुआ है। राज्य ने बालकों को शिक्षा प्रदान करने का दायित्व अपने पर ले लिया है। परिवार की नियंत्रण-शक्ति घटी है और राज्य की नियंत्रण-शक्ति बढ़ी है। राज्य विभिन्न अधिनियमों के माध्यम से विवाह और परिवार को काफी कुछ प्रभावित कर रहा है। इतना सब कुछ होते हुए भी यह नहीं कहा जा सकता कि परिवार का स्थान और कोई संस्था ले लेगी।

6.11 सारांश (Summary)

- मनुष्य अपने जन्म से ही परिवार से संबंधित होता है। यद्यपि एक संस्था के रूप में परिवार के विकास के लिए जो स्थितियाँ जिम्मेदार हैं वे लगभग सार्वभौमिक हैं, अलग-अलग समाजों ने इन स्थितियों का सामना अलग-अलग ढंग से किया है। अतः विभिन्न संस्कृतियों में परिवार के विविध रूप सामने आए हैं।
- संयुक्त परिवार आमतौर पर इसलिए अस्तित्व में आते हैं और बरकरार रहते हैं क्योंकि नाभिकीय परिवार समूह से जिस तरह की जिम्मेदारियों का निर्वाह संभव होता है उनकी अपेक्षा संयुक्त परिवार अधिक विस्तृत जिम्मेदारियाँ निभा सकता है।
- परिवार के समाजशास्त्रीय अध्ययन का एक प्रमुख विषय परिवार की संरचना और औद्योगीकरण की प्रक्रिया के बीच संबंध है। औद्योगीकरण के प्रभाव के कारण पाश्चात्य समाजों में परिवार को जबर्दस्त परिवर्तनों के दौर से गुजरना पड़ा है।
- औद्योगीकरण के बाद परिवार को प्रभावित करने वाले अनेक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन दृष्टिगोचर हुए हैं। इन सबमें स्त्रियों की नई प्रस्थिति शायद सबसे महत्त्वपूर्ण है। यह न केवल पाश्चात्य बल्कि भारतीय समाज के संदर्भ में भी सत्य है।
- स्त्री की आर्थिक स्वतंत्रता ने विवाह के प्रति उसके पूरे दृष्टिकोण को प्रभावित किया है।
- शिक्षा भी इसी तरह घर की चहारदीवारी से बाहर आ चुकी है। विद्यालयों में विभिन्न प्रकार की शिक्षा दी जाती है जिसे अपने बच्चों को दे पाना अतीत में कभी किसी परिवार के लिए संभव न था।
- अनेक कारणों के संयुक्त प्रभाव के फलस्वरूप परिवार के नये प्रतिमान उभरकर सामने आ रहे हैं। परिवार के आकार, प्रकार, सदस्यों के संबंधों, प्रस्थिति और भूमिकाओं, अधिकारों एवं कर्त्तव्यों तथा वर्तमान समय में काफी परिवर्तन आए हैं।

नोट

6.12 शब्दकोश (Keywords)

1. **नाभिकीय परिवार**–एकाकी परिवारों को ही नाभिकीय परिवार भी कहते हैं।
2. **नातेदारी**–रिश्तेदारी, संबंध।

6.13 अभ्यास-प्रश्न (Review Question)

1. कृषि पर आधारित परिवार की महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ बताइए।
2. परिवार को प्रभावित करने वाले कारकों का उल्लेख कीजिए।
3. परंपरागत भारतीय परिवार का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।
4. नाभिकीय परिवार के जन्म के कारक तत्वों पर प्रकाश डालिए।
5. अनेक परिवर्तनों के फलस्वरूप परिवार के नए उभरते प्रतिमानों पर प्रकाश डालिए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer : Self Assessment)

1. एकाकी परिवार
2. पितृसत्तात्मक
3. उद्योगवाद

6.14 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. इंडियन सोसाइटी एंड सोशल इंस्टीट्यूशंस–*(2 वॉल्यूम्स सेट) एन. जयापालन, एटलांटिक।*
2. मैरिज, पापुलेशन एंड सोसाइटी : डेमोग्राफ़िक पर्सपेक्टिव्स ऑफ़ ए सोशल इंस्टीट्यूशंस–*एम. एम. कृष्णारेड्डी, कनिष्का, 1998.*
3. सोशल इंस्टीट्यूशंस ऑफ़ शिया मुस्लिम्स–*एन. एंथ्रोपोलॉजिकल एनालिसिस : सईद कामिल हुसैन, क्लासिकल, 1999.*

नोट

इकाई–7 : परिवार का विकल्प : विवाह-विच्छेद (तलाक एवं अलगाव)
(Option of Family : Divorce and Separation)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)
प्रस्तावना (Introduction)
7.1 परिवार का भविष्य (Future of Family)
7.2 विवाह-विच्छेद की समस्या (Problem of Divorce)
7.3 मुसलमानों में विवाह-विच्छेद (Divorce Among Muslims)
7.4 ईसाइयों में विवाह-विच्छेद (Divorce Among Christians)
7.5 भारतीय विवाह-विच्छेद अधिनियम, 1869 (The Indian Divorce Act, 1869)
7.6 सारांश (Summary)
7.7 शब्दकोश (Keywords)
7.8 अभ्यास-प्रश्न (Review Question)
7.9 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- भविष्य में परिवार के अनुमानित स्वरूप को समझने में।
- विवाह विच्छेद की समस्याओं को समझने में।
- मुस्लिम विवाह एवं परिवार में होने वाले परिवर्तन और उनकी समस्याओं को समझने में।
- ईसाई में विवाह पद्धति और विवाह-विच्छेद को समझने में।
- भारतीय विवाह-विच्छेद अधिनियम 1869 के विषय में जानकारी प्राप्त करने में।

प्रस्तावना (Introduction)

लेविस एच. मॉर्गन की पुस्तक 'एन एन्शिएंट सोसाइटी' 1877 में प्रकाशित हुई। मार्क्स ने इस किताब को पढ़ा एवं विस्तार से उस पर टिप्पणियाँ कीं। लेकिन मार्क्स की मृत्यु के बाद 1884 ई. में एंगेल्स ने इस पर एक विस्तृत टीका प्रकाशित की जिसका नाम था 'दी ओरिजीन आफ द फेमिली, प्राइवेट प्रापर्टी एंड द स्टेट'। इस पुस्तक में सामाजिक और आर्थिक इतिहास पर मार्क्स के सामान्य सिद्धांतों और नातेदारी से संबद्ध संस्थाओं पर मोर्गन द्वारा प्रस्तुत अनुमानित इतिहास का एक मिला-जुला रूप दिया गया है।

इस पुस्तक में एंगिल्स ने यह तर्क दिया कि मानव उद्विकास के आरंभिक चरणों के दौरान उत्पादन की शक्तियों पर समुदाय का स्वामित्व था और आजकल परिवार का जो रूप हमें दिखाई देता है उसका कोई अस्तित्व नहीं

नोट

था। उन्होंने आगे यह कहा कि आदिम साम्यवाद के इस काल में स्वच्छंद यौनाचार का अस्तित्व था। जाहिर है यौन-संबंधों को विनियमित करने के लिए कोई निर्दिष्ट नियम नहीं थे। वस्तुत: पूरा समाज ही परिवार था।

इस तरह के अनुमानाधारित चिंतन के कारण एंगेल्स की आलोचना की गई है क्योंकि कुछ लोगों के अनुसार यह इस बात का प्रतीक था कि एंगेल्स स्वयं किसी भी प्रकार के पारिवारिक संबंध के खिलाफ थे और उनके अनुसार समाजवादी समाजों में परिवार नाम की संस्था को निर्मूल कर देना चाहिए। मानव शास्त्री कैथलीन गाख कहती हैं कि एंगेल्स द्वारा जो चित्र प्रस्तुत किया गया है वह सच से बहुत दूर नहीं हो सकता। वे स्वच्छंद यौनाचारपरक समूहों में रहने वाले मनुष्य के निकटतम संबंधी चिंपैंजी के बीच प्रचलित यौन-जीवन को अपने विचारों का आधार बनाती हैं। उनका विश्वास है कि यह प्रणाली आरंभिक मनुष्य की जीवन-प्रणाली हो सकती है।

एंगेल्स की यह आलोचना कि उन्होंने अप्रत्यक्ष रूप से ही सही पर परिवार के उन्मूलन की तरफदारी की, असंगत प्रतीत होती है। एंगेल्स ने स्पष्ट तौर पर यह जताया कि पारिवारिक संबंधों में भावनात्मक और यौनपरक तत्वों की महत्ता उसी समय सामने आती है जब धन-संपदा का प्रदूषण संबंधों को प्रभावित नहीं करता। वे यह तर्क देते हैं कि सर्वहारा वैवाहिक संबंध आपसी आकर्षण व विकषर्ण के आधार पर स्थापित करते और तोड़ते हैं तथा बुर्जुआ समाजों में वैवाहिक जोड़ा उस स्थिति में भी शादी की डोर से बंध जाता है जब पुरुष और स्त्री के मन में एक-दूसरे के लिए कोई प्रेम नहीं होता और अन्य उपलब्ध लोगों के साथ भी उनके यौन-संबंध होते हैं।

उस पुस्तक के आधार पर सबसे सामान्य निष्कर्ष जो सामने आता है वो यह है कि स्थायी और एक विवाह पर आधारित परिवार जिसमें पुरुष की सत्ता का वर्चस्व होता है और जिसे वैधानिक निर्देश तथा समर्थन प्राप्त है, संपत्ति के निजी स्वामित्व की निरंतरता बनाए रखने के एक तरीके के रूप में ही वस्तुत: विकसित हुआ। एंगेल्स के शब्दों में ही, ''यह पुरुष की श्रेष्ठता पर आधारित है और इसका स्पष्ट प्रयोजन निर्विवाद पितृत्व वाली संततियाँ पैदा करना है। इस तरह का पितृत्व जरूरी है क्योंकि आगे चलकर इन्हीं बच्चों को अपने पिता की संपत्ति का स्वाभाविक उत्तराधिकारी बनना पड़ता है।''

एंगेल्स द्वारा परिवार के उद्विकास की पूरी योजना इससे भी बहुत ज्यादा विस्तृत है। पर आधुनिक मानवाशास्त्री शोधों में यह पाया गया है कि इन वर्णनों में से अनेक गलत हैं। उदाहरण के लिए शिकार खेलने वाले और भोजन-संग्रह करने वाले अनेक जन-जातीय समूहों में एक विवाह और नाभिकीय परिवार प्रचलित हैं। यह कहा गया है कि मनुष्य अपने अस्तित्व का 99.9% हिस्सा शिकारी और भोजन-संग्राहक टोलियों में रहकर गुजारता था। अत: एंगेल्स ने एक विवाह पर आधारित नाभिकीय परिवार की जो रूपरेखा प्रस्तुत की है वह महज उनकी कल्पना की उपज भी हो सकती है। यह भी स्पष्ट किया गया है कि यद्यपि नाभिकीय परिवार और एक विवाह लघु समाजों में विद्यमान होते हैं वे एक वृहत्तर नातेदारी समूह के एक अंश का संघटन करते हैं। जब विभिन्न व्यक्ति परस्पर विवाह करते हैं तो वे अपने जीवन-साथी के सगे-संबंधियों के प्रति विभिन्न प्रकार के उत्तरादायित्व के बोझ का वहन करने लगते हैं। इस तरह विशाल विस्तृत परिवार का जन्म होता है।

यह एक रोचक तथ्य है कि पूँजीवादी समाज में परिवार का मार्क्सवादी विश्लेषण नारीवादी आंदोलन के एक हिस्से के रूप में मुख्यत: 1960 के दशक के उत्तरार्ध में आविर्भूत हुआ। नारीवादी लेखकों ने मार्क्सवादी अवधारणा के आधार पर पुरुष प्रधान परिवार व्यवस्था को अपने आक्रमण का लक्ष्य बनाया। यह तर्क दिया गया कि पुरुष-प्रधान परिवार एक से अधिक दृष्टियों से पूँजीवादी समाज के उद्देश्यों की पूर्ति में सहायक है। इस दृष्टि से सबसे पहली बात तो यह है कि परिवार श्रम के रूप में पूँजीवादी की बुनियादी जिन्स बड़े सस्ते रूप में उत्पादित करता है। उत्पादन सस्ता है क्योंकि बच्चों की पैदाइश तथा पालन-पोषण के लिए पूँजीवादियों को कुछ नहीं देना पड़ता है। पुन: बच्चे जनने और उनका पालन-पोषण करने के लिए पत्नी को कुछ भी हासिल नहीं होता है। यह स्पष्ट किया जाता है कि घरेलू कामकाज करने वाली महिलाएँ श्रम का जो परिमाण प्रदान करती हैं वह बहुत ज्यादा और उत्पादन के साधनों के मालिकों के लिए काफी फायदेमंद है। पत्नी पति की सेवा करती है जो पूँजीवादी व्यवस्था के अंतर्गत मजदूरी कमाने वाला श्रमिक होता है। अत: सिर्फ एक व्यक्ति को वेतन पारिश्रमिक देकर पूँजीवादी दो व्यक्तियों की सेवा हासिल कर लेता है। ऐसा विचार दिया जाता है कि यह वस्तुत: एक तरह का शोषण ही है। तीसरी बात यह है कि प्रचलित परिवार व्यवस्था के अंतर्गत पति अपनी पत्नी व बच्चों

नोट

को सहारा देने के लिए प्रतिबद्ध होता है। अत: जब उसके लिए अपने पूँजीवादी मालिक के विरुद्ध बगावत करने और अपना श्रम उसे बेचने से इंकार करने के जायज कारण होते हैं तब यह बात उसके विद्रोह के रास्ते में रोड़ा अटकाती है। शायद इसीलिए नारीवादी लेखिका मार्गरेट बेंसटन करती हैं ''एक आर्थिक इकाई के रूप नाभिकीय परिवार पूँजीवादी समाज में स्थिरता कायम करने वाली महत्त्वपूर्ण शक्ति है।'' पुन: एक अन्य नारीवादी लेखिका फ्रेन ऐन्सली, टाल्कोट पार्सन्स के इस विचार को सामने रखती हैं कि परिवार वयस्क व्यक्तियों को मार्क्सवादी ढाँचे में स्थायीकृत करने की प्रवृत्ति दर्शाता है। वे पत्नी द्वारा अपने पति को प्रदत्त भावनात्मक और ममतापूर्ण सहारे को हताशा के लिए एक सुरक्षा वाल्व के रूप में देखती है। यह पूँजीवादी व्यवस्था के अंतर्गत काम करने के कारण पति के मन में पैदा हुई हताशा है। पत्नी अपने पति के प्रति कोमल, सहानुभूतिपूर्ण, आरामदेह और स्नेहपूर्ण होकर उसकी हताशा को सोखने की कोशिश करती है। एंसली के शब्दों में, ''चूँकि हर श्रमिक के पास अपने संभावित क्रांतिकारी आक्रोश को सोखने के लिए एक स्पंज होता है, मालिक स्वयं को अधिक सुरक्षित महसूस करता है।'' अंतत: कुछ नारीवादी लेखकों ने परिवार में पुरुष के वर्चस्व की ओर इशारा किया है और इसे पूँजीवादी व्यवस्था के स्थायित्व से जोड़ा है। अपनी पत्नियों एवं परिवारों पर अधिकांश पुरुष जिस छिछले ढंग से शासन करते हैं वह उन्हें अपने गुस्से और आक्रोश को इस तरह व्यक्त करने की सामर्थ्य देता है कि व्यवस्था के लिए कभी कोई चुनौती पैदा नहीं होती।''

जैसा कि इस खंड के प्रारंभिक अनुच्छेदों में हमने देखा, एंगेल्स ने निजी संपत्ति के आविर्भाव को स्त्रियों की अधीनता के रूप में स्वीकार किया। खासतौर पर उत्पादन की शक्तियों के निजी स्वामित्व के संदर्भ में यह सत्य है। यह एक दिलचस्प बात है कि मार्क्स और एंगेल्स दोनों 19वीं शताब्दी के पूँजीवादी समाज में महिला श्रम की बढ़ती माँग को नारी मुक्ति आंदोलन की शुरुआत के रूप में देखते हैं। वे यह तर्क देते हैं कि स्त्रियों को मिलने वाला रोज़गार उन्हें अपने पतियों पर आर्थिक रूप से निर्भर होने की विवशता से बहुत हद तक मुक्ति दिलायेगा और इस तरह परिवार के अंदर उन पर काबिज पुरुष-वर्चस्व के शिकंजे को कम करेगा।

क्या आप जानते हैं

मार्क्स और एंगेल्स का विश्वास था कि दोनों लिंगों के बीच वास्तविक समानता सिर्फ समाजवादी समाज में ही स्थापित हो सकेगी क्योंकि घरेलू काम और मातृत्व के बोझिल दायित्वों का कोई अस्तित्व नहीं होगा और अलग-अलग स्त्रियों को इनका निर्वहन नहीं करना होगा। सारे काम समुदाय (कम्युनिटी) के अधीन होंगे।

एंगेल्स के शब्दों में, ''व्यक्तिगत रूप से घर का प्रबंध सामाजिक उद्योग में परिणत हो जाएगा और बच्चों की देखभाल तथा पैदाइश सार्वजनिक मुद्दा बन जाएगी।''

पूँजीवादी समाजों में श्रम बाजार में बड़े पैमाने पर स्त्रियों का प्रवेश हुआ है। पर स्त्रियों को पुरुष वर्चस्व से मुक्ति नहीं मिल पाई है जैसाकि इस खंड में ऊपर उल्लिखित नारीवादी लेखकों के लेखन से स्पष्ट है। कामकाजी पत्नियों और चूल्हा-चौका करने वाली घरेलू औरतों के तुलनात्मक अध्ययनों से स्पष्ट है कि परिवार के भीतर शक्ति संबंध की प्रकृति में कोई बदलाव नहीं आया है। यह उन स्थितियों में भी नज़र आता है जहाँ महिलाएँ घर से बाहर काम करती हैं। कुछ नारीवादी लेखिकाएँ यहाँ तक कहती हैं कि पूँजीवादी समाज में स्त्रियों द्वारा मजदूरी का आधार श्रम की आपूर्ति पूँजीवादी व्यवस्था को मजबूत बनाती है क्योंकि बड़ी संख्या में महिला श्रमिकों का प्रवेश मजदूरी को घटाता तथा मुनाफे को बढ़ाता है।

समाजवादी समाजों में भी सब कुछ उस तरह घटित नहीं हुआ है जिस तरह सौ वर्षों से भी पहले मार्क्स और एंगेल्स ने इसके बारे में भविष्यवाणी की थी। श्रम-बाज़ार में सोवियत संघ में औरतों की स्थिति में काफी सुधार आया है। 1922 ई. में वे समूची श्रम-शक्ति की 22% थी। 1973 में उनका प्रतिशत 91 हो गया। इस तथ्य के बावजूद कि आधी से ज्यादा श्रम-शक्ति स्त्रियों की है, घरेलू काम काज और बच्चों के देखभाल की प्राथमिक जिम्मेदारी अब भी नारियों के ही सिर पर है। डेविड लेन ने यह रिपोर्ट दी है कि सोवियत संघ में स्त्रियों के लिए अपनी घरेलू और व्यावसायिक भूमिकाओं का समावेश कर पाना मुश्किल है। खासतौर पर देहाती क्षेत्रों में परिवार

नोट

के संदर्भ में औरतों के स्थान के बारे में परंपरागत दृष्टिकोण अब भी बदले नहीं हैं। डेविड सेन इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उत्पादन की शक्तियों का सामूहिक स्वामित्व ''नारी-मुक्ति के लिए अनिवार्य पर अपर्याप्त शर्त है।'' वे यह भी कहते हैं कि सांस्कृतिक रुख पूर्णत: नहीं बल्कि सिर्फ आंशिक रूप से आर्थिक परिस्थितियों द्वारा परिभाषित एवं रूपायित होते हैं। लेन आगे यह कहते हैं, ''स्त्रियों की अधीनता का हजार वर्षों से भी लंबा इतिहास पुरुषों द्वारा सीखी गई प्रवृत्तियों को प्रभावित करता है और जहाँ साम्यवादी सरकारें व्यापक ढंग से समाज के संस्थागत ढाँचे में बदलाव ला सकती हैं, वहाँ भी उन दृष्टिकोणों में बदलाव ला पाना बहुत मुश्किल है जिनके तहत पुरुषों के समकक्ष स्त्रियों को विभिन्न सत्तामूलक भूमिकाओं में स्वीकार किया जा सकता है।'' 1948 से 1973 तक चेकोस्लोवाकिया में रह चुकी हिल्डा स्कॉट ने पूर्वी यूरोप के परिवारों में महिलाओं की स्थिति का सर्वेक्षण करने के बाद यह रिपोर्ट दी कि कामगार स्त्रियों के घरेलू दायित्व सोवियत संघ की महिलाओं के समान ही थे। उनके निष्कर्ष इस दृष्टि से काफी महत्त्वपूर्ण हैं–''मार्क्सवाद के प्रारंभिक अग्रदूतों ने यह महसूस नहीं किया कि इस सबके पीछे कहीं न कहीं चेतना की कमी एक कारक के रूप में मौजूद थी जिसे खत्म कर पाना श्रमिकों या अश्वेतों या अन्य अल्पसंख्यकों और दलित-उत्पीड़ित जन-समूहों के अधिकारों के लिए मान्यता हासिल करने से कहीं ज्यादा कठिन है क्योंकि स्त्रियों की हेयता में विश्वास ज्यादा पुराना और गहरा है जिसके अंतर्गत समूची आबादी आती है। इसकी वजह यह है कि स्त्री स्वयं को उस आइने में बंद रखती है जो पुरुष के कब्जे में है।''

इन तथ्यों को देखते हुए अनेक नारीवादी लेखक इस बात से सहमत हैं कि मार्क्सवादी सिद्धांत लिंगों के बीच असमानता की पर्याप्त व्याख्या करने में असमर्थ हैं। वे इस वायदे को अत्यंत सरल और इसीलिए अस्वीकार्य मानते हैं कि समाजवाद अंतत: स्त्रियों को मुक्ति दिला देगा। सुला स्मिथ फायर-स्टोन यह विचार देती हैं कि लैंगिक असमानता जैवकीय भेदों में निहित है और पुरुष तथा नारी अलग-अलग रूपों में पैदा हुए हैं। औरतें बच्चे पैदा करती हैं और इसीलिए वे पुरुषों पर निर्भर होती हैं। यह निर्भरता परिवार के अंदर असमान शक्ति संबंधों को जन्म देती है। अत: उनके अनुसार पुरुष और स्त्रियों के बीच असमानता निजी संपत्ति से शुरू नहीं हुई जैसा कि एंगेल्स कहते हैं बल्कि स्त्रियों के प्रजनन संबंधी प्रकार्यों से शुरू हुई।

यह तर्क दिया जाता है कि स्त्रियाँ वस्तुत: उस समय मुक्त हो जाएँगी जब अपने जैविकीय गठन के प्रति उनकी दासता खत्म हो जाएगी। इस सवाल का जवाब केवल भरोसेमंद जन-नियंत्रण तकनीकों में ही नहीं बल्कि कृत्रिम-प्रजनन में भी निहित है। औरतें उसी समय स्वतंत्र हो सकती है जब शिशु गर्भ से बाहर पैदा हो और विकसित हो।

7.1 परिवार का भविष्य (Future of Family)

जार्ज पीटर मर्डोक ने 280 समाजों का जिनमें शिकारी और भोजन-संग्राहक टोलियों से लेकर व्यापक औद्योगिक समाज तक सभी शामिल थे, एक प्रतिदर्श प्रस्तुत किया और इसके आधार पर यह दावा किया कि हर समाज में परिवार किसी न किसी रूप में विद्यमान होता है और यह सर्वाभौमिक है। इसी तरह टाल्कोट पार्सन्स परिवार के अतिरिक्त ऐसी किसी संस्था की कल्पना नहीं कर सकते थे जो स्थिर या स्थायी मानव व्यक्तियों को पैदा व समायोजित करे।

मर्डोक और पार्सन्स दोनों की इस बात के लिए आलोचना की गई है कि वे परिवार के प्रकार्यात्मक विकल्पों को ढूँढ पाने में असफल रहे हैं। कुछ प्रकार्य आवश्यक रूप से परिवार से संबद्ध नहीं होते। यह तर्क दिया जाता है कि मर्डोक और पार्सन्स जैसे समाजशास्त्रियों के विचार मुख्य रूप से उनके विश्वासों से उपजे हैं जिनका संबंध इस बात से है कि परिवार को कैसा होना चाहिए। बैरिंगटन मूर का अवलोकन दृष्टव्य है। ''समाज वैज्ञानिकों में आजकल यह एक स्वंयसिद्ध-सी धारणा हो गई है कि परिवार एक सार्वभौमिक रूप से आवश्यक संस्था है और भविष्य में हमेशा यह इसी रूप में बरकरार रहेगी। ··· मुझे यह महसूस करते हुए बड़ी बैचेनी होती है कि अपने श्रम-साध्य सिद्धांतों और तकनीकी शोधों व अनुसंधानों के बावजूद लेखकगण एक अपवर्त्तक यथार्थ के रूप में कुछ मध्यमवर्गी आशाओं और आदर्शों को अभिवर्धित करने के सिवा और कुछ नहीं कर पाते हैं।''

नोट

अपनी पुस्तक 'द कमिंग वर्ल्ड ट्रांसफार्मेशन' में फर्डिनेन्ड लुन्डबर्ग अपनी आशंका इन शब्दों में जताते हैं– ''परिवार अपने पूर्ण विनाश के कगार पर है।'' मनोवैज्ञानिक विलियम वुल्फ यह टिप्पणी करते हैं ''परिवार बच्चे के जन्म के एक या दो साल बाद तक जीवित रहता है और शेष समय के लिए पूरी तरह मर जाता है। यह इसका एक मात्र प्रकार्य है।'' 'फ्यूचर शॉक' के लेखक एल्विन टाफ्लर ने अपनी पुस्तक के एक अध्याय का नाम खंडित परिवार रखा है। इस अध्याय में इन्होंने एक अत्यंत सरल और कारगर परिवार का चित्र प्रस्तुत किया जो अधिउद्योगवाद (सुपरइंडस्ट्रियलिज्म) के युग में विकसित हो सकता है। इस परिवार का वर्णन इन्होंने इन शब्दों में किया है ''उद्योगवाद का यह तकाजा था कि बड़ी संख्या में कामगार हमेशा तैयार रहें और रोजगार की तलाश में अपनी जमीन छोड़ने तथा जब कभी आवश्यक हो उस पर पुन: वापस आने में सक्षम हों। इस तरह विस्तृत परिवार ने धीरे-धीरे अपने अतिरिक्त भार को घटा लिया और तथाकथित नाभिकीय परिवार का जन्म हुआ जो एक ऐसा न्यूनीकृत और चलायमान पारिवारिक इकाई था जिसमें केवल माता-पिता और चंद बच्चे होते थे। यह नए प्रकार का परिवार जो परंपरागत विस्तृत परिवार से ज्यादा गतिशील था, सभी औद्योगिक देशों में एक तरह का मानक हो गया। पर पर्यावरण प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में प्रगति के अगले चरण के रूप में अधिउद्योगवाद उच्चतर गतिशीलता की माँग करता है। इस तरह हम भविष्य के अनेक लोगों से यह उम्मीद कर सकते हैं कि वे नि:संतान रहकर और पुरुष तथा स्त्री के रूप में इसके सबसे बुनियादी घटकों में परिवार को न्यूनीकृत कर सरलीकरण की प्रक्रिया की दिशा में एक कदम आगे बढ़ाएँगे।'' प्रसिद्ध मानवशास्त्री मर्ग्रेट मीड ने भी ऐसी ही संभावना जताई जब उन्होंने कहा कि ''पितृत्व कमतर संख्या में परिवारों तक ही सीमित रहेगा जिसका मुख्य प्रकार्य बच्चे पैदा करना होगा। और आबादी का शेष भाग इतिहास में पहली बार स्वतंत्र रूप में व्यक्तियों के रूप में काम करने की स्थिति में आ जाएगा।'' ये संभावनाएँ आदर्शातिरेक पर आधारित नहीं हैं। लगभग एक या दो साल पहले एक ऐच्छिक संस्था की ओर से इंग्लैंड के अखबारों में एक 'गर्भ उधार देने' के संदर्भ में एक विज्ञापन जारी किया गया। प्रतिनियुक्त (सरोगेट) मातृत्व अब कपोल-कल्पित चीज नहीं है। दरअसल इस तरह के मातृत्व के कुछ मामले पहले ही प्रकाश में आ चुके हैं। कौन जानता है कि ऐसे मामले बड़ी संख्या में भविष्य में सामने नहीं आएँगे।

इजराइल के किबुज लोगों में परिवार का जो स्वरूप विद्यमान है वह आजकल के नाभिकीय परिवार का विकल्प प्रस्तुत करता है। इजराइल की आबदी का लगभग 4% तकरीबन 240 किबुजुम बस्तियों में रहता है। यद्यपि एक किबुजुम व दूसरे किबुजुम के बीच बहुत अंतर है, परिवार की सामान्य प्रणाली का वर्णन इन शब्दों में किया जा सकता है। इनके बीच एक विवाह प्रचलित है। विवाहित जोड़ा एक शयनागार और रहने सहने के कमरे में एक साथ रहते हैं। बच्चे सामुदायिक शयनशालाओं में रहते हैं जहाँ उनकी देखभाल करने वाले लोग या शिक्षक उनका पालन-पोषण करते हैं। वे अपने माता-पिता से दूर शयनशालाओं में खाते और सोते हैं। प्रतिदिन एक या दो घंटे के लिए उन्हें अपने माता-पिता से मिलने का अवसर दिया जाता है। माता-पिता बच्चे से भेंट-मुलाकात के अवसरों पर उन्हें किसी तरह की शिक्षा नहीं देते। इन मुलाकातों को मनोरंजन की संज्ञा दी जाती है। इस तरह-माता-पिता अपनी जिम्मेदारियाँ समुदाय को सौंप देते हैं। सभी बच्चों को किबुज के बच्चों के रूप में देखा जाता है। इसी रूप में इनका पालन-पोषण होता है। इसी तरह किबुज विशेष तौर पर माता-पिता की भूमिकाओं के संदर्भ में परिवार के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण का द्योतक है। किबुज में और भी ऐसे पहलू हैं जो परंपरागत पारिवारिक व्यवस्था के प्रति नकारात्मक रवैये के परिचायक हैं। विवाहित जोड़ों के बीच घरेलू दायित्वों में सहभागिता या आर्थिक सहयोग जैसी कोई चीज नहीं दिखाई देती है। ये परिवार के लिए नहीं बल्कि किबुज के लिए काम करते हैं।

उन्हें किबुज से वह सब कुछ प्राप्त हो जाता है जो उनके जरूरी होता है। ये साम्प्रदायिक भोजनालय में खाना खाते हैं। सबका खाना एक साथ बनता है। कपड़े धोने आदि जैसी आवश्यक सेवाएँ पूरे किबुज के लिए सामूहिक रूप से प्रदान की जाती है और इस संदर्भ में विवाहित जोड़े का कोई दायित्व नहीं होता।

जाहिर है कि इजरायली किबुज में एक बहुप्रकार्यात्मक इकाई के रूप में परिवार का कोई अस्तित्व नहीं होता। अत: कुछ लोग ये मानते हैं कि किबुज को एक व्यापक विस्तृत परिवार को रूप में देखा जा सकता है क्योंकि यह उत्पादन, बच्चे के पालन-पोषण, किबुज-संस्कृति में उसके समाजीकरण तथा उपभोग और मनोरंजन की भी एक इकाई है।

नोट

यही वजह है कि हंगरी के मार्क्सवादी लेखक वाजदा व हेलर कम्यून या सामूहिक परिवार को आधुनिक नाभिकीय परिवार प्रणाली को विकल्प के रूप में प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार कम्यून ही सारे वयस्क बच्चों की देखभाल के लिए जिम्मेदार हैं। वयस्कों में संबंध एक-विवाह से लेकर स्वच्छंद यौनाचार तक कुछ भी हो सकता है क्योंकि कम्यून में यौन-संबंधों के लिहाज से विशिष्ट मूल्य संदर्भ नहीं होते हैं। पर पारिवारिक कम्यून इजरायल के किबुज से इस अर्थ में भिन्न हैं कि इसके क्रिया-कलाप घरेलू और बच्चों की देखभाल से जुड़े संबंधों तक ही सीमित हैं और उनके दायरे में उत्पादन का अधिक व्यापक क्षेत्र नहीं आता जो व्यावसायिक भूमिकाओं के संगठन से सरोकार रखता है।

पिछले अनुच्छेदों में हमने परिवार के लिए प्रस्तावित संशोधनों और विकल्पों की रूपरेखा प्रस्तुत की है। दुनिया बहुत तेजी से बदल गई है। आज पूरी दृढ़ता से यह संकेत दिलाना संभव नहीं है कि आने वाले समय में चीजों का स्वरूप क्या होगा, पर हम बिना लाग-लपेट के यह भविष्यवाणी कर सकते हैं कि परिवार का स्वरूप ऐसा नहीं रह पाएगा जैसा आज है। कुछ समाज शास्त्रियों का विचार है कि मानव जाति पारिवारिक संबंधों की दृष्टि से एक स्वर्णिम युग में प्रवेश कर रही है। ''भावनात्मक आधार पर वैवाहिक संबंध कायम करना, आर्थिक दबावों में कमी, और बच्चों का ऐच्छिक रूप से जन्म और पालन-पोषण आने वाले समय में टिकाऊ परिवार के लिए एक मजबूत आधारशिला प्रदान करेंगे।''

7.2 विवाह-विच्छेद की समस्या (Problem of Divorce)

सामाजिक एवं कानूनी रूप से पति-पत्नी के विवाह संबंधों की समाप्ति ही विवाह-विच्छेद कहलाता है। विवाह विच्छेद पति-पत्नी के वैवाहिक एवं पारिवारिक जीवन में असामंजस्य एवं असफलता का सूचक है। इसका अर्थ यह है कि जिन उद्देश्यों को लेकर विवाह किया गया वे पूर्ण नहीं हुए हैं। यह एक दुखद घटना है, विश्वास की समाप्ति है, प्रतिज्ञा एवं मोह भंग की स्थिति है। इसमें एक साथी दूसरे का मूल्यांकन कर लेता है और जिसे रद्द कर दिया जाता है वह अपने आपको अपमानित एवं कुचला हुआ महसूस करता है, उसके आत्माभिमान को चोट पहुँचती है। यह एक वैधानिक, पारिवारिक एवं सामाजिक समस्या भी है।

हिंदुओं में स्त्री के लिए पतिव्रत तथा सतीत्व के पालन की बात कही गयी है, अत: स्त्री द्वारा पति को त्यागने की कल्पना नहीं की जा सकती और ऐसा करना उसके लिए सामाजिक व धार्मिक दृष्टि से अनुचित माना गया, यद्यपि वैदिक काल में विवाह-विच्छेद के कुछ उदाहरण हैं।

किंतु ईसा काल में प्रारंभ से ही नैतिकता की दुहाई देकर विवाह-विच्छेद को अधार्मिक, अपवित्र एवं घृणित कार्य समझा जाने लगा और उसके बाद तो विवाह-विच्छेद लगभग समाप्त हो गए। ईसा के 1000 वर्ष बाद तो यह धारणा दृढ़ हो गयी कि कन्यादान सिर्फ एक ही बार किया जाता है और पति चाहे कितना ही दुश्चरित्र एवं अत्याचारी क्यों न हो, उसे नहीं छोड़ा जा सकता। विवाह-विच्छेद की समस्या का संबंध हिंदुओं की उच्च जातियों से ही है। निम्न जातियों में तो आज भी विवाह-विच्छेद होते हैं। हिंदुओं में पुरुष को तो विवाह-विच्छेद की स्वीकृति दी गयी है, किंतु स्त्रियों को नहीं। इसका कारण समाज में पुरुषों की प्रधानता एवं स्त्रियों की निम्न सामाजिक स्थिति है।

टास्क भारत के संदर्भ में विवाह-विच्छेद की समस्या को आप किस रूप में देखते हैं? इस समस्या के समाधान हेतु अपने आवश्यक सुझाव भी दीजिए।

यद्यपि भारत के विभिन्न प्रांतों; जैसे महाराष्ट्र, तमिलनाडु, गुजरात एवं केरल में तलाक से संबंधित अधिनियम बनते रहे, किंतु **संपूर्ण भारत के संदर्भ में सन् 1954 में 'विशेष विवाह अधिनियम' तथा सन् 1955 में 'हिंदू विवाह अधिनियम' में तलाक की व्यवस्था है।** हम यहाँ 1955 के हिंदू विवाह अधिनियम में किये गये तलाक के विभिन्न प्रावधानों का उल्लेख करेंगे।

नोट

हिंदू विवाह अधिनियम 1955 (Hindu Marriage Act 1955)

18 मई, 1955 से जम्मू और कश्मीर को छोड़कर संपूर्ण भारत में निवास करने वाले हिंदुओं, जिनमें जैन, बौद्ध, सिक्ख, भी सम्मिलित हैं, 'हिंदू विवाह अधिनियम' लागू कर दिया गया, किंतु यह अधिनियम अनुसूचित जनजातियों पर लागू नहीं होता है। **इस अधिनियम के द्वारा विवाह से संबंधित पूर्व में पास किये गये सभी अधिनियम रद्द कर दिए गए और सभी 'हिंदुओं पर एक समान क्रानून लागू किया गया।** इस अधिनियम में हिंदू विवाह की प्रचलित विभिन्न विधियों को मान्यता प्रदान की गयी है। साथ ही सभी जातियों के स्त्री-पुरुषों को **विवाह एवं तलाक के अधिकार प्रदान** किये गये हैं। इस अधिनियम में न्यायिक पृथक्करण, तलाक, विवाह की समाप्ति, आदि के प्रावधान किये गये हैं। इसमें 1976 एवं 1981 में कई संशोधन भी किये गये हैं। इसमें दी गई विवाह विच्छेद संबंधी प्रमुख बातें इस प्रकार हैं–

विवाह-संबंध की समाप्ति (Void of Marriage)

निम्नांकित दशाओं में विवाह होने पर भी उसे रद्द किया जा सकता है–

(*i*) विवाह के समय दोनों पक्षों में से किसी एक का भी जीवन-साथी जीवित हो और उससे तलाक नहीं हुआ हो।

(*ii*) विवाह के समय एक पक्ष नपुंसक हो।

(*iii*) विवाह के समय कोई भी एक पक्ष जड़-बुद्धि या पागल हो।

(*iv*) विवाह के एक वर्ष के अंदर यह प्रमाणित हो जाए कि प्रार्थी अथवा उसके संरक्षक की स्वीकृति बलपूर्वक कपट से ली गई थी।

(*v*) विवाह के एक वर्ष के भीतर यह प्रमाणित हो जाए कि विवाह के समय पत्नी किसी अन्य पुरुष से गर्भवती थी और प्रार्थी इस बात से अनभिज्ञ था।

न्यायिक पृथक्करण (Judicial Separation)

इस अधिनियम की धारा 10 में कुछ आधारों पर पति-पत्नी को अलग रहने की आज्ञा दी जा सकती है। यदि वे पृथक् रहकर मतभेदों को भुलाने में सफल हो जाते हैं तो वैवाहिक संबंधों की पुनर्स्थापना की जा सकती है। न्यायिक पृथक्करण के आधार निम्नांकित हैं–

(*i*) बिना कारण बताए प्रार्थी को दूसरे पक्ष ने प्रार्थना-पत्र देने के दो वर्ष से छोड़ रखा हो।

(*ii*) प्रार्थी के साथ दूसरे पक्ष द्वारा क्रूरता का व्यवहार किया जाता हो।

(*iii*) प्रार्थना-पत्र देने के बाद एक वर्ष पूर्व से दूसरा पक्ष असाध्य कुष्ठ रोग से पीड़ित हो।

(*iv*) दूसरे पक्ष को कोई ऐसा संक्रामक यौन रोग हो जो प्रार्थी के संसर्ग से नहीं हुआ हो।

(*v*) यदि दूसरा पक्ष प्रार्थना-पत्र देने के एक वर्ष पूर्व से पागल हो।

(*vi*) यदि दूसरे पक्ष ने विवाह के बाद अन्य व्यक्ति के साथ संभोग किया हो। यदि न्यायिक पृथक्करण की आज्ञा मिलने के बाद दो वर्ष के भीतर भी वे अपने संबंधों को सुधारने में असफल रहते हैं तो वे तलाक़ के लिए प्रार्थना-पत्र दे सकते हैं जो कि धारा 13 के अनुसार स्वीकृत किया जा सकता है।

विवाह-विच्छेद (Divorce)

निम्नांकित आधारों पर न्यायालय विवाह-विच्छेद की स्वीकृति दे सकता है–

(*i*) दूसरा पक्ष व्यभिचारी हो।

(*ii*) दूसरे पक्ष ने धर्म-परिवर्तन कर लिया हो और हिंदू न रह गया हो।

(*iii*) दूसरा पक्ष असाध्य कुष्ठ या संक्रामक रोग से पीड़ित हो।

नोट

(*iv*) दूसरा पक्ष संन्यासी हो गया हो।

(*v*) सात वर्षों से दूसरे पक्ष के जीवित होने के बारे में न सुना गया हो।

(*vi*) पक्ष ने न्यायिक पृथक्करण के एक वर्ष या उससे अधिक अवधि के बाद तक पुनः सहवास न किया हो।

(*vii*) दूसरे पक्ष ने दाम्पत्य अधिकारों की पुनः स्थापना हो जाने के एक वर्ष तक उस पर अमल न किया हो।

(*viii*) पति बलात्कार, गुदा मैथुन अथवा पशुगमन का दोषी हो।

इस अधिनियम से स्पष्ट है कि **न्यायिक पृथक्करण** और **विवाह-विच्छेद** दो भिन्न बाते हैं। पृथक्करण की आज्ञा देकर न्यायालय दोनों पक्षों को समझौते के अवसर प्रदान करता है। यदि फिर भी वे साथ रहने को सहमत न हों तो विवाह भंग करने की स्वीकृति प्रदान की जाती है। कुछ परिस्थितियों में ही विवाह-विच्छेद की सीधी अनुमति दी जा सकती है। **सामान्य धाराएँ–**1. विवाह-विच्छेद के लिए आवेदन-पत्र विवाह के एक वर्ष बाद ही दिया जा सकता है। 2. यदि अदालत द्वारा विवाह-विच्छेद की राजाज्ञा मिलने के एक वर्ष के अंदर ही अपील नहीं की जाती है तो दोनों पक्षों को पुनर्विवाह करने का अधिकार होगा। 3. न्यायालय बच्चों की शिक्षा-दीक्षा, देखभाल एवं रहने के संबंध में अंतरिम और स्थायी आदेश दे सकता है। 4. इस अधिनियम में पति अथवा पत्नी के लिए निर्वास धन (Alimony) की व्यवस्था भी की गयी है। यह राशि उस समय तक दी जाएगी जब तक निर्वास धन प्राप्त करने वाला दूसरा विवाह न कर ले। **1976 में इस विधान में संशोधन कर यह अनुमति प्रदान की गई है कि पति-पत्नी परस्पर सहमति से भी तलाक ले सकते हैं, किंतु उन्हें यह सिद्ध करना होगा कि वे पिछले एक वर्ष से अलग-अलग रह रहे हैं और उनमें मेल संभव नहीं हो सका है।** तलाक के बाद कोई भी पक्ष चाहे तो कभी भी दूसरा विवाह कर सकता है, राजाज्ञा प्राप्त होने के तुरंत बाद भी।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

दिए गए कथन में से सही (✓) और गलत (✗) छाँटिए–

1. वैदिक काल में विवाह-विच्छेद निषेध माना जाता था। ☐
2. 1955 ई. में हिंदू विवाह अधिनियम में तलाक की भी व्यवस्था की गई है। ☐
3. इजराइल के किबुज लोगों में परिवार का जो स्वरूप है, वह वर्तमान नाभिकीय परिवार के बहुत समीप है। ☐
4. तलाक के लिए प्रार्थना-पत्र धारा 13 के अंतर्गत स्वीकृत किया जा सकता है। ☐

क्या हिंदू समाज में तलाक की स्वीकृति प्रदान की जानी चाहिए? (Should Divorce be permitted in Hindu Society?)

सदियों से हिंदुओं में विवाह को एक पवित्र संस्कार माना जाता रहा है, किंतु वर्तमान में परिस्थितियाँ बदल गई हैं और कई लोग विवाह को एक सामाजिक एवं वैधानिक समझौता मानते हैं। इसी संदर्भ में तलाक के प्रति दृष्टिकोण में भी परिवर्तन आया है। कुछ लोग तलाक को उचित बताते हैं तो कुछ अनुचित। क्या हिंदुओं में तलाक की अनुमति दी जानी चाहिए इसके पक्ष एवं विपक्ष में दो मत हैं। हम यहाँ इन दोनों ही पक्षों पर विचार करेंगे।

तलाक के विपक्ष में तर्क या तलाक के दुष्परिणाम (Arguments Against Divorce or Disadvanges of Divorce)

आज भी अनेक हिंदू विवाह-विच्छेद को परंपरागत भारतीय सामाजिक संगठन एवं परिवार को विघटित करने वाला मानते हैं। उनके अनुसार विवाह-विच्छेद का सिद्धांत हिंदुओं के सामाजिक प्रतिमान के लिए जिसमें वे सदियों से रहते आए हैं। प्रतिकूल तथा विदेशी है। वे तलाक के विरोध में निम्नांकित तर्क देते हैं–

नोट

1. **धर्म विरोधी**–हिंदुओं में विवाह को एक पवित्र धार्मिक संस्कार माना गया है, यह पति-पत्नी के बीच जन्म-जन्मांतर का संबंध है जिसे तोड़ा नहीं जा सकता।

   इस तर्क को उचित नहीं माना जा सकता क्योंकि विवाह को पवित्र धार्मिक संस्कार तो पति-पत्नी द्वारा निभाए जाने वाले दायित्वों द्वारा बनाया जाता है। यह संस्कार तभी तक है जब तक पति-पत्नी परस्पर सहयोग एवं प्रेम से रहें, बच्चों का लालन-पालन करें एवं सामाजिक कर्त्तव्यों का निर्वाह करें। विवाह में तलाक की स्वतंत्रता कुछ भी अनिष्टकारी अथवा संकटपूर्ण नहीं है।

2. **पारिवारिक विघटन की संभावना**–एक मत यह है कि तलाक से पारिवारिक विघटन की संभावना बढ़ जाएगी। पति-पत्नी परस्पर एक-दूसरे पर अविश्वास करने लगेंगे, तनावों एवं मनमुटावों में वृद्धि होगी। स्त्री अन्य पुरुष के बहकावे में आकर अपने पति को छोड़ देगी और पुरुष भी अन्य स्त्री की ओर आकर्षित होकर उस पर अत्याचार कर सकता है और तलाक के लिए उसे बाध्य कर सकता है जिससे कि उसे भरण-पोषण हेतु खर्चा न देना पड़े। पारिवारिक विघटन सामाजिक विघटन को भी जन्म देगा, अत: तलाक की स्वीकृति नहीं दी जानी चाहिए। किंतु इसके विरोध में यह कहा जाता है कि जब पति-पत्नी परस्पर तनावों से जूझ रहे हों, इनमें विश्वास समाप्त हो गया हो, एक-दूसरे पर अत्याचार करते हों, तब परिवार कैसे संगठित रह सकता है, ऐसी स्थिति में तो तलाक उन्हें इन संकटों से मुक्ति दिलायेगा।

3. **स्त्रियों के भरण-पोषण की समस्या**–भारत जैसे पुरुष प्रधान देश में जहाँ अधिकांशत: स्त्रियाँ अशिक्षित हैं और अपने जीवन निर्वाह के लिए पति पर निर्भर हैं, तलाक होने पर वे बेघर, बेसहारा हो जायेंगी, उनके सामने जीविका का संकट पैदा हो जायेगा, उन्हें आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में कई बार स्त्रियों को अनैतिक जीवन भी व्यतीत करना पड़ता है। इस तर्क के विरोध में भी लोग कहते हैं कि अब स्त्रियों में जागरूकता आयी है। वे नौकरी एवं व्यवसाय के द्वारा जीवन-यापन करने में सक्षम होती जा रही हैं।

4. **बच्चों की समस्या**–तलाक के कारण बच्चों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा, उनके लालन-पालन, शिक्षा-दीक्षा की समस्या पैदा हो जायेगी और माता या पिता के अभाव में उनके व्यक्तित्व का भी समुचित विकास नहीं हो पायेगा। माता-पिता के प्रेम के अभाव में वे जीवन में खालीपन अनुभव करेंगे। कई बार ऐसी स्थितियाँ बाल-अपराध को भी जन्म देती हैं। इस तर्क के विरोध में भी यह कहा जाता है कि प्रतिदिन माता-पिता में होने वाले संघर्ष एवं मनमुटाव से वैसे ही बच्चों पर बुरा प्रभाव पड़ता है, तलाक के कारण तो वे इससे मुक्ति पा सकेंगे।

5. **तलाक की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन**–विवाह-विच्छेद की छूट देने से लोग इसके आदी हो जाएँगे और वे एक के बाद एक तलाक देते जायेंगे एवं पुनर्विवाह करते जायेंगे। इससे जीवन में ठहराव नहीं आयेगा और अनैतिकता में वृद्धि होगी। इस तर्क के विपरीत यह कहा जाता है कि तलाक की स्वीकृति के अभाव में व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति से यौन संबंध स्थापित करके भी अनैतिकता को बढ़ावा दे सकता है।

6. **तलाक के दुष्प्रभाव**–इनके अतिरिक्त तलाक से **संवेगात्मक संकट** पैदा होता है। पति-पत्नी की आशाएँ टूट जाती हैं, उनके सपने चकनाचूर हो जाते हैं, उनके अहं को ठेस लगती है, उनमें हीन भावना पैदा होती है। अपने पुराने अनुभव के आधार पर जब उसकी काम वासना की तृप्ति नहीं होती है तो वह अनैतिक तरीके अपनाता है, इससे वेश्यावृत्ति में वृद्धि होती है।

उपर्युक्त सभी कारणों एवं प्रभावों के आधार पर ही लोगों का मत है कि तलाक की स्वीकृति नहीं दी जानी चाहिए।

क्या आप जानते हैं वैदिक युग में पुरुषों की भाँति स्त्रियों को भी तलाक का अधिकार प्राप्त था किंतु मध्ययुग में स्थिति बदली और स्त्रियों को इस अधिकार से वंचित कर दिया गया।

नोट

विवाह-विच्छेद का औचित्य अथवा तलाक के पक्ष में तर्क या तलाक के लाभ (Justification of Divorce or Arguments in favour of Divorce or Advantages of Divorce)

1. **समानता का अधिकार**–वर्तमान में स्त्री-पुरुषों को सभी क्षेत्रों में समान अधिकार प्रदान किए गए हैं, ऐसी स्थिति में विवाह-विच्छेद का अधिकार केवल पुरुषों को ही नहीं वरन् स्त्रियों को भी प्राप्त होना चाहिए। उन्हें भी असाधारण परिस्थितियों में अपने पति को त्यागने का अधिकार होना चाहिए।
2. **पारिवारिक संगठन को सुदृढ़ बनाने के लिए**–वर्तमान में एकाकी परिवारों में पति के दुराचारी होने या वैवाहिक दायित्व न निभाने पर पत्नी व बच्चों का कोई सहारा नहीं होता। ऐसी दशा में स्त्री व बच्चों की रक्षा के लिए एवं परिवार को सुसंगठित बनाने के लिए विशिष्ट परिस्थितियों में विवाह विच्छेद की स्वीकृति दी जानी चाहिए।
3. **स्त्रियों की दशा सुधारने के लिए**–स्त्रियों को विवाह-विच्छेद का अधिकार मिलने पर उनकी पारिवारिक एवं सामाजिक प्रतिष्ठा में वृद्धि होगी, साथ ही पुरुषों की मनमानी पर भी अंकुश लगेगा।
4. **वैवाहिक समस्याओं से मुक्ति पाने के लिए**–हिंदू विवाह से संबंधित समस्याओं जैसे–बाल-विवाह, अनमेल विवाह, दहेज, विधवा विवाह निषेध, आदि से छुटकारा पाने के लिए विवाह-विच्छेद का अधिकार स्त्री-पुरुष को समान रूप से दिया जाना चाहिए।
5. **सामाजिक जीवन को संतुलित बनाने के लिए**–स्त्रियों को विवाह के क्षेत्र में पुरुषों के समान अधिकार न देने से समाज व्यवस्था में असंतुलन पैदा होगा। इस स्थिति से बचने के लिए एवं मानवीय दृष्टिकोण से भी स्त्रियों को विवाह-विच्छेद का अधिकार प्राप्त होना चाहिए।
6. स्त्रियों को तलाक का अधिकार देने से भारत की प्राचीन **परंपरा व संस्कृति को संरक्षण** ही मिलेगा। वैदिक काल और उसके काफी समय बाद तक दोनों पक्षों को तलाक देने के अधिकार थे। मध्य युग में इन अधिकारों पर रोक लगी। इस प्रकार तलाक से हमारी भारतीय परंपरा व संस्कृति को कोई खतरा नहीं है। इससे तो उनका रक्षण ही होगा।
7. स्त्रियों को तलाक का अधिकार देने से हिंदू विवाह पर लगाया जाने वाला यह आरोप कि वह एक तरफा व पुरुषों के पक्ष में है, मिट जाएगा। यह दोनों पक्षों को समान रूप से सुदृढ़ बनाएगा।

नोट्स 1955 में हिंदू विवाह अधिनियम के तहत स्त्री को भी तलाक देने का कानूनी अधिकार मिल गया। परंतु आज भी हिंदू धर्म में तलाक की प्रक्रिया न्यायिक विलंब के कारण समस्या बनी हुई है।

विवाह विच्छेद के प्रति बदलते दृष्टिकोण (Changing Attitudes Towards Divorce)

वैदिक युग में स्त्री और पुरुष दोनों को तलाक के अधिकार प्राप्त थे। मध्य युग में पुरुषों को तो यह अधिकार प्राप्त था, किंतु स्त्रियों को इससे वंचित कर दिया गया और उनकी सामाजिक स्थिति दिन-प्रति-दिन गिरती चली गई। विवाह की अविच्छेद प्रकृति के कारण स्त्रियों पर अत्याचार बढ़ते गये। पति चाहे कितना ही दुष्ट स्वभाव का, दुराचारी, व्यभिचारी, रोगी एवं अपंग क्यों न हो, पत्नी को उसे परमेश्वर मानने को कहा गया एवं उसे त्यागने पर प्रतिबंध लगा दिया गया। 19वीं सदी में कई समाज सुधारकों का ध्यान इस समस्या की ओर गया तथा उन्होंने स्त्री की सामाजिक स्थिति को ऊँचा उठाने हेतु अनेक प्रयत्न किये। महात्मा गाँधी ने भी इस ओर प्रयत्न किये। स्वयं स्त्रियों में भी अपने अधिकारों के प्रति चेतना विकसित हुई और अंततः 1955 में हिंदू विवाह अधिनियम में स्त्री-पुरुष दोनों को तलाक का अधिकार प्राप्त हुआ।

नोट

भारत में विवाह-विच्छेद संबंधी अधिनियम तो पारित हो चुका है, किंतु आज भी अधिकांश हिंदू इसके विरुद्ध हैं क्योंकि इस अधिनियम का जन्म पाश्चात्य शिक्षा एवं सभ्यता के प्रभाव के कारण हुआ जो विदेशी है तथा भारतीय परंपरा व संस्कृति के विपरीत है। कई पुरुष यह नहीं चाहते थे कि स्त्रियों को भी पुरुषों के समान अधिकार प्राप्त हों।

किंतु समय के साथ-साथ विचारों में परिवर्तन आ रहा है। तलाक के प्रति लोगों के बदलते दृष्टिकोण का पता लगाने के लिए कई समाजशास्त्रीय अध्ययन भी हुए हैं। इन अध्ययनों से ज्ञात हुआ है कि शिक्षा के प्रसार एवं स्त्रियों में आयी जागरूकता एवं पुरुषों द्वारा स्त्रियों पर किए जाने वाले अत्याचारों के कारण तलाक के पक्ष में वातावरण बनता जा रहा है। इस संदर्भ में एक बात ध्यान देने योग्य है कि तलाक की स्वीकृति केवल उसी समय दी जानी चाहिए जब यह नितांत आवश्यक एवं स्थिति असहनीय हो जाय। इसे अंतिम उपचार के रूप में ही चुना जाना चाहिए न कि एक सहज, सुलभ तरीके के रूप में।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

सही विकल्प चुनकर रखिए–

5. हिंदू विवाह अधिनियम कब पारित हुआ–
   (क) 1947 में (ख) 1962 में (ग) 1955 में
6. शरीअत किसे कहते हैं–
   (क) रीति-रिवाज को (ख) विवाह कानून को (ग) इस्लामी कानून को
7. इस्लामी कानून के मुताबिक जब स्त्री पति से तलाक लेती है तो उसे किस नाम से जाना जाता है–
   (क) तलाके-हसन (ख) खुला (ग) मुबारत

7.3 मुसलमानों में विवाह-विच्छेद (Divorce Among Muslims)

मुस्लिम विवाह एक समझौता है, दोनों पक्षों में से कोई भी पक्ष जब इस समझौते का पालन नहीं करता है तो तलाक द्वारा विवाह-विच्छेद किया जा सकता है। प्राचीन अरब में **'खोल'** की प्रथा थी। इस प्रथा के अनुसार पिता अपनी पुत्री को कभी भी अपने पति के बंधन से मुक्त करा सकता था। ऐसा करने के लिए उसे वर द्वारा दिया गया 'सदक' अर्थात् वधू-मूल्य लौटाना पड़ता था। आगे चलकर 'सदक' ने ही 'मेहर' का रूप ले लिया। पति की अनुमति मिलने पर स्त्री पति द्वारा लिया मेहर लौटाकर विवाह-विच्छेद कर सकती है। तलाक के क्षेत्र में मुस्लिम कानून पुरुषों के पक्ष में झुका हुआ है।

मुस्लिम तलाक कानून के अनुसार पति अपनी पत्नी को जब चाहे छोड़ सकता। उसके लिए इतना ही पर्याप्त है कि वह पत्नी से चार माह तक सहवास न करे। मुस्लिमानों में तलाक अदालत एवं बिना अदालत की सहायता से तथा लिखित और मौखिक दोनों तरीकों से हो सकता है। लिखित में तलाक देने को तलाकनामा कहा जाता है। स्त्री की तुलना में पुरुष को ही तलाक देने की अधिक स्वतंत्रता है।

तलाक के प्रकार निम्नांकित हैं–

1. **तलाक** (Talak)–मुस्लिम कानून के अनुसार कोई भी पुरुष जो बालिग और स्वस्थ मस्तिष्क वाला है, बिना कारण बताए अपनी स्त्री को तलाक दे सकता है। इस मौखिक तलाक के निम्न प्रकार हैं–
   (क) तलाके-अहसन (Talak-e-Ahasan)–इसमें पति पत्नी के तुहर (मासिक धर्म) के समय एक बार तलाक की घोषणा करता है और उसके बाद 'इद्दत' की अवधि में पत्नी से यौन-संबंध स्थापित नहीं करता है। 'इद्दद' चार मासिक धर्मों के बीच तीन महीने की अवधि को कहते हैं। इस अवधि तक यदि पति-पत्नी के साथ सहवास नहीं करता है तो अवधि समाप्ति पर तलाक हो जाता है।

नोट

(ख) **तलाके हसन** (Talak-e-Hasan)–इसमें पति तीन तुहरों अर्थात् मासिक धर्मों के बीच के समय में तीन बार तलाक शब्द कहता है और इस बीच वह पत्नी से सहवास नहीं करता है। इस अवधि की समाप्ति के बाद तलाक मान लिया जाता है।

(ग) **तलाक-उल-बिद्दत** (Talak-ul-Biddat)–इसमें पति किसी भी मासिक धर्म के अवसर पर थोड़े-थोड़े समय के बाद तलाक की तीन बार घोषणा करता है और इसके बाद इद्दत की अवधि समाप्त होने पर तलाक मान लिया जाता है।

2. **इला** (Illa or Vow of Continence)–इसमें पति खुदा की कसम खाकर यह घोषणा करता है कि वह चार माह या अधिक समय तक पत्नी के साथ सहवास नहीं करेगा। इस अवधि तक यदि वह सहवास नहीं करता है तो विवाह-विच्छेद हो जाता है।
3. **जिहर** (Zihar)–जब पति अपनी पत्नी की तुलना किसी ऐसे संबंधी से करे जिनसे विवाह निषेध है जैसे वह यह कहे तुम तो मेरी माँ के समान हो, तो पत्नी पति को प्रायश्चित करने के लिए कहती है। यदि पति ऐसा नहीं करता है तो पत्नी अदालत से तलाक की माँग कर सकती है और आदलत ऐसी स्थिति में तलाक स्वीकार कर देती है।
4. **ख़ुला** (Khula)–इसमें पत्नी पति से कहती है कि यदि वह उसे विवाह से मुक्त कर दे तो वह उसे मेहर वापस लौटाकर उसकी क्षतिपूर्ति कर देगी। यदि दोनों में सहमति हो जाती है तो तलाक हो जाता है।
5. **मुबारत** (Mubarat)–यह विवाह-विच्छेद दोनों की पारस्परिक सहमति से होता है, किंतु इसमें खुला की तरह पत्नी पति को कोई धन नहीं देती है। इस प्रकार के तलाक में पत्नी इद्दत की अवधि के दौरान पति के पास ही रहती है।
6. **लियान** (Lian)–इसमें पति पत्नी पर व्यभिचार का आरोप लगाता है और पत्नी इसका खंडन करती है और अदालत से प्रार्थना करती है कि या तो पति अपने आरोप को वापस ले या खुदा को हाजिर-नाजिर समझकर घोषण करे कि यह आरोप सत्य है। यदि पति का आरोप झूठा सिद्ध होता है तो पत्नी को विवाह-विच्छेद का अधिकार मिल जाता है।
7. **तलाके तफबीज** (Talak-e-Thafabeej)–इसमें पत्नी तलाक की माँग करती है जो उसे विवाह के समय पति द्वारा दिए गए अधिकारों के आधार पर प्राप्त होती है।

न्यायिक तलाक (Judicial Divorce)

शरीयत अधिनियम, 1937 ने मुस्लिम स्त्री को पति के नपुंसक होने और उसके द्वारा पत्नी पर झूठा व्यभिचार का दोषारोपण करने की स्थिति में तलाक का अधिकार प्रदान किया है। इसके अतिरिक्त इला एवं जिहर के आधार पर भी तलाक दिया जा सकता है।

सन् 1939 में **मुस्लिम विवाह-विच्छेद अधिनियम** बना। इस अधिनियम ने मुस्लिम स्त्री को निम्नांकित आधारों पर तलाक देने का अधिकार प्रदान किया है–

1. यदि चार वर्ष से पति का कोई पता न हो।
2. यदि पति दो वर्ष से पत्नी का भरण-पोषण करने में असमर्थ हो।
3. यदि पति को सात या अधिक वर्षों के लिए जेल की सजा हुई हो।
4. यदि पति तीन वर्ष से बिना किसी कारण के अपने वैवाहिक कर्त्तव्यों को निभाने में असमर्थ रहा हो।
5. यदि पति नपुंसक हो।
6. यदि पति पागल हो।
7. यदि पति संक्रामक यौन रोग एवं कोढ़ से ग्रस्त हो।

नोट

8. यदि उसका विवाह 15 वर्ष से कम की आयु में उसके पिता या अन्य संरक्षकों द्वारा कर दिया गया हो और इस अवधि में पति-पत्नी में यौन-संबंध स्थापित नहीं हुए हों और लड़के की 18 वर्ष की आयु पूर्व होने के पहले ही ऐसे विवाह के विरुद्ध प्रतिवेदन कर दिया गया हो।
9. यदि पति पत्नी के साथ क्रूरतापूर्ण व्यवहार करता हो।
10. यदि पति चरित्रहीन स्त्रियों से संपर्क रखता हो।
11. यदि पति पत्नी को व्यभिचारपूर्ण जीवन व्यतीत करने को बाध्य करता हो।
12. यदि पति पत्नी की संपत्ति को बेचता हो, उसके संपत्ति संबंधी अधिकारों में बाधा डालता हो।
13. यदि पति पत्नी के धार्मिक कार्यों में बाधा डालता हो।
14. एक से अधिक पत्नियाँ होने पर पति समान व्यवहार नहीं करता हो।
15. किसी अन्य आधार पर जो मुस्लिम कानून के अनुसार तलाक के लिए मान्य हो।

7.4 ईसाइयों में विवाह-विच्छेद (Divorce Among Christians)

ईसाई धर्म विवाह-विच्छेद की स्वीकृति नहीं देता। इनके किसी भी गिरजाघर में विवाह-विच्छेद की घोषणा नहीं की जा सकती है। रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय विवाह-विच्छेद के पूर्णत: विरुद्ध है जबकि प्रोटेस्टेंट सम्प्रदाय विशेष परिस्थितियों में इसका समर्थन करता है। किसी भी चर्च में न तो विवाह-विच्छेद किया जा सकता है और न ही विवाह-विच्छेद करने वाले स्त्री-पुरुष वहाँ पुन: विवाह कर सकते हैं। पहले जीवन-साथी की मृत्यु के एक वर्ष के पश्चात् ही चर्च उसे पुनर्विवाह की आज्ञा प्रदान करता है। यदि कोई पक्ष निषेधात्मक संबंधों के अंतर्गत आता हो, पागल हो गया हो या दूसरे पक्ष के साथ क्रूरता का व्यवहार करता हो, तो ऐसी परिस्थति में चर्च उन्हें वैवाहिक पृथक्करण की आज्ञा दे देता है। ईसाइयों में संतानोत्पत्ति के बजाय पारस्परिक प्रेम को अधिक महत्त्व दिया जाता है। इनमें बाँझपन को भी वैवाहिक पृथक्करण का आधार माना गया है।

विवाह-विच्छेद के संबंध में ईसा मसीह ने कहा है, ''वे दोनों एक जिस्म (शरीर) होंगे, बस वे दो नहीं बल्कि एक जिस्म हैं। इसलिए जिसे खुदा ने जोड़ा है, उसे आदमी जुदा न करे।'' इसी संबंध में आगे कहा गया है कि जो व्यक्ति अपनी पत्नी को व्यभिचारिणी होने के अतिरिक्त अन्य किसी कारण से छोड़ेगा और दूसरी स्त्री से विवाह करेगा, वह व्यभिचार करता है; और वह जो छोड़ी हुई स्त्री से विवाह करता है व्यभिचार करता है। स्पष्ट है कि ईसाइयों में विवाह-विच्छेद को धार्मिक दृष्टि से मान्यता प्रदान नहीं की जाती। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि ईसाइयों में विवाह-विच्छेद नहीं पाए जाते हैं, उनमें अन्य धर्मानुयायियों की तुलना में विवाह-विच्छेद अधिक ही होते हैं। व्यवहार रूप में पारस्परिक प्रेम में किसी प्रकार की बाधा उपस्थिति होने पर ये लोग विवाह-विच्छेद को अनुचित नहीं मानते, परंतु क्योंकि अनेक भारतीय ईसाई हिंदू धर्म को छोड़कर ईसाई बने हैं, इसका कारण हिंदू मनोवृत्तियों का प्रभाव आज भी उन पर है और उनमें विवाह-विच्छेद की दर पाश्चात्य देशों के ईसाइयों की तुलना में कम ही है।

7.5 भारतीय विवाह-विच्छेद अधिनियम, 1869 (The Indian Divorce Act, 1869)

इस अधिनियम के अनुसार, ईसाइयों को वैधानिक रूप से विवाह-विच्छेद का अधिकार दिया गया है। इस अधिनियम के अंतर्गत धारा 10 में पत्नी के व्यभिचारिणी होने पर पति विवाह-विच्छेद के लिए अदालत में प्रार्थना-पत्र दे सकता है और पत्नी निम्नांकित आधारों में से किसी भी एक आधार पर विवाह-विच्छेद की माँग कर सकती है–

1. पति ने ईसाई धर्म को छोड़कर कोई अन्य धर्म स्वीकार कर लिया हो और किसी अन्य स्त्री के साथ विवाह कर लिया हो।
2. पति ने निषिद्ध संबंधों के अंतर्गत आने वाली किसी स्त्री के साथ यौन संबंध स्थापित कर लिया हो।
3. पति ने किसी अन्य स्त्री के साथ विवाह कर लिया हो और उसके साथ यौन-संबंध स्थापित कर लिया हो।

नोट

4. पति बलात्कार, अप्राकृतिक व्यभिचार या पशुता का अपराधी हो।
5. पति के द्वारा किसी दूसरी स्त्री के साथ अनुचित मैथुन किया गया हो और पत्नी का कम-से-कम दो वर्ष से परित्याग कर दिया हो।
6. पति बहु-विवाह, व्यभिचार का अपराधी हो।
7. पति पत्नी के साथ निर्दयतापूर्ण व्यवहार करता हो।

इस अधिनियम की धारा 19 के अनुसार, अग्रलिखित दशाओं में ईसाई विवाह अमान्य घोषित किया जा सकता है–

1. विवाह के समय कोई पक्ष नपुंसक हो।
2. पति-पत्नी एक-दूसरे के निषेधात्मक रक्त-संबंधी या विवाह-संबंधी हों।
3. कोई भी एक विवाह के समय पागल हो।
4. दोनों में से किसी का भी पहला पति या पत्नी जीवित हो।

विवाह को अवैध घोषित करने के लिए हाईकोर्ट द्वारा प्रमाणित राजाज्ञा होनी चाहिए। यदि विवाह के लिए किसी पक्ष की स्वीकृति छल या कपट द्वारा ली गयी है, तो हाईकोर्ट ऐसे विवाह को अवैध घोषित कर सकता है।

धारा 22 के अनुसार, व्यभिचार, क्रूरता अथवा परित्याग के कारण **न्यायिक पृथक्करण** की आज्ञा प्राप्त की जाती है। धारा 23 के अंतर्गत धारा 19 में वर्णित आधारों पर भी न्यायिक पृथक्करण प्राप्त किया जा सकता है। धारा 23 के अनुसार, पति-पत्नी में से किसी के द्वारा भी वैवाहिक अधिकारों के पुनःस्थापन (Restitution of Conjugal Rights) के लिए प्रार्थना-पत्र दिया जा सकता है। धारा 34 के अंतर्गत कोई भी पति अपनी पत्नी के साथ व्यभिचार करने वाले व्यक्ति से क्षतिपूर्ति की माँग कर सकता है। धारा 36 में पत्नी को अपने पति से भरण-पोषण की माँग करने की व्यवस्था की गयी है। इस अधिनियम की धारा 50 के अुनसार, विवाह-विच्छेद की राजाज्ञा प्राप्त होने के छः महीने पश्चात् कोई भी पक्ष दूसरा विवाह कर सकता है, बशर्ते कि इस अवधि के बीच किसी प्रकार की कोई अपील नहीं की गयी हो।

7.6 सारांश (Summary)

- हर समाज में परिवार किसी न किसी रूप में विद्यमान होता है और यह सर्वाभौमिक है।
- 'फ्यूचर शॉक' के लेखक एल्विन टाफ्लर ने अपनी पुस्तक के एक अध्याय का नाम 'खंडित परिवार' रखा है। इसमें परिवार का वर्णन उन्होंने इन शब्दों में किया है ''उद्योगवाद का यह तकाजा था कि बड़ी संख्या में कामगार हमेशा तैयार रहें और रोजगार की तलाश में अपनी जमीन छोड़ने तथा जब कभी आवश्यक हो उस पर पुनः वापस आने में सक्षम हों। इस तरह विस्तृत परिवार ने धीरे-धीरे अपने अतिरिक्त भार को घटा लिया और तथाकथित नाभिकीय परिवार का जन्म हुआ जो एक ऐसा न्यूनीकृत और चलायमान पारिवारिक इकाई था जिसमें केवल माता-पिता और चंद बच्चे होते थे। यह नए प्रकार का परिवार जो परंपरागत विस्तृत परिवार से ज्यादा गतिशील था, सभी औद्योगिक देशों में एक तरह का मानक हो गया।
- दुनिया बहुत तेजी से बदल गई है। आज पूरी दृढ़ता से यह संकेत दिलाना संभव नहीं है कि आने वाले समय में चीजों का स्वरूप क्या होगा, पर हम बिना लाग-लपेट के यह भविष्यवाणी कर सकते हैं कि परिवार का स्वरूप ऐसा नहीं रह पाएगा जैसा आज है।
- सामाजिक एवं कानूनी रूप से पति-पत्नी के विवाह संबंधों की समाप्ति ही विवाह-विच्छेद कहलाता है। विवाह विच्छेद पति-पत्नी के वैवाहिक एवं पारिवारिक जीवन में असामंजस्य एवं असफलता का सूचक है।
- ईसा काल में प्रारंभ से ही नैतिकता की दुहाई देकर विवाह-विच्छेद को अधार्मिक, अपवित्र एवं घृणित कार्य समझा जाने लगा और उसके बाद तो विवाह-विच्छेद लगभग समाप्त हो गए। ईसा के 1000 वर्ष बाद तो यह धारणा दृढ़ हो गयी कि कन्यादान सिर्फ एक ही बार किया जाता है और पति चाहे कितना ही दुश्चरित्र एवं अत्याचारी क्यों न हो, उसे नहीं छोड़ा जा सकता। विवाह-विच्छेद की समस्या का संबंध

नोट

हिंदुओं की उच्च जातियों से ही है। निम्न जातियों में तो आज भी विवाह-विच्छेद होते हैं। हिंदुओं में पुरुष को तो विवाह-विच्छेद की स्वीकृति दी गयी है, किंतु स्त्रियों को नहीं। इसका कारण समाज में पुरुषों की प्रधानता एवं स्त्रियों की निम्न सामाजिक स्थिति है।

- भारत के संदर्भ में सन् 1954 में 'विशेष विवाह अधिनियम' तथा सन् 1955 में 'हिंदू विवाह अधिनियम' में तलाक की व्यवस्था है। इस अधिनियम में न्यायिक पृथक्करण, तलाक, विवाह की समाप्ति, आदि के प्रावधान किये गये हैं। इसमें 1976 एवं 1981 में कई संशोधन भी किये गये हैं।
- मुसलमानों में अल्पवयस्कों का संरक्षकों की सहमति से विवाह कराया जा सकता है, किंतु मुस्लिम क़ानून के अंतर्गत दोनों पक्षों को यह अधिकार है कि बालिग होने पर वे चाहें तो उस विवाह को अस्वीकार कर सकते हैं। इस अधिकार को ''खैरुल-बालिग'' या 'ख्यार-उल-बुलूग' (Option of Puberty) कहा जाता है। बालिग होने पर नाबालिग अवस्था में किए गए विवाह को अस्वीकार करने के लिए किसी कानूनी कार्यवाही की आवश्यकता नहीं है वरन् पति-पत्नी का आपसी फैसला ही पर्याप्त होता है और विवाह रद्द घोषित कर दिया जाता है। विवाह की अस्वीकृति के लिए कोई समय सीमा तय नहीं है, किंतु लड़की को युक्तिसंगत (reasonable) समय दिया जाता है और उसे यह बता दिया जाता है कि वह चाहे तो उस विवाह को अस्वीकार कर सकती है।
- ईसाई धर्म विवाह-विच्छेद की स्वीकृति नहीं देता। इनके किसी भी गिरजाघर में विवाह-विच्छेद की घोषणा नहीं की जा सकती है। रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय विवाह-विच्छेद के पूर्णत: विरुद्ध है जबकि प्रोटेस्टेंट सम्प्रदाय विशेष परिस्थितियों में इसका समर्थन करता है।

7.7 शब्दकोश (Keywords)

1. **तलाक़**–इस्लाम में विवाह-विच्छेद को तलाक़ कहते हैं।
2. **शरीअत**–इस्लामी क़ानून शरीअत कहलाते हैं। सऊदी अरब में इस्लामी कानून लागू हैं।

7.8 अभ्यास-प्रश्न (Review Question)

1. परिवार के भविष्य पर एक संक्षिप्त नोट लिखिए।
2. भारत में विवाह-विच्छेद की समस्याओं पर प्रकाश डालिए।
3. मुसलमानों में प्रचलित विवाह-विच्छेद (तलाक़) के विभिन्न प्रकारों के समझाइए।
4. भारतीय विवाह-विच्छेद अधिनियम, 1869 पर एक संक्षिप्त नोट लिखिए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer : Self Assessment)

1. (✗) 2. (✓) 3. (✓) 4. (✓)
5. (ग) 6. (ग) 7. (ख)

7.9 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. सोश्योलॉजी–*गिडेंस, एंथनी 2008, विले–इंडिया।*
2. इंडियन सोसाइटी : इंस्टीट्यूशंस एंड चेंज–*शर्मा, राजेंद्र के. 2004.*
3. फंडामेंटल्स ऑफ़ सोश्योलॉजी–*गिसबर्ट, पास्कल 2006, ओरिएंट लॉंगमैन।*

नोट

इकाई–8 : नातेदारी व्यवस्था (Kinship System)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)
प्रस्तावना (Introduction)
8.1 नातेदारी की परिभाषा एवं अर्थ (Definition and Meaning of Kinship)
8.2 नातेदारी के प्रकार (Types of Kinship)
8.3 नातेदारी की श्रेणियाँ (Categories of Kinship)
8.4 नातेदारी की संबंध-संज्ञाएँ (Kinship Terms)
8.5 नातेदारी की रीतियाँ (Kinship Usages)
8.5.1 परिहार (Avoidance)
8.5.2 परिहास संबंध (Joking Relationship)
8.5.3 माध्यमिक संबोधन (Teknonymy)
8.5.4 मातुलेय (Avunculate)
8.5.5 पितृश्वस्त्रेय (Amitate)
8.5.6 सह-प्रसविता या सहकष्टी (Cauvade)
8.6 भारत में नातेदारी व्यवस्था में क्षेत्रीय भिन्नताएँ (Regional Variations in Kinship System in India)
8.7 नातेदारी व्यवस्था के सामाजिक प्रकार्य (Social Functions of Kinship System)
8.8 आधुनिक भारत में नातेदारी की भूमिका (Kinship in Contemporary India)
8.9 सारांश (Summary)
8.10 शब्दकोश (Keywords)
8.11 अभ्यास-प्रश्न (Review Question)
8.12 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात विद्यार्थी योग्य होंगे–

- नातेदारी के स्वरूप को जानने में।
- नातेदारी कें अंतर्गत आने वाले विभिन्न प्रकार के संबंधों को समझने में।
- भारत में नातेदारी के क्षेत्रीय रूप को जानने में।
- नातेदारी की सामाजिक भूमिका को समझने में।

प्रस्तावना (Introduction)

नोट

सामाजिक मानव, समाज में अकेला नहीं होता। जन्म से लेकर मृत्यु तक वह अनेक व्यक्तियों से घिरा होता है, अर्थात् उसका संबंध एकाधिक व्यक्तियों से होता है। परंतु इनमें से सबसे महत्त्वपूर्ण संबंध उन व्यक्तियों के साथ होता है जो विवाह बंधन और रक्त-संबंध के आधार पर संबधित हैं। इनमें भी निकट तथा दूर के, घनिष्ठ तथा अघनिष्ठ, मधुर तथा कठोर हर प्रकार के संबंधियों का समावेश रहता है; परंतु स्मरण रहे कि ये सभी अंत:क्रिया का ही परिणाम होते हैं। इस प्रकार सामाजिक अंत:क्रिया के फलस्वरूप जो विशिष्ट तथा समाज द्वारा मान्यता प्राप्त सुव्यवस्थित श्रृंखला एक सामाजिक प्राणी को अन्य व्यक्तियों के साथ संयुक्त करती है उसे 'नातेदारी व्यवस्था' कहते हैं। **मानवशास्त्रीय शब्दकोश** में 'नातेदारी व्यवस्था' को निम्न शब्दों में परिभाषित किया गया है–''नातेदारी व्यवस्था में समाज द्वारा मान्यता प्राप्त वे संबंध आ सकते हैं जो अनुमानित और रक्त संबंधों पर आधारित हों।'' समाज द्वारा मान्यता प्राप्त इन संबंधों का क्षेत्र अत्यंत विस्तृत होता है, इसलिए संबंध की निकटता घनिष्ठता, आत्मीयता आदि के आधार पर इन नाते-रिश्तेदारों को कई श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है।

8.1 नातेदारी की परिभाषा एवं अर्थ (Definition and Meaning of Kinship)

रेडक्लिफ ब्राउन के अनुसार, ''नातेदारी प्रथा वह व्यवस्था है जो व्यक्तियों को व्यवस्थित सामाजिक जीवन में परस्पर सहयोग करने की प्रेरणा देती है।''

चार्ल्स विनिक ने लिखा है, ''नातेदारी व्यवस्था में समाज द्वारा मान्यता प्राप्त वे संबंध आ जाते हैं जो कि अनुमानित और वास्तविक, वंशावली संबंधों पर आधारित हैं।''

उपरोक्त परिभाषाओं के विश्लेषण से स्पष्ट है कि **नातेदारी में उन व्यक्तियों को सम्मिलित किया जाता है जिनका परस्पर संबंध वंशावली के आधार पर होता है।** ऐसे संबंधों के लिए समाज की स्वीकृति आवश्यक है। गोद लिया बच्चा परिवार वालों का नातेदार बन जाता है।

8.2 नातेदारी के प्रकार (Types of Kinship)

नाते-रिश्तेदारों को मोटे तौर पर दो श्रेणियों में बाँटा जा सकता है–

1. विवाह संबंधी नातेदारी (Affinal Kinship) तथा
2. रक्त संबंधी नातेदारी (Consanguineous Kinship)।

1. **विवाह संबंधी नातेदारी–**के अंर्तगत न केवल विवाह-संबंध द्वारा संबद्ध पति-पत्नी ही आते है बल्कि इन दोनों परिवारों के अन्य संबंधी भी आ जाते हैं। जब एक व्यक्ति विवाह करता है तो उसे स्वभावत: यह पता चलता है कि विवाह नामक संस्था ने न केवल दो स्त्री पुरुष के बीच संबंध स्थापित किया है, बल्कि इन दोनों से संबंधित अन्य व्यक्ति एक-दूसरे से संबद्ध हो गए हैं। उदाहरणार्थ, विवाह के पश्चात् एक पुरुष केवल एक पति ही नहीं बनता, बल्कि बहनोई, दामाद, जीजा, फूफा, ननदोई, मौसा, साढू आदि भी बन जाता है। इसी प्रकार एक स्त्री भी विवाह के पश्चात् पत्नी बनने के अलावा पुत्र-वधू भाभी, देवरानी, जेठानी, चाची, मामी आदि भी बन जाती है। इसमें से प्रत्येक संबंध के आधार दो व्यक्ति हैं, जैसे साला-बहनोई, सास-दामाद, साली-जीजा, देवर-भाभी, पति-पत्नी, सास-वधू आदि। इस प्रकार से विवाह, द्वारा संबद्ध समस्त संबंधियों या नातेदारी को विवाह-संबंधी कहते हैं।
2. **रक्त-संबंधी नातेदारी–**के अंर्तगत वे लोग आते हैं जो समान रक्त के आधार पर एक-दूसरे से संबंधित हों। उदाहरण के लिए माता-पिता और उनके बच्चों के बीच अथवा दो भाइयों के बीच या दो भाई-बहन के बीच का संबंध रक्त के आधार पर ही आधारित है। इस संबंध में यह भी स्मरणीय है कि रक्त-संबंधी नातेदारों में रक्त-संबंध वास्तविक भी हो सकता है और काल्पनिक भी। दूसरे शब्दों में रक्त-संबंध केवल

नोट

प्राणिशास्त्रीय आधार पर ही नहीं, अपितु समाजशास्त्रीय आधार पर भी स्थापित हो सकता है। उदाहरणार्थ, जिन समाजों में बहुपति विवाह-प्रथा का प्रचलन है वहाँ प्राणिशास्त्रीय आधार पर यह निश्चित करना असंभव है कि कौन-सा बच्चा किस पति का है। इसलिए वहाँ प्राणिशास्त्रीय पितृत्व (biological fatherhood) को गौण मानकर समाजशास्त्रीय पितृत्व (sociological fatherhood) को अधिक मान्यता दी जाती है। नीलगिरी की बहुपति-विवाह टोडा जनजाति में सामाजिक पितृत्व का एक विशेष पुरसुतपिमी, द्वारा निश्चित किया जाता है। जो व्यक्ति गर्भवती स्त्री को उसके प्रसव के पाँचवे महीने में धनुष-बाण भेंट करता है, वही उस स्त्री की होने वाली सभी संतानों का पिता तब तक कहलाता रहता है जब तक दूसरा कोई पति उसी प्रकार का संस्कार न करे। ईसाई मत के प्रारंभ होने से पहले जर्मन नियम के अनुसार एक बच्चा उस समय तक उस परिवार का सदस्य नहीं बन सकता, जब तक पिता कुछ सामाजिक संस्कारों के द्वारा उसे अपना पुत्र स्वीकार नहीं करता।

क्या आप जानते हैं आस्ट्रेलिया के आदिवासियों में एक कुल की स्त्रियाँ दूसरे कुल की भावी पत्नियाँ समझी जाती हैं, इसलिए वहाँ के लोग उन समस्त पुरुषों के लिए जो उनकी माताओं के भावी पति हो सकते हैं, 'पिता' शब्द का प्रयोग करते हैं।

इसी प्रकार प्राय: सभी समाजों में बच्चों को गोद लेने की प्रथा है। गोद लिए हुए बच्चों के साथ भी माता-पुत्र या स्त्री आदि का संबंध स्थापित हो जाता है जो वास्तविक रक्त-संबंध नहीं बल्कि अनुमानित रक्त-संबंध पर आधारित होता है।

8.3 नातेदारी की श्रेणियाँ (Categories of Kinship)

जैसा पहले ही कहा जा चुका है, संपर्क और निकटता, घनिष्ठता और आत्मीयता के आधार पर विभिन्न प्रकार के नाते-रिश्तेदारों को कई श्रेणियों में बाँटा जा सकता है। कुछ लोगों के साथ वैवाहिक तथा रक्त-संबंधी आधारों पर नातेदारी प्रत्यक्ष, घनिष्ठ तथा निकट की होती है, जैसे पति-पत्नी, पिता-पुत्र, भाई-बहन आदि। इनको प्राथमिक संबंधी (Primary Kins) कहा जाता है। **डॉ. दुबे** के अनुसार प्राथमिक संबंधियों के अंतर्गत पति-पत्नी, पिता-पुत्र, माता-पुत्री, पिता-पुत्री, माता-पुत्र, छोटे-बड़े भाई, छोटे-बड़ी बहन और भ्राता-बहन—ये आठ प्रकार की संबंध-श्रंखला में गुंथे हुए लोग आते हैं।

इसके विपरीत, द्वितीयक संबंधी (Secondary Kins) वे संबंधीगण होते हैं जो उपरोक्त प्राथमिक संबधियों के प्राथमिक संबंधी हैं। अर्थात् प्राथमिक संबंधियों द्वारा संबंधित हैं। इस द्वितीयक श्रेणी के संबंधियों से हमारा प्रत्यक्ष संबंध नहीं होता, परन्तु हमारे प्रत्यक्ष या प्राथमिक श्रेणी के संबंधियों से उनका प्रत्यक्ष संबंध होता है। उदाहरण के लिए बहन के साथ मेरा प्रत्यक्ष संबंध है अर्थात् बहन प्राथमिक संबंधी के अंतर्गत है। इस बहन का अपने पति के साथ भी प्रत्यक्ष या प्राथमिक संबंध है, पर बहन के उस पति के साथ मेरा प्रत्यक्ष संबंध नहीं; उसके साथ मेरा बहनोई का संबंध बहन के द्वारा है। इस प्रकार का पति मेरे प्राथमिक संबंधी का प्राथमिक संबंधी है। इसी प्रकार पत्नी का भाई भी द्वितीयक संबंधी है।

इसी प्रकार तृतीयक संबंधी (Teritiary Kins) भी हो सकते हैं। तृतीयक संबंधी वे संबंधीगण हैं जो हमारे द्वितीयक संबंधी के प्राथमिक संबंधी हैं। उदाहरण के लिए एक व्यक्ति की सलहज तृतीयक संबंधी हुई क्योंकि इस व्यक्ति की पत्नी का भाई (या साला) उस व्यक्ति का द्वितीयक संबंधी हुआ और इस द्वितीयक संबंधी (साले) की पत्नी उसकी (साले की) प्राथमिक संबंधी हुई। इस प्रकार एक व्यक्ति के (साले) की पत्नी उसकी (साले की) प्राथमिक संबंधी हुई। इस प्रकार एक व्यक्ति के साले की पत्नी को उस व्यक्ति के द्वितीयक संबंधी के प्राथमिक संबंधी होने के नाते तृतीयक संबंधी कहा जाएगा।

नोट

इस प्रकार चतुर्थिक, पंचमिक आदि संबंध सूत्रों की विस्तृत विवेचना, संभव है। **मुरडॉक** ने इस विषय में गहन अध्ययन करके यह निष्कर्ष निकाला है कि एक व्यक्ति के लगभग 33 द्वितीयक और 151 तृतीयक संबंध प्रकार हो सकते हैं।

8.4 नातेदारी की संबंध-संज्ञाएँ (Kinship Terms)

एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति या व्यक्तियों के संबंध को स्पष्ट रूप से व्यक्त करने के लिए अलग-अलग तरह के संबंधों के लिए भिन्न-भिन्न शब्दों का प्रयोग किया जाता है। फिर भी प्रत्येक समाज में प्रत्येक प्रकार के संबंध के लिए अलग-अलग शब्दों का ही व्यवहार किया जाता है, यह कहना भी गलत होगा। इस संबंध में **श्री मॉर्गन** सर्वप्रथम संबंध-संज्ञाओं का विस्तृत अध्ययन करके इस निष्कर्ष पर आए कि संबंध-संज्ञाओं को हम मोटे तौर पर दो भागों में बाँट सकते हैं–

1. वर्गीकृत संबंध-संज्ञाएँ (Classificatory Kinship Terms) और
2. विशिष्ट या वर्णनात्मक संबंध-संज्ञाएँ (Particularizing or Descriptive Kinship Terms)।

1. **वर्गीकृत संज्ञा-व्यवस्था** के अनुसार अनेक नाते-रिश्तेदारों को एक ही वर्ग या श्रेणी के अंतर्गत मान लिया जाता है। उदाहरणार्थ, कराडजेरी (Karadjeri) समाज में एक व्यक्ति 'ताबलू' (Tabulu) शब्द का प्रयोग न केवल अपने पिता के लिए करता है बल्कि पिता के भाई (चाचा और ताऊ) के लिए भी करता है। इसी प्रकार सेमा (नागा जाति में बोली जाने वाली बोली) में 'अजा' शब्द का प्रयोग माँ, चाची, ताई तथा मौसी सभी के लिए किया जाता है। कूकी लोगों में 'हेपु' संज्ञा का प्रयोग पिता के पिता, माता के पिता, माता के भाई, पत्नी के पिता, मामा के पुत्र, पत्नी के भाई, साले के लड़के आदि के लिए किया जाता है। आदिम समाजों में ही नहीं बल्कि आधुनिक समाजों में भी वर्गीकृत संज्ञा-व्यवस्था पाई जाती है। उदाहरणार्थ, अंग्रेजी में अंकल शब्द का प्रयोग चाचा, मामा, ताऊ, फूफा, मौसा आदि संबंधियों के लिए होता है। इसी प्रकार कजिन शब्द से चचेरे, ममेरे, फुफेरे और मौसेरे भाई बहनों का बोध होता है।
2. इसके विपरीत, विशिष्ट या वर्णनात्मक संबंध संज्ञाओं से एक शब्द या संज्ञा द्वारा एक ही संबंधी को सूचित किया जाता है। जैसे यदि हम 'माँ' शब्द का प्रयोग करते हैं। इससे केवल एक विशिष्ट संबंधी का ही बोध होता है इसी प्रकार, चाचा, मामा आदि विशिष्ट संबंध संज्ञाएँ हैं।

8.5 नातेदारी की रीतियाँ (Kinship Usages)

नातेदारी-व्यवस्था के अंतर्गत अनेक प्रकार के व्यवहार-प्रतिमानों (behaviour patterns) का भी समावेश होता है। हमारा किसी एक व्यक्ति से एक विशेष संबंध है, बात यहीं पर समाप्त नहीं हो जाती। इस रिश्ते या संबंध से संबंधित एक विशिष्ट प्रकार का व्यवहार भी हुआ करता है। उदाहरणार्थ, 'अ' और 'ब' परस्पर पति-पत्नी हैं। इस संबंध के आधार पर उनके व्यवहारों का एक विशिष्ट रूप या प्रतिमान होगा। यह नहीं हो सकता कि इन दोनों के व्यवहारों का प्रतिमान बिलकुल उसी तरह का हो जैसा कि माता-पुत्र के व्यवहार का होता है। कुछ रिश्तों का आधार श्रद्धा और सम्मान का होता है, तो कुछ का प्रेम और कुछ का प्रीति का। माता-पिता के साथ जो संबध होता है, उसका आधार श्रद्धा और सम्मान है, पत्नी के साथ संबंध का आधार प्रेम है, जबकि छोटे भाई-बहनों के साथ संबंध का आधार प्रीति है। साले-बहनोई या जीजा-साली का संबंध केवल संबंध ही नहीं, 'मधुर संबंध' है। अत: स्पष्ट है कि नातेदारी-व्यवस्था में दो संबंधियों के बीच का संबंध या व्यवहार किस प्रकार का होगा, इसके विषय में कुछ नियम या रीतियाँ होती हैं; इसी को नातेदारी की रीतियाँ कहते हैं। इन रीतियों में जो बहुत ही प्रमुख या विलक्षण हैं उनका उल्लेख हम यहाँ करेंगे।

नोट

8.5.1 परिहार (Avoidance)

नातेदारी-व्यवस्था में परिहार का नियम या रीति बहुत ही लोकप्रिय है। 'परिहार' का अर्थ यह है कि कुछ ऐसे रिश्ते हैं जो दो व्यक्तियों के बीच एक निश्चित संबंध तो स्थापित करते हैं, पर साथ ही इस बात का निर्देश देते हैं कि वे एक-दूसरे से दूर रहें और पारस्परिक अंतर्क्रिया में यथासंभव प्रत्यक्ष या आमने-सामने रहते हुए सक्रिय भाग न लें। इस प्रकार के संबंध में पुत्र-वधू तथा सास-ससुर का संबंध बहुत ही सामान्य है। इसी प्रकार दामाद तथा सास का पारस्परिक संबंध भी कुछ समाजों में परिहार के अंतर्गत ही आता है।

नोट्स नातेदारी व्यवस्था में 'परिहार' का अर्थ कुछ ऐसे-रिश्तों की ओर इंगित करना जो संबंधी तो कहलाते हैं किंतु उनमें परस्पर एक-दूसरे के करीब रहना निषेध होता है।

इस विषय पर **टायलर** का मत यह है कि उपरोक्त निषेध मातृ-सत्तात्मक परिवार-प्रथा के कारण हैं। इस प्रकार की परिवार-प्रथा में वर को पत्नी के घर जाकर रहना पड़ता था जहाँ वह (वर) बिलकुल ही अजनबी होता था। इस प्रकार उस परिवार की अन्य स्त्रियाँ विशेषकर सास जो परिवार की मालकिन होती थी, उस अजनबी वर से दूर रहती थीं। इसी से धीरे-धीरे आगे चलकर सास संबंधित निषेध पनपे हैं। इसी प्रकार पितृस्थानीय परिवारों में ससुर से संबंधित निषेधों का जन्म हुआ है। परन्तु आज इस मत से बहुत से विद्वान सहमत नहीं हैं। होपी तथा जूनी जनजातियाँ जो मातृस्थानीय हैं इस प्रकार के नियमों को नहीं मानतीं। आस्ट्रेलिया की वे जनजातियाँ, जो पितृस्थानीय हैं, दामाद का परिहार करती हैं, न कि वधू का।

इस विषय पर **फ्रेज़र** का मत यह है कि इन निषेधों का उद्देश्य यौन-संबंधों को नियंत्रित करना अर्थात् निकटाभिगमन (incest) को रोकना है। श्री फ्रेज़र का कथन है कि कुछ जनजातियाँ तो इस विषय में इतनी अधिक तटस्थ हैं कि भाई-बहन तक को एक-दूसरे से अलग रखती हैं। उदाहरणार्थ, लंका की वेड्डा जनजाति में भाई-बहन एक ही कमरे में नहीं रह सकते और न ही एक-साथ बैठकर खाना खा सकते हैं। श्री फ्रेज़र के सिद्धांत के आधार पर सास-दामाद के परिहार को यदि मान भी लिया जाए तो भी इससे इस बात का स्पष्टीकरण नहीं होता कि ससुर-दामाद के रिश्ते में इस प्रकार के निषेध क्यों हैं?

फ्रायड ने मनोवैज्ञानिक आधारों पर परिहार को समझाने का प्रयत्न किया है। आपके अनुसार इस प्रकार के निषेधों का एकमात्र उद्देश्य दामाद और सास या वधू और ससुर में पारस्परिक यौन-संबंधी आकर्षण को रोकना है। लोई का मत है कि वर और उसके ससुराल या दामाद और उसके ससुराल दोनों की सामाजिक और पारिवारिक पृष्ठभूमि में भिन्नता होने के कारण ही इस प्रकार का परिहार पनपा है।

रैडक्लिफ-ब्राउन के मतानुसार नातेदारी में कुछ ऐसे संबंधी होते हैं जिनके अत्यधिक घनिष्ठ होने पर परिवार के अन्य सदस्यों में द्वेष या ईर्ष्या की भावना पनप सकती है जो स्वस्थ पारिवारिक जीवन के लिए हानिकारक सिद्ध होगी। इसलिए इन संबंधीगण को दूर-दूर ही रखा जाता है। सास, ससुर, दामाद, वधू इसी प्रकार के संबंधीगण हैं। इसलिए श्री **टर्नी हाई** का कथन है कि सास को दामाद से और वधू को ससुर से दूर रखना पारिवारिक शांति को बनाए रखने के लिए आवश्यक समझा गया।

टास्क यदि समाज में पितृसत्तात्मक परिवारों के स्थान पर मातृसत्तात्मक परिवारों का प्रचलन हो जाए तो आप इस परिवर्तन को किस रूप में स्वीकार करेंगे?

नोट

8.5.2 परिहास-संबंध (Joking Relationship)

नातेदारी की रीतियों में परिहास-संबंध परिहार का बिलकुल विपरीत रूप है। जहाँ परिहार दो संबंधियों को एक-दूसरे से दूर ले जाता है, वहाँ परिहास-संबंध दो व्यक्तियों को अति निकट लाता है। निश्चित अर्थ में यह दो व्यक्तियों को 'मधुर-संपर्क' या संबंध-सूत्र में बाँधता है और दोनों को एक-दूसरे के साथ हँसी-मज़ाक करने का अधिकार देता है। **रैडक्लिफ-ब्राउन** के अनुसार, ''परिहास संबंध दो व्यक्तियों का वह संबंध है जिसमें प्रथा द्वारा एक पक्ष को यह छूट रहती है और कभी-कभी उससे यह माँग की जाती है कि वह दूसरे पक्ष को तंग करे, छेड़े या उससे हँसी मज़ाक करे, पर दूसरा पक्ष इसका कुछ भी बुरा न माने।

जबकि परिहार में यौन-संबंधी विषयों से बचने का भरसक प्रयत्न किया जाता है, पर परिहास-संबंध में यौन-संबंधी हँसी-मज़ाक की उतनी ही छूट रहती है। देवर-भाभी, जीजा-साली, साले-बहनोई, आदि का संबंध केवल आदिम समाजों में ही नहीं हमारे अपने समाज में भी परिहास संबंध के उत्तम उदाहरण हैं। ये एक-दूसरे को छेड़ते हैं, एक-दूसरे की सामान्य त्रुटि पर खिल्ली उड़ाते हैं, सबके सामने एक-दूसरे को नीचा दिखाने का प्रयत्न करते हैं और यौन-संबंधी हँसी-मज़ाक में सम्मिलित होते हैं। इन संबंधियों में हँसी-मज़ाक की मात्रा तथा क्षेत्र त्यौहारों के दिनों में बहुत बढ़ जाता है। होली का त्योहार इस विषय में उल्लेखनीय है।

कुछ समाजों में परिहास-संबंध का क्षेत्र गाली देने, यौन-संबंधी भद्दे मज़ाक करने और खिल्ली उड़ाने तक ही सीमित न रहकर, एक-दूसरे की वस्तुओं की दुर्गति या संपत्ति की बर्बादी करने तक विस्तृत होता है। मैलेनेशिया में भतीजे को यह अधिकार होता हैं कि वह अपने चाचा की संपत्ति को चाहे रखे या बर्बाद करे और इनके बीच के परिहास-संबंध के कारण ही चाचा से यह आशा की जाती है कि वह भतीजे के किसी भी व्यवहार का बुरा न माने।

रिवर्स का विश्वास है कि परिहास-संबंध की उत्पत्ति फुफेरों ममेरों में विवाह-संबंध जो प्रारंभिक युग में सामान्य था, के कारण हुई थी। **वेस्टरमार्क** इस सिद्धांत से सहमत नहीं हैं। आपके मतानुसार किसी भी संस्था से किसी अन्य एक संस्था की उत्पत्ति की कल्पना बहुत सरल है परंतु उसे प्रमाणित करना कठिन है। परिहास-संबंध मात्र पारस्परिक समानता की ओर निर्देश करता है और उन दो संबंधित व्यक्तियों को एक-दूसरे से घनिष्ठ करता है जिनमें पहले विवाह-संबंध स्थापित होने की संभावना रहती है। देवर-भावी और जीजा-साली के बीच पाए जाने वाले परिहास-संबंध की उत्पत्ति इसी संभावना के आधार पर हुई होगी।

रैडक्लिफ-ब्राउन के अनुसार परिहास-संबंधों का एक प्रतीकात्मक अर्थ (Symbolic meaning) होता है और वह यह कि इस संबंध से संबंधित व्यक्ति हँसी-मज़ाक और यहाँ तक कि मारपीट के माध्यम से एक-दूसरे के प्रति मित्रता का प्रदर्शन करते हैं और पारिवारिक जीवन को सजीव बनाए रखने में इनके महत्त्व को अस्वीकार नहीं करना चाहिए, यदि इस प्रकार के संबंधों का दुरुपयोग न किया जाए।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

दिए गए कथन में से सही (✓) और गलत (✗) छाँटिए–

1. कुछ समाजों में परिहास संबंध दादा-पोती के बीच भी होते हैं। ☐
2. जीजा-साली संबंध परिहार संबंधों के अंतर्गत आते हैं। ☐
3. जनजातियों में परिहास संबंध पाए जाते हैं। ☐

8.5.3 माध्यमिक संबोधन (Teknonymy)

नातेदारी व्यवस्था की एक और रीति माध्यमिक संबोधन है। इस रीति को माध्यमिक संबोधन इसलिए कहा जाता है क्योंकि इस रीति के अनुसार एक संबंधी को संबोंधन करने के लिए किसी दूसरे को माध्यम बनाया जाता है क्योंकि उस संबंधी को उसके नाम से पुकारना वर्जित होता है। उदाहरणार्थ, भारत के प्राय: सभी ग्रामीण समुदायों में पति का नाम लेना पत्नी के लिए वर्जित होता है। इस कारण पत्नी पति को संबोधित करने के लिए अपने

नोट

किसी लड़के या लड़की को माध्यम बना लेती है और उसी के संबंध से पति को पुकारती है। जैसे, यदि लड़के का नाम राजू है तो वह स्त्री अपने पति को 'राजू के पिता' कहकर संबोधित करती है।

'माध्यमिक संबोधन का अंग्रेजी शब्द टेक्नॉनिमी (teknonymy) ग्रीक भाषा से बना है। इसे मानवशास्त्रीय साहित्य में सर्वप्रथम प्रयोग करने का श्रेय श्री टायलर को है, सांख्यिकीय पद्धति (statistical method) के आधार पर **श्री टायलर** का निष्कर्ष यह है कि माध्यमिक संबोधन की रीति मातृसत्तात्मक परिवार से संबंधित है। इस प्रकार के परिवारों में स्त्रियों की प्रधानता होती थी और पति को एक बाहर का व्यक्ति समझा जाता था जिसके कारण परिवार में उसकी कोई विशेष स्थिति नहीं होती थी। इसीलिए उसे प्राथमिक संबंधियों (primary kins) में सम्मिलित न करके केवल द्वितीयक संबंधी (secondary kins) के रूप में स्वीकार किया जाता था और इस उद्देश्य से उस पति को उन बच्चों के जिनको पैदा करने में उसने सहायता की है, माध्यम से संबोधित किया या पुकारा जाता था। इसी रीति का जब विस्तार हुआ तो माता को भी माध्यमिक संबोधन से पुकारा जाने लगा।

टायलर का कथन था कि उनके अध्ययन में प्राय: 30 जनजातियाँ ऐसी थीं जिनमें माध्यमिक संबोंधन की रीति प्रचलित थी; जिसमें दक्षिणी अफ्रीका की बेचुआना, पश्चिमी कनाडा की क्रो तथा भारत (असम) की खासी जनजातियों का नाम विशेष उल्लेखनीय है। परंतु आधुनिक अनुसंधानों से पता चलता है कि माध्यमिक संबोधन की रीति का विस्तार इससे कहीं अधिक है। **फ्रेज़र** ने इस रीति का प्रचलन आस्ट्रेलिया, न्यूगिनी, मलाया, चीन, उत्तरी साइबेरिया, अफ्रीका की विभिन्न बाँटू (Bantu) जनजातियों, उत्तरी ब्रिटिश कोलम्बिया आदि में पाया है वास्तव में इस रीति का प्रचलन विभिन्न समाजों में भिन्न-भिन्न कारणों से हुआ। कुछ समाजों में इसके प्रचलन का कारण स्त्रियों की गिरी हुई स्थिति है (जैसे गोंड जनजाति में); कुछ समाजों में पुरुषों की स्थिति नीची होने के कारण और कुछ समाजों में प्रत्येक प्रकार के संबंधी के लिए पृथक्-पृथक् शब्दों या संज्ञाओं की कमी के कारण (जैसे होपी जनजाति में) इस रीति का प्रचलन हुआ।

8.5.4 मातुलेय (Avunculate)

'एवंकुलेट' या 'मातुलेय' शब्द उस प्रथा की ओर निर्देश करता है जो मामा-भानजे या भानजी के पारस्परिक संबंधों को एक विशिष्ट ढँग से नियमित करती है। इसका प्रचलन उन मातृसत्तात्मक परिवारों में होता है जहाँ माता के भाई (मामा या मातुल) का पारिवारिक मामले में अत्यधिक महत्त्व और नियंत्रण होता है। यदि पारिवारिक मामले में मामा का अधिकार और नियंत्रण प्रमुख है, यदि लोगों से यह माँग की जाती है कि वे अपने पिता से भी अधिक सम्मान मामा का करें, यदि मामा का भी अपने भानजे-भानजियों के प्रति उनके पिता से कहीं अधिक उत्तरदायित्व तथा कर्त्तव्य है, यदि मामा अपनी संपत्ति का उत्तराधिकारी भानजे को ही बनाए और यदि भानजा भी पिता की अपेक्षा मामा की सेवा अधिक करे अर्थात् अन्य सभी पुरुष-सदस्यों में मामा का स्थान या स्थिति सर्वोपरि हो तो इस व्यवस्था या प्रथा को मातुलेय कहते हैं।

मातुलेय प्रथा प्रत्येक समाज में शांतिपूर्वक ढँग से स्वीकार नहीं की जाती है। उदाहरणार्थ, ट्रोब्रियंड प्रायद्वीप के निवासियों में पिता के स्नेह तथा मातुलेय कर्त्तव्य के बीच प्राय: संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। हो सकता है कि पिता को अपने लड़के से इतना प्यार हो जाए कि वह अपनी संपत्ति को भानजे को देने की बजाए अपने ही लड़के को देना अधिक पसंद करे। उस अवस्था में भानजे तथा मामा के बीच एक तनाव की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

यह सच है कि मातुलेय प्रथा मातृसत्तात्मक समाजों की एक विशेषता है, परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि पितृसत्तात्मक समाज में इसका बिलकुल प्रचलन नहीं है। दक्षिणी अफ्रीका की थोंगा जनजाति पितृवंशीय है। यहाँ पत्नी को विवाह के पश्चात् अपने पति के गाँव या घर में जाकर रहना पड़ता है और बच्चों पर भी पिता के परिवार का अधिकार होता है। फिर भी मामा का घर बच्चों के लिए 'द्वितीयक शरण-स्थान' (secondary haven) होता है। कोमांचे जनजाति में भी जो, पितृसत्तात्मक है, मातुलेय प्रथा का प्रचलन है।

नोट

8.5.5 पितृश्वस्त्रेय (Amitate)

'मातुलेय' प्रथा के अतंर्गत जिस प्रकार माता के भाई का विशेष अधिकार तथा स्थिति होती है, उसी प्रकार पितृश्वस्त्रेय प्रथा में पिता की बहन, बुआ या पितृश्वसा का अधिक महत्त्व होता है। **रिवर्स** ने इस प्रकार की अनेक जनजातियों का उल्लेख किया है जिनमें कि इस प्रकार की प्रथा पाई जाती है। बैक्स प्रायद्वीप में एक व्यक्ति अपनी बुआ का अपनी माता से कहीं अधिक सम्मान करता है और उस व्यक्ति के विवाह-साथी का चुनाव बुआ द्वारा ही होता है। बुआ की संपत्ति पर एक व्यक्ति को पूर्ण अधिकार होता है। वह व्यक्ति इस संपत्ति को मनमाने ढँग से खर्च कर सकता है। दक्षिणी अफ्रीका की कुछ जनजातियों में भी यह प्रथा पाई जाती है। वे लोग भी अपनी बुआ का काफी आदर करते हैं। टोडा जनजाति में बच्चे का नामकरण करने का अधिकार बुआ को ही प्राप्त होता है। कुछ जनजातियों में तो दाह-संस्कार का भी अधिकार बुआ को ही प्राप्त होता है। **सर्वश्री चैपल तथा कून** का मत है कि पितृश्वस्त्रेय प्रथा के प्रचलन का कारण उन संबंधियों में पारस्परिक सामाजिक अंत:क्रिया को बनाए रखना है, जिनमें विवाह के पश्चात् उस अंत:क्रिया के समाप्त होने की संभावना रहती है।

8.5.6 सह-प्रसविता या सहकष्टी (Cauvade)

नातेदारी-व्यवस्था के अंतर्गत एक अति निराली प्रथा 'सह-प्रसविता' है। जैसा इसके नाम से ही स्पष्ट है, इस प्रथा का संबंध प्रसव-काल से है। इस प्रथा के अनुसार पति के लिए भी यह आवश्यक हो जाता है कि जब कभी भी उसकी पत्नी को बच्चा होने वाला हो तो वह भी उन सब कष्टों को अनुभव करे तथा वैसा ही व्यवहार करे और दिन गुजारे जैसा प्रसवा कर रही है। ऐसी स्थिति में पति को भी उसी प्रकार का भोजन करना पड़ता है जैसा प्रसवा करती है, उसे भी उसी कमरे में बंद रखा जाता है जिसमें प्रसवा बच्चा प्रसव होने के बाद कुछ दिनों के लिए रहती है। फलत: जिस प्रकार प्रसवा को छूत माना जाता है उसी प्रकार उसके पति को भी कोई नहीं छूता है। कुछ जनजातियों में तो यहाँ तक नियम है कि बच्चा प्रसव होने के समय जो दर्द प्रसवा को होता है और जिसके कारण वह रोती चिल्लाती है उसी प्रकार पति को भी उन कष्टों को अनुभव करना तथा चिल्लाना-चीखना पड़ता है। इतना ही नहीं, प्रसवा जिन-जिन नियमों का पालन करती है, पति को भी उन्हीं नियमों का पालन करना पड़ता है। इसीलिए खासी जनजाति में पति, अपनी पत्नी की भाँति, बच्चा पैदा न होने तक कोई नदी पार नहीं करता या कपड़े नहीं धोता है।

श्री मैलिनोवस्की का कथन है, ''इस प्रथा के पालन द्वारा पति अपनी पत्नी तथा बच्चों के प्रति प्रेम की भावना को व्यक्त करता है जिसके फलस्वरूप उनका पारस्परिक संबंध और दृढ़ होता है।'' **डॉ. दुबे** ने लिखा है, ''इस प्रथा के मूल में सामाजिक कारण यह दीख पड़ता है कि जो व्यक्ति इतने कष्ट सहता है वह सामाजिक रूप से ज्ञात हो जाता है। इसलिए वह पुरुष उस संतति का पिता बनने का अधिकारी हो जाता है। यह सदैव आवश्यक नहीं है कि यह पिता जैविकीय पिता भी रहा हो। टोडा समाज में इस प्रथा को धनुष-बाण की भेंट देकर पूरा किया जाता है।'' जिस प्रकार टोडा जनजाति धनुष-बाण भेंट करके पितृत्व का अधिकार प्राप्त करती है, उसी प्रकार दूसरे समाजों में सह-प्रसविता पितृत्व को प्रदर्शित करने की एक सामाजिक प्रथा है।

8.6 भारत में नातेदारी व्यवस्था में क्षेत्रीय भिन्नताएँ (Regional Variations in Kinship System in India)

इरावती कर्वे की पुस्तक 'भारत में बंधुत्व संगठन' (Kinship Organization in India) में अखिल भारतीय स्तर पर नातेदारी व्यवस्था में अध्ययन किया है। यह प्रमुख क्षेत्र इस प्रकार हैं–उत्तरी, मध्य, दक्षिणी और पूर्वी क्षेत्र। कर्वे ने अपने अध्ययन में यह पाया कि इन क्षेत्रों में नातेदारी व्यवस्था भिन्न-भिन्न रूप रखती है। इसका स्पष्टीकरण उन्होंने भौगोलिक क्षेत्र, भाषा-प्रदेश तथा नातेदारी के प्रतिमानों परस्पर संबंध के आधार पर किया है। कहीं पितृवंशीय परंपरा है तो कहीं मातृवंशीय। इसी प्रकार नातेदारी शब्दावली में भी अंतर पाए जाते हैं विवाह के नियमों की दृष्टि से भी विभिन्न क्षेत्रों में भिन्नताएँ हैं।

नोट

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें–

4. ..... प्रथा मातृसत्तात्मक परिवार की विशेषता है।
5. पितृश्वंस्त्रेय प्रथा में माता से भी अधिक महत्त्व ..... का होता है।
6. 'सह प्रस्विता' के अंतर्गत पत्नी की प्रसक पीड़ा को ..... भी सहन करने का अभिनय करता हैं।

इसी विवेचना को आधार बनाते हुए नातेदारी संबंधी प्रमुख भिन्नताओं को निम्न रूप में बताया जा सकता है–

1. **नातेदारी समूह संबंधी भिन्नताएँ**–उत्तरी क्षेत्र में अधिकांशत: पितृसत्तात्मक परिवार पाए जाते हैं। ये परिवार पितृवंशीय एवं पितृस्थानीय भी हैं। एक वंशी बहिर्विवाही समूहों की संख्या लगभग नगण्य है, जबकि दक्षिणी क्षेत्र में पितृसत्तात्मक, पितृवंशीय, पितृस्थानीय परिवारों की प्रधानता तो है परंतु सार्वभौमिकता नहीं है। इस क्षेत्र के ऐसे भी हिस्से हैं जिसमें ऐसे समुदाय निवास करते हैं जो मातृवंशीय एवं पत्नीस्थानिक (मातृस्थानीय) हैं। इसी प्रकार दक्षिणी क्षेत्र में एक वंशीय बहिर्विवाही गोत्रों की ही सार्वभौमिकता है। पितृवंशीय समुदायों में पितृवंशीय गोत्रों तथा मातृवंशीय समुदायों में मातृवंशीय गोत्रों की परंपरा है।
2. **विवाह-नियमों संबंधी भिन्नताएँ**–विवाह के नियमों को लेकर भी उत्तर और दक्षिण क्षेत्र में स्पष्ट भिन्नताएँ पाई जाती हैं। उत्तरी क्षेत्र में सपिण्ड विवाह का निषेध है। इसी प्रकार, विलिङ्ग सहोदरज (अर्थात् ममेरे या फुफेरे भाई-बहन) के बीच विवाह की स्वीकृति नहीं है। इस क्षेत्र में कन्या विनिमय द्वारा विवाह भी नहीं किए जाते। गाँव से बाहर विवाह का ही आमतौर से प्रचलन है। इस बात को भी अधिमान्यता दी जाती है कि प्राय: विवाह परिचित परिवारों के बीच ही किया जाए अर्थात् ऐसे परिवारों के बीच विवाहों की पुनरावृत्ति होती रहती है।

   दक्षिणी क्षेत्र में सपिण्ड विवाह निषेध लागू नहीं है। वहाँ चाचा-भतीजी विवाह अधिमान्यता की श्रेणी में है। इसी भाँति, मुमेरे-फुफेरे भाई बहनों के बीच विवाह को भी अच्छा माना जाता है। दो परिवार परस्पर कन्या विनिमय द्वारा भी विवाह कर सकते हैं। दक्षिण में अपरिचित परिवारों में विवाह का चलन अधिक है एक गाँव के भीतर ही विवाह पर कोई आपत्ति नहीं है।
3. **उत्तराधिकार नियमों में भिन्नताएँ**–उत्तरी क्षेत्र में उत्तराधिकार का नियम एक-रैखिक है। पितृवंशीय होने के कारण पिता से ज्येष्ठ पुत्र को, पुत्र से उसके ज्येष्ठ पुत्र को और इसी तरह आगे भी उत्तराधिकार मिलता है। दूसरी ओर, दक्षिणी क्षेत्र में पितृवंशीय समुदाय एवं मातृवंशीय समुदाय दोनों हैं। इसलिए उत्तराधिकार के नियम भी इन दोनों नातेदारी व्यवस्थाओं में अलग-अलग हैं। पितृवंशीय नातेदारी समूहों में उत्तराधिकार पीढ़ीक्रम के अनुसार प्राप्त होता है परंतु मातृवंशीय समूहों में (जैसे केरल के नायरों में) उत्तराधिकार कालक्रम के अनुसार है अर्थात् वहाँ उपयुक्त उत्तराधिकारियों में जो आयु में बड़ा है उसको उत्तराधिकार मिलेगा जैसे पुरुष से उसके छोटे भाई को या बहन के पुत्र को, जो भी आयु में बड़ा हो उसे उत्तराधिकार मिलेगा। इस भाँति, मातृवंशीय परिवारों में भी उत्तराधिकार प्राय: पुरुष को ही मिलता है। अंतर बस इतना है कि वह एक पुरुष से उसके पुत्र को मिलने की बजाए या तो उसके छोटे भाई को मिलेगा या उसकी बहन के पुत्र को मिलेगा, जो भी आयु में दोनों से बड़ा होगा।
4. **नातेदारी व्यवहार संबंधी भिन्नताएँ**–उत्तरी क्षेत्र में पुत्री पुत्र-वधू के लिए व्यवहार करने के मानदंड अलग-अलग हैं। इसी प्रकार, पुत्री की ससुराल में खाने पर या उनके यहाँ से कोई उपहार लेने पर प्रतिबंध है। साधारणतया माता-पिता पुत्री के पति गृह पर नहीं जाते। दक्षिणी क्षेत्र में पुत्री तथा पुत्र-वधू के लिए एक ही आचार संहिता है। वहाँ पुत्री के ससुराल में माता-पिता के जाने, खाने या कुछ लेने पर कोई प्रतिबंध नहीं है।

नोट

5. **नातेदारी शब्दाबली संबंधी भिन्नताएँ**–उत्तरी क्षेत्र में रक्त संबंधियों एवं विवाह संबंधियों के लिए अलग-अलग संबोधन शब्द हैं। इसी प्रकार, पीढ़ीक्रम आधार पर भी नातेदारी की शब्दावली अलग-अलग है। एक पीढ़ी के लिए प्रयोग किया जाने वाला संबोधन दूसरी पीढ़ी के नातेदारों के लिए प्रयोग नहीं किया जा सकता। दक्षिणी क्षेत्र में रक्त संबंधियों और विवाह संबंधियों के लिए एक ही शब्द का प्रयोग होता है। इसी प्रकार वहाँ आयु-क्रम पर आधारित शब्दावली पाई जाती है। उदाहरण के लिए–जिस व्यक्ति की नातेदारी शब्दावली हम जानना चाहें तो उसे केंद्र में रखकर हमें उसके नातेदारों को दो भागों में बाँटना होगा–एक वे जो आयु में उससे बड़े हैं और दूसरे वे जो आयु में उससे छोटे हैं। आयु में बड़े नातेदारों को व्यक्त करने वाला एक शब्द होगा तो आयु में छोटों के लिए दूसरा, बिना इस बात की परवाह किए कि वे पीढ़ी में बड़े हैं या छोटे।

इस भाँति, हम देखते हैं कि नातेदारी व्यवस्था का कोई एक अखिल प्रतिमान नहीं है, वह विभिन्न क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न स्वरूप रखती है।

8.7 नातेदारी व्यवस्था के सामाजिक प्रकार्य (Social Functions of Kinship System)

भारतीय समाज में नातेदारी व्यवस्था की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। इसके सामाजिक-व्यवस्था में योगदान का विवरण इस प्रकार है–

1. **सामाजिक व्यवहार के नियमों का निर्धारण**–नातेदारी व्यवस्था व्यक्ति के उन समूहों को बताती है जिनके बीच वह अपने जीवन का महत्त्वपूर्ण हिस्सा व्यतीत करता है। उनके बीच व्यवहार के मानदंड नातेदारी व्यवस्था द्वारा निर्धारित कर दिए जाते हैं। सामाजिक जीवन में तीन ऐसे विशिष्ट अवसर हैं जिन पर ऐसे व्यवहार प्रतिमान विशेष रूप से क्रियाशील होते हैं–(*i*) जीवन चक्र संबंधी संस्कार जैसे–जन्म विद्यारंभ, विवाह व्यापार, आरंभ मृत्यु आदि, (*ii*) दाय या उत्तराधिकार का निर्धारण करते समय तथा (*iii*) खेती या व्यापार में विशेष अवसरों पर।
2. **सामाजिक व्यवहार का नियमन**–व्यक्ति के आचरण पर नियंत्रण रखने में नातेदारी समूह की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। एक विशिष्ट अवसर पर विशिष्ट नातेदार की भूमिका को अन्य नातेदार बड़े ध्यान से देखते हैं और उसकी प्रशंसा व आलोचना करते हैं। इसलिए व्यक्ति से जिस व्यवहार की अपेक्षा की जाती है, व्यक्ति उसी प्रकार का व्यवहार करने के लिए स्वयं को बाध्य महसूस करता है। साधारणत: हर व्यक्ति इस बात की चिंता करता है कि उसके किसी आचरण पर दुनिया क्या कहेगी और दुनिया से उसका आशय अधिकांशत: अपने नातेदारी समूह से ही होता है। इस भाँति, नातेदारी व्यवस्था सामाजिक व्यवहारों को समाज के आदर्शों के अनुरूप बनाए रखने में योगदान देती है।
3. **सामाजिक सांस्कृतिक निरंतरता बनाए रखना**–नातेदारी व्यवस्था से जुड़े व्यक्ति एक-दूसरे के नजदीक अनुभव करते हैं इसलिए वे इस बात का ध्यान रखते हैं कि समाज के व्यवहार, आदर्श और सांस्कृतिक मूल्य एक पीढ़ी से दूसरी में हस्तांतरित होते रहें। संभवत: इसी उद्देश्य को लेकर समाज ने नातेदारी को व्यक्ति के जीवन की दो महत्त्वपूर्ण घटनाओं से विशेष रूप से जोड़ा है–विवाह एवं उत्तराधिकार। **डॉ. श्यामलाल शर्मा** ने उचित ही लिखा है कि सामाजिक-सांस्कृतिक निरंतरता बनाए रखने में बंधुत्व की भूमिका परम महत्त्वपूर्ण है।
4. **सामाजिक सहायता एवं सुरक्षा प्रदान करना**–नातेदारी व्यवस्था जीवन के विशेष अवसरों पर सामाजिक सहायता का काम करती है; जैसे–लड़की के विवाह के समय उत्तरी क्षेत्र में कुछ जातियों में मामा को 'भात' देना पड़ता है। इससे उस समय कुछ सहायता मिल जाती है। इसी भाँति, जीवन के जोखिमों; जैसे–बुढ़ापा वैधव्य, दुर्घटना, बीमारी, बेकारी के विरुद्ध भी नातेदारी व्यवस्था सुरक्षा प्रदान करती है। यदि कोई बालक अनाथ रह जाए तो भारतीय समाज में सबसे पहले उसके नातेदारों से ही यह अपेक्षा की जाएगी की ये उनकी देखभाल करें और साधारणत: व्यक्ति ऐसा करते भी हैं।

नोट

5. **व्यक्ति की अलगाव की भावना से सुरक्षा**–व्यक्ति की दृष्टि से देखा जाए तो यह कहा जा सकता है कि नातेदारी व्यवस्था व्यक्ति के मन में एकाकीपन या अलगाव की भावना उत्पन्न नहीं होने देती। यह व्यवस्था उसके अपने 'स्वजनों का दायरा' व्यापक कर देती है। उसे शक्ति का अहसास होता है और वह अपने स्वजनों पर गर्व अनुभव करता है क्योंकि उसकी अस्मिता भी बहुत कुछ उसके नातेदारों की सामाजिक प्रतिष्ठा पर आधारित होती है।

8.8 आधुनिक भारत में नातेदारी की भूमिका (Role of Kinship in Contemporary India)

आज भी अधिकांश भारतीय समाजों में नातेदारी की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। बहुधा संकट के समय भारतीय समाजों में नातेदारों के उदाहरण देखने को मिलते हैं। जब किसी का कोई नातेदार मरता है तो उसके नातेदार संबंधी पुरुष और महिलाएँ उस संतृप्त परिवार को सहानुभूति और सहायता देने के लिए उमड़ पड़ते हैं। इसी प्रकार जब किसी का कोई नातेदार किसी दूसरे प्रदेश या विदेश में प्रवास कर जाता है तो उसके नातेदार उसके विवाह और विभिन्न धार्मिक संस्कारों में आते-जाते हैं। अगर कोई नातेदार बेरोज़गार होता है तो उसके अन्य नातेदार उसकी रोजगार लगाने में हर संभव मदद करते हैं। ऐसी स्थिति में नातेदार संबंधी उसे अपने यहाँ रहने, एवं खाने-पीने की व्यवस्थ करना भी अपना फर्ज समझते हैं। विवाह के मामलों में भी अक्सर यह देखा गया है कि नातेदार संबंधी ही विवाह प्रस्तावों में मध्यस्थता करते हैं। इसी प्रकार जब किसी परिवार में विवाह होता है तो उसके नातेदार संबंधी दुल्हा-दुल्हन को उपहार भेंट करते हैं। अधिकतर भारतीय समाजों में सामाजिक और संस्कृतिक जीवन में नातेदारी के अच्छे परिणाम देखने को मिलते हैं। मानव समाजों में जिस प्रकार जाति, वर्ग, समूह और आस-पड़ोस का महत्त्व है उससे अधिक महत्त्व या भूमिका नातेदारी की है।

8.9 सारांश (Summary)

- सामाजिक मानव, समाज में अकेला नहीं होता। जन्म से लेकर मृत्यु तक वह अनेक व्यक्तियों से घिरा होता है, अर्थात् उसका संबंध एकाधिक व्यक्तियों से होता है। परंतु इनमें से सबसे महत्त्वपूर्ण संबंध उन व्यक्तियों के साथ होता है जो विवाह बंधन और रक्त-संबंध के आधार पर संबधित हैं।
- संपर्क और निकटता, घनिष्ठता और आत्मीयता के आधार पर विभिन्न प्रकार के नाते-रिश्तेदारों को कई श्रेणियों में बाँटा जा सकता है। कुछ लोगों के साथ वैवाहिक तथा रक्त-संबंधी आधारों पर नातेदारी प्रत्यक्ष, घनिष्ठ तथा निकट की होती है, जैसे पति-पत्नी, पिता-पुत्र, भाई-बहन आदि। इनको प्राथमिक संबंधी (Primary Kins) कहा जाता है। इसके विपरीत, द्वितीयक संबंधी (Secondary Kins) वे संबंधीगण होते हैं जो उपरोक्त प्राथमिक संबधियों के प्राथमिक संबंधी हैं। अर्थात् प्राथमिक संबंधियों द्वारा संबंधित हैं। इसी प्रकार तृतीयक संबंधी (Teritiary Kins) भी हो सकते हैं। तृतीयक संबंधी वे संबंधीगण हैं जो हमारे द्वितीयक संबंधी के प्राथमिक संबंधी हैं।
- एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति या व्यक्तियों के संबंध को स्पष्ट रूप से व्यक्त करने के लिए अलग-अलग तरह के संबंधों के लिए भिन्न-भिन्न शब्दों का प्रयोग किया जाता है।
- नातेदारी-व्यवस्था के अंतर्गत अनेक प्रकार के व्यवहार-प्रतिमानों (behaviour patterns) का भी समावेश होता है। हमारा किसी एक व्यक्ति से एक विशेष संबंध है, बात यहीं पर समाप्त नहीं हो जाती। इस रिश्ते या संबंध से संबंधित एक विशिष्ट प्रकार का व्यवहार भी हुआ करता है।
- नातेदारी-व्यवस्था में परिहार का नियम या रीति बहुत ही लोकप्रिय है। 'परिहार' का अर्थ यह है कि कुछ ऐसे रिश्ते हैं जो दो व्यक्तियों के बीच एक निश्चित संबंध तो स्थापित करते हैं, पर साथ ही इस बात का निर्देश देते हैं कि वे एक-दूसरे से दूर रहें। सास-ससुर तथा दामाद के बीच के संबंध को भी कुछ समाजों में नियंत्रित किया जाता है।

नोट

- नातेदारी की रीतियों में परिहास-संबंध परिहार का बिलकुल विपरीत रूप है। जहाँ परिहार दो संबंधियों को एक-दूसरे से दूर ले जाता है, वहाँ परिहास-संबंध दो व्यक्तियों को अति निकट लाता है। निश्चित अर्थ में यह दो व्यक्तियों को 'मधुर-संपर्क' या संबंध-सूत्र में बाँधता है।
- आज भी अधिकांश भारतीय समाजों में नातेदारी की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। अधिकतर भारतीय समाजों में सामाजिक और संस्कृतिक जीवन में नातेदारी के अच्छे परिणाम देखने को मिलते हैं। मानव समाजों में जिस प्रकार जाति, वर्ग, समूह और आस-पड़ोस का महत्त्व है उससे अधिक महत्त्व या भूमिका नातेदारी की है।

8.10 शब्दकोश (Keywords)

1. **सेमा**–नागालैंड में नगा जातियों द्वारा प्रयोग की जाने वाली एक बोली।
2. **परिहास**–नातेदारी के अंतर्गत आने वाले मधुर संबंधों के बीच हँसी-मज़ाक को परिहास कहते हैं।

8.11 अभ्यास-प्रश्न (Review Question)

1. नातेदारी के प्रकारों का वर्णन कीजिए।
2. 'परिवार' एवं 'परिहास' पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
3. 'मातुलेय' एवं 'पितृश्वस्त्रेय' से आप क्या समझते हैं? समझाइए।
4. सहप्रस्विता क्या है? समझाइए।
5. भारत में नातेदारी की क्षेत्रीय भिन्नताओं पर प्रकाश डालिए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer : Self Assessment)

1. (✓)	2. (✗)	3. (✓)
4. मातुलेय	5. बुआ	6. पति

8.12 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. डायनमिक्स ऑफ सोशल इंस्टीट्यूशंस–*अज़हर शेख़, सब्लाइम पब्लिकेशंस, 2008.*
2. इंडियन सोसाइटी एंड सोशल इंस्टीट्यूशंस–*(2 वॉल्यूम्स सेट) एन. जयापालन, एटलांटिक।*
3. मैरिज, पापुलेशन एंड सोसाइटी : डेमोग्राफ़िक पर्सपेक्टिव्स ऑफ़ ए सोशल इंस्टीट्यूशंस–*एम. एम. कृष्णारेड्डी, कनिष्का, 1998.*

नोट

इकाई–9 : सत्ता का समाजशास्त्रीय सिद्धांत (Sociological Theory of Authority)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)
प्रस्तावना (Introduction)
9.1 सत्ता (प्राधिकार) (Authority)
9.2 सत्ता का अर्थ (Meaning of Authority)
9.3 सत्ता के स्त्रोत या प्रकार (Sources or Types of Authority)
9.4 शक्ति का अर्थ एवं सत्ता से उसका संबंध (Meaning of Power and its Relationship with Authority)
9.5 शक्ति पर मैक्स वेबर के विचार (Thoughts of Max weber about Power)
9.6 टालकोट पार्सन्स के विचार : शक्ति के बारे में चार समाकलन उपागम (Thoughts of Talcoat Parsons : Integral Approach of Power)
9.7 शक्ति के विषय में मार्क्सवादी अवधारणा (Marxist Concept of Power)
9.8 शक्ति के विभन्न रूप (Different Forms of Power)
9.9 अभिजात या प्रभुवर्ग (इलीट) का सिद्धांत (Theories of Elite)
9.10 विलफ्रेडो पेरेटो : कुलीन का प्रचलन (Vilfredo Pareto : Circulation of Elites)
9.11 सारांश (Summary)
9.12 शब्दकोश (Keywords)
9.13 अभ्यास-प्रश्न (Review Question)
9.14 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- सत्ता का अर्थ एवं शांति से संबंधित विभिन्न विचारों को समझने में।
- शक्ति के विविध रूप को समझने में।
- अभिजात वर्ग का सिद्धांत और साम्यवादी समाज को समझने में।

प्रस्तावना (Introduction)

मनुष्य समाज में अकेला ही नहीं, वरन् अन्य लोगों के साथ रहने के दौरान वह दूसरों को प्रभावित भी करता है और स्वयं भी दूसरों से प्रभावित होता है। प्रभाव का तात्पर्य है–दूसरों की नीतियों को प्रभावित करना। प्रभाव का अर्थ है–एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार बदलना या कार्य करवाना। प्रभाव के दो रूप हैं– 1. शक्ति (Power) और 2. सत्ता (Authority)। यदि एक व्यक्ति अपनी बात मनवाने में बल प्रयोग करता है अथवा बल प्रयोग करने की धमकी देता है तो वह शक्ति कहलाती है। जब शक्ति को वैधानिक स्वीकृति मिल जाती है तो उसे सत्ता कहते हैं।

नोट

प्रत्येक संगठित समूह में सत्ता के तत्व मूल रूप से मौजूद रहते हैं। संगठित समूह में तीन प्रकार के व्यक्ति होते हैं–1. साधारण व्यक्ति, 2. वे व्यक्ति जिनके पास उत्तरदायित्व होता है और इसके साथ उनके पास सत्ता भी होती है जिसके माध्यम से वे अपने दायित्व का निर्वाह करते हैं, 3. प्रधान प्रशासक। सत्ता की दृष्टि से समूह की रचना इसी प्रकार की होती है जिसमें ये तीनों तत्व पाए जाते हैं।

मैक्स वेबर के अनुसार समाज में सत्ता विशेष रूप से आर्थिक आधारों पर आधारित होती है, यद्यपि आर्थिक कारक सत्ता के निर्धारण में एकमात्र कारक नहीं कहा जा सकता। सत्ता उन्हीं के हाथों में रहती है जिनके पास संपत्ति एवं उत्पादन के साधन होते हैं। इसलिए ही पूँजीपति वर्ग उत्पादन के साधनों एवं मजदूरों की सेवाओं पर अधिकार पाने का प्रयत्न करते हैं और मजदूर भी अपने श्रम के बदले अधिकाधिक अधिकार पाने का प्रयत्न करते हैं। सत्ता के द्वारा ही पूँजीपति मजदूर की स्वतंत्रता को खरीदता है और उसे श्रमिक पर एक विशेष प्रकार का अधिकार प्राप्त होता है। यद्यपि वर्तमान में इस प्रकार की सत्ता क्षीण होती जा रही है फिर भी आर्थिक जगत में सत्ता के निर्धारण में निजी संपत्ति और उत्पादन के साधनों का प्रमुख हाथ है। सारांश में आर्थिक जीवन में एक स्थिर या संस्थागत अर्थव्यवस्था समाज के कतिपय विशिष्ट वर्ग को सत्ता एवं अधिकार प्रदान करती है। इस सत्ता के आधार पर ही यह वर्ग अन्य वर्गों पर प्रभुत्व रखता है और उनसे उच्च प्रस्थिति धारण करता है।

राजनीतिक क्षेत्र में सत्ता एक महत्त्वपूर्ण अवधारणा है। यह राज्य व्यवस्था रूपी शरीर की आत्मा है। राजनीतिक प्रक्रियाएँ सत्ता के आधार पर ही क्रियान्वित होती हैं।

9.1 सत्ता (प्राधिकार) (Authority)

मनुष्य समाज में अकेला ही नहीं रहता, वरन् अन्य लोगों के साथ रहने के दौरान वह दूसरों को प्रभावित भी करता है और स्वयं भी दूसरों से प्रभावित होता है। प्रभाव का तात्पर्य है–दूसरों की नीतियों को प्रभावित करना। प्रभाव का अर्थ है–एक व्यक्ति द्वारा दूसरे व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार बदलना या कार्य करवाना। प्रभाव के दो रूप हैं–(1) शक्ति (Power) और (2) सत्ता (Authority)। यदि एक व्यक्ति अपनी बात मनवाने में बल प्रयोग करता है अथवा बल प्रयोग करने की धमकी देता है तो वह शक्ति कहलाती है। जब शक्ति को वैधानिक स्वीकृति मिल जाती है तो उसे सत्ता कहते हैं।

प्रत्येक संगठित समूह में सत्ता के तत्व मूल रूप से मौजूद रहते हैं। संगठित समूह में तीन प्रकार के व्यक्ति होते हैं–(1) साधारण व्यक्ति, (2) वे व्यक्ति जिनके पास उत्तरदायित्व होता है और इसके साथ ही उनके पास सत्ता भी होती है जिसके माध्यम से वे अपने दायित्व का निर्वाह करते हैं, (3) प्रधान प्रशासक। सत्ता की दृष्टि से समूह की रचना इसी प्रकार की होती है जिसमें ये तीनों तत्व पाए जाते हैं।

मैक्स वेबर के अनुसार समाज में सत्ता विशेष रूप से आर्थिक आधारों पर आधारित होती है, यद्यपि आर्थिक कारक सत्ता के निर्धारण में एकमात्र कारक नहीं कहा जा सकता। सत्ता उन्हीं के हाथों में रहती है जिनके पास सम्पत्ति एवं उत्पादन के साधन होते हैं। इसलिए ही पूँजीपति वर्ग उत्पादन के साधनों एवं मजदूरों की सेवाओं पर अधिकार पाने का प्रयत्न करते हैं और मजदूर भी अपने श्रम के बदले अधिकाधिक अधिकार पाने का प्रयत्न करते हैं। सत्ता के द्वारा ही पूँजीपति मजदूर की स्वतंत्रता को खरीदता है और उसे श्रमिक पर एक विशेष प्रकार का अधिकार प्राप्त होता है। यद्यपि वर्तमान में इस प्रकार की सत्ता क्षीण होती जा रही है, फिर भी आर्थिक जगत में सत्ता के निर्धारण में निजी सम्पत्ति और उत्पादन के साधनों का प्रमुख हाथ है। सारांशत: आर्थिक जीवन में एक स्थिर या संस्थागत अर्थव्यवस्था समाज के कतिपय विशिष्ट वर्ग को सत्ता एवं अधिकार प्रदान करती है। इस सत्ता के आधार पर ही यह वर्ग अन्य वर्गों पर प्रभुत्व रखता है और उनसे उच्च प्रस्थिति धारण करता है।

राजनीतिक क्षेत्र में सत्ता एक महत्त्वपूर्ण अवधारणा है। यह राज्य व्यवस्था रूपी शरीर की आत्मा है। राजनीतिक प्रक्रियाएँ सत्ता के आधार पर ही क्रियान्वित होती हैं।

9.2 सत्ता का अर्थ (Meaning of Authority)

सत्ता की अनेक परिभाषाएँ और व्याख्याएँ की गई हैं, किंतु सभी रूपों में सत्ता शक्ति, प्रभाव एवं नेतृत्त्व से जुड़ी हुई हैं जब शक्ति को वैधानिक स्वीकृति मिल जाती है तो उसे सत्ता कहते हैं। **बीरस्टीड** भी कहते हैं कि सत्ता

नोट

शक्ति से भिन्न होती है। सत्ता शक्ति के प्रयोग का संस्थात्मक अधिकार है, वह स्वयं शक्ति नहीं है। **सत्ता का संबंध पद या प्रस्थिति से होता है जबकि शक्ति का व्यक्ति से। सत्ता सदैव संस्थाकृत होती है** (Authority is institutionalised), अत: विशिष्ट रूप से मूल्यवान समझी जाती है। **सत्ता वैधानिक शक्ति है** (Authority is Legitimate Power) **जिसका पालन व्यक्ति स्वेच्छा से करता है।**

उदाहरणार्थ, प्राचार्य, राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, मेजर, आदि के अधिकार 'सत्ता' की श्रेणी में आएँगे, क्योंकि उन्हें जो अधिकार और शक्ति प्राप्त हैं, वह संविधान, नियमों, कानूनों, आदि के द्वारा प्राप्त है। इस प्रकार शक्ति और सत्ता दोनों ही प्रभाव के विभिन्न स्वरूप हैं। सत्ता समाज में दायित्व बनाए रखती है। यह केवल राजनीतिक क्षेत्र में ही नहीं, वरन् सामाजिक-आर्थिक जीवन में भी क्रियाशील रहती है। सत्ता शक्ति का संस्थागत रूप है।

बीच (Beach) दूसरे के कार्य निष्पादन को प्रभावित या निर्देशित करने के औचित्यपूर्ण अधिकार को सत्ता कहता है। सत्ता को इसलिए स्वीकार नहीं किया जाता है कि वह सत्ताधारियों द्वारा दी जाती है। इसका वास्तविक आधार अधीनस्थ अथवा जिन्हें निर्देश दिए जाते हैं, उनकी सहमति होती है। सत्ता सामान्य स्वीकृति के साथ शक्ति के प्रयोग को कहते हैं। यूनेस्को की एक रिपोर्ट के अनुसार सत्ता वह शक्ति है जो स्वीकृति, सम्मानित ज्ञान एवं औचित्यपूर्ण हो।''

उपर्युक्त विवेचन से **सत्ता की निम्नांकित विशेषताएँ** प्रकट होती हैं–

1. सत्ता प्रभाव और शक्ति का एक ही रूप है।
2. सत्ता में शक्ति को वैधानिक स्वीकृति प्राप्त होती है।
3. सत्ता शक्ति का संस्थागत रूप है।
4. सत्ता का संबंध व्यक्ति से न होकर प्रस्थिति (Status) से होता है।
5. सत्ता हमें सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक सभी क्षेत्रों में देखने को मिलती है।
6. सत्ता में शक्ति को न्याय, नैतिकता, धर्म एवं अन्य सांस्कृतिक मूल्यों द्वारा उचित ठहराया जाता है।
7. सत्ता को आदेश देने का अधिकार माना जाता है और सत्ता का प्रवाह ऊपर से नीचे की ओर होता है। सत्ता के पीछे व्यवस्था या संगठन की वैध शक्ति होती है।

   सत्ताधारी संगठन में अंतर्निहित शक्ति का प्रतीक माना जाता है। मैकाइवर इसे शासन का जादू कहते हैं।
8. सत्ता कानूनी रूप से तो औपचारिक होती है, किंतु वास्तव में आदेश की सफलता अधीनस्थों पर निर्भर है। जब अधीनस्थ अपनी समझ एवं योग्यता के आधार पर आदेशों को स्वीकार कर लेते हैं तो यह स्थिति सत्ता बन जाती है।

9.3 सत्ता के स्त्रोत या प्रकार (Sources or Types of Authority)

मैक्स वेबर ने वैधता के आधार पर सत्ता के तीन स्त्रोतों एवं प्रकारों का उल्लेख किया है–(1) वैधानिक सत्ता, (2) परंपरात्मक सत्ता एवं (3) करिश्माई या चमत्कारिक सत्ता। हम यहाँ सत्ता के इन तीनों प्रकारों का सविस्तार उल्लेख करेंगे।

1. **वैधानिक सत्ता** (Legal Authority)–सत्ता का एक रूप वैधानिक सत्ता है। राज्य द्वारा बनाए गए कानूनों के अनुसार कई पद इस प्रकार होते हैं जिनके साथ एक विशिष्ट प्रकार की सत्ता जुड़ी होती है। अत: जो भी व्यक्ति उन पदों को धारण करते हैं, उनके हाथों में उन पदों से संबंधित सत्ता भी चली जाती है। उदाहरण के लिए, जब व्यक्ति किसी महाविद्यालय का प्राचार्य बनता है तो उसे प्राचार्य के पद से संबंधित सत्ता भी प्राप्त हो जाती है और वह उन शक्तियों एवं अधिकारों का उपयोग कर सकता है जो इस पद से संबंधित हैं। इस प्रकार की सत्ता का स्त्रोत व्यक्ति की निजी प्रतिष्ठा में समाहित नहीं होता है वरन् जिन नियमों के द्वारा व्यक्ति एक विशिष्ट पद को धारण किए हुए है, उन नियमों की सत्ता में निहित होता है। वैधानिक सत्ता सत्ताधारी के अधिकार-क्षेत्र को भी तय करती है जिसके बाहर वह अपनी सत्ता का प्रयोग नहीं कर सकता। स्पष्ट है कि व्यक्ति की वैधानिक सत्ता के क्षेत्र एवं उसके क्षेत्र में पर्याप्त अंतर

नोट

है। प्राचार्य के रूप में व्यक्ति को जो अधिकार प्राप्त हैं वे उन अधिकारों से भिन्न हैं जो परिवार में पिता या पति की सत्ता के रूप प्राप्त होते हैं। आज के जटिल और औद्योगीकृत समाजों में सभी लोगों में वैधानिक सत्ता समान रूप से नहीं पायी जाती है, वरन् उनमें उच्चता और निम्नता का संस्तरण देखा जा सकता है। दूसरे शब्दों में, जटिल समाजों की यह विशेषता है कि यहाँ वैधानिक आधार पर उच्च और निम्न सत्ताएँ पायी जाती हैं।

जहाँ कहीं नियमों की ऐसी प्रणाली है जो निश्चित सिद्धांतों के अनुसार न्यायिक और प्रशासकीय रूप से प्रयुक्त होती है तथा जो एक नियमित समूह के सभी सदस्यों के लिए वैध है, वहाँ वैधानिक सत्ता है। वैधानिक सत्ता में सत्ता का प्रयोग करने वाले व्यक्तियों की नियुक्ति या चुनाव वैधानिक प्रक्रिया द्वारा होता है, वे स्वयं नियमों से बँधे होते हैं और उनके निर्देशों के अनुसार ही सत्ता का उपयोग करते हैं। नियम ही अधिकारीगण की सत्ता की सीमा निर्धारित करते हैं, सत्ता को कार्यान्वित करने पर प्रतिबंध लगाते हैं, पदाधिकारी के वैयक्तिक रूप को उसके सत्ताधारी रूप से अलग करते हैं। वैध सत्ता में यह अपेक्षा की जाती है कि सारी कार्यवाही लिखित में हो।

2. **परंपरात्मक सत्ता** (Traditional Authority)-इस प्रकार की सत्ता का संबंध परंपरा द्वारा पद पर आसीन होने से होता है। इस प्रकार की सत्ता की वैधता परंपरा पर आधारित होती है। समाज में अनेक ऐसे पद होते हैं जो एक लंबे समय से चले आ रहे होते हैं, जिनका अस्तित्व परंपरात्मक विश्वासों के कारण होता है। इन पदों को धारण करने पर व्यक्ति को जो सत्ता प्राप्त होती है, उसे परंपरात्मक सत्ता कहते हैं। इस प्रकार के सत्ताधारी अपने आदेशों का पालन कराने के लिए लोगों को यह बात कहकर आश्वस्त करते हैं कि ऐसा ही होता आया है। परंपरात्मक सत्ता को धारण करने वाले के पास व्यक्तिगत निर्णय लेने का विशेषाधिकार भी होता है। इस प्रकार इसमें एक तरफ प्रथा का अनुसरण होता है तो दूसरी तरफ आदेश देने वाले की व्यक्तिगत निरंकुशता भी निहित होती है। भूतकाल के प्रति प्रेम और पवित्र निष्ठा के कारण ही लोग इस प्रकार की सत्ता के आदशों का पालन करते हैं। भारतीय गाँवों में जाति-पंचायत एवं ग्राम-पंचायत के पंचों को प्राप्त सत्ता परंपरात्मक सत्ता का ही रूप है। इसी प्रकार से परिवार में पिता, पति, कर्त्ता को तथा जनजातियों में गोत्र के मुखिया को, सामन्तवादी प्रथा में दासों पर मालिकों को प्राप्त अधिकार एवं निरकुंश राजा को प्राप्त जनता पर अधिकार परंपरात्मक सत्ता के उदाहरण हैं। पंच, पिता, मालिक और राजा की आज्ञा का पालन इसलिए नहीं किया जाता है कि उन्हें कोई वैधानिक सत्ता प्राप्त है, वरन् इसलिए किया जाता है कि एक लंबे अर्से से ऐसा होता आया है। यह परंपरा रही है। वैधानिक सत्ता वैधानिक सत्ता वैधानिक नियमों के अनुसार निश्चित और सीमित होती है क्योंकि वैधानिक नियम सुस्पष्ट एवं सुनिश्चित होते हैं जबकि परंपरा एवं सामाजिक नियम इतने स्पष्ट एवं निश्चित नहीं होते। यही कारण है कि परंपरात्मक सत्ता वैधानिक सत्ता की तरह सीमित और निश्चित नहीं होती। एक प्राचार्य के रूप में एक व्यक्ति की सत्ता का क्षेत्र, आरंभ और अंत कहाँ है, यह सामान्यत: पूर्व निर्धारित है, किंतु पिता या पति के अधिकारों एवं सत्ता का दायरा तय करना कुछ कठिन अवश्य है।

3. **करिश्माई या चमत्कारिक सत्ता** (Charismatic Authority)–करिश्मा का तात्पर्य है-व्यक्ति में सामान्य से भिन्न (असाधारण)कुछ विशिष्ट गुणों का होना। ये गुण वास्तविक भी हो सकते हैं और काल्पनिक भी। करिश्माई सत्ता में लोग असाधारण गुण रखने वाले व्यक्ति के सम्मुख अपना समर्पण करते हैं और आज्ञा का पालन करते हैं। चमत्कारिक सत्ता की वैधता व्यक्ति के असाधारण गुणों में विश्वास उसके प्रति भक्ति में निहित होती है। लोग इस प्रकार की सत्ता की कद्र इसलिए करते हैं कि चमत्कारिक गुण सामान्य आदमियों में नहीं पाए जाते और वे उसे अलौकिक क्षमता से संपन्न मानते हैं। चमत्कारिक सत्ता की वैधता जादुई शक्ति, दैवी शक्ति और नेतृत्व पूजा के विश्वासों में निहित होती है। इस प्रकार के विश्वासों का स्रोत व्यक्ति द्वारा प्रदर्शित चमत्कार, विजय एवं सफलता आदि होते हैं जो उसने अपने अनुयायियों के कल्याण के लिए किए हों। प्रमाणों के अभाव में चमत्कारिक सत्ता समाप्त भी हो जाती है।

नोट

9.4 शक्ति का अर्थ एवं सत्ता से उसका संबंध (Meaning of Power and its Relationship with Authority)

शक्ति का शाब्दिक अर्थ होता है दूसरों के व्यवहार को प्रभावित करने की क्षमता, अर्थात् ऐसी क्षमता जिससे दूसरों के व्यवहार को नियंत्रित किया जा सके।

समाज के संदर्भ में यह शक्ति राज्य के पास होती है, जो समाज के लोगों द्वारा प्रदान की जाती है। इसी को वैधता कहते हैं। इस प्रकार सामाजिक व्यवस्था को सुचारू रूप से संचालित करने के लिए समाज एक व्यवस्था के तहत किसी व्यक्ति-विशेष या कुछ व्यक्तियों के समूह को समाज को नियंत्रित करने का काम सौंप देता है। यानि उसे दूसरों के व्यवहार को प्रभावित या नियंत्रित करने की 'शक्ति' प्रदान करता है और इस प्रकार उसे वैधता प्राप्त जाती है। जब शक्ति को वैधता प्राप्त हो जाती हैं तो उसे ही सत्ता कहा जाता है। इस प्रकार समाज किसी व्यक्ति-विशेष या समूह-विशेष को सत्ता प्रदान कर देता है। आधुनिक समाजों में यह सत्ता राज्य के पास नहीं होती है।

9.5 शक्ति पर मैक्स बेबर के विचार (Thoughts of Max Weber about Power)

मैक्स वेबर ने शक्ति की परिभाषा देते हुए कहा है कि–''शक्ति बहुत सारे लोगों द्वारा सामूहिक क्रिया के जरिए अपनी इच्छाओं को पूरा करना है। ऐसा उन लोगों के प्रतिरोध के बावजूद होता है जो इस क्रिया में भागीदार हैं।'' इस प्रकार परिभाषित करने से शक्ति का मतलब दूसरों पर शासन है। तात्पर्य यह कि शक्ति सामाजिक संबंध का ही रूप है। कोई भी व्यक्ति अलगाव में शक्ति नहीं रख सकता। ''यही शक्ति की व्यापक परिभाषा है। इसका प्रभाव जीवन के प्रत्येक आयु वर्ग पर दिखायी देता है। इसका हस्तक्षेप बच्चों के माता-पिता द्वारा बच्चों को घरेलू शिक्षा देने से लेकर विद्यालय में शिक्षक द्वारा अनुशासन लागू करने और प्रबंधक द्वारा उस श्रम शक्ति को काम देने तक में होता है जो राजनीतिक दल में विधायिका का काम करते हैं। प्रत्येक मामले में एक व्यक्ति या समूह के पास इतनी शक्ति होती है कि दूसरे उसकी इच्छाओं का पालन कर सकें। बहुत सारे समाजशास्त्री तर्क देते हैं कि राजनीतिक समाजशास्त्र मोटे अर्थों में शक्ति का अध्ययन है।''

शक्ति की परिभाषा उस विचार का प्रतिनिधित्व करती है जो ''शक्ति से संबंधित अचर-योग की अवधारणा'' के रूप में जाना जाता है। कारण यह है कि वेबर के अनुसार जो शक्ति संपन्न होते हैं वे दूसरों की कीमत पर शक्ति संपन्न होते हैं। अगर कुछ शक्ति रखते हैं तो दूसरे नहीं। अंर्तनिहित मान्यता यह है कि शक्ति की कुल मात्रा अचर होती है।

टास्क वर्तमान भारतीय राजनीतिक परिप्रेक्ष्य के आधार पर शक्ति एवं सत्ता को उदाहरण देकर समझाइए।

9.6 टालकोट पार्सन्स के विचार : शक्ति के बारे में चार समाकलन उपागम (Thoughts of Talcott Parsons : Integral Approach of Power)

दूसरी तरफ टालकोट पार्सन्स ने शक्ति के ''अचर समाकलन'' विचार को अस्वीकार कर दिया है। उसकी दृष्टि में शक्ति किसी व्यक्ति या समूह के पास नहीं बल्कि पूरे समाज के पास होती है। इस प्रकार यह सामाजिक शक्ति समाज की शक्ति-क्षमता पर आधारित होती है जिससे लक्ष्यों की प्राप्ति होती है। शक्ति उतनी ज्यादा होती है। यह विचार कभी-कभी शक्ति की चर-समाकलन अवधारणा के नाम से जाना जाता है। शक्ति स्थिर नहीं रहती अर्थात् यह घटती या बढ़ती रहती है।

नोट

शक्ति के संबंध में पार्संस के विचार समाज के बारे में उनके सामान्य सिद्धांत पर आधारित हैं। वह यह मत समाज के हृदय के सामंजस्य से इस आधार पर प्राप्त करते हैं कि मूल्य समाज के लिए आवश्यक है। दूसरा चरण सामान्य लक्ष्य की प्राप्ति है जो सभी हासिल कर सकते हैं। सामाजिक व्यवस्था की शक्ति उस सीमा में निहित होती है जिस सीमा तक वह उन लक्ष्यों को पाने में सक्षम होती है। जितने अधिक योग्य लोग इस लक्ष्य को पाते हैं समाज के पास उतनी अधिक शक्ति होती है। पार्संस यह भी मानते हैं कि चूँकि लक्ष्य सामूहिक रूप से अपनाए जाते हैं इसलिए सामाजिक सत्ता का उपयोग किसी तबके के हितों की पूर्ति के लिए नहीं बल्कि सामूहिकता के हितों को बढ़ाने के लिए होना चाहिए।

पश्चिमी प्रजातंत्रों में राजनीतिक शक्ति के आधार के विश्लेषण के विषय में पार्संस के विचार राजनीतिक शक्ति की प्रकृति के विषय में विशिष्ट निदर्शन हैं। वे कहते हैं, ''राजनीतिक सहायता शक्ति की सामान्य स्वीकृति के रूप में स्वीकार की जानी चाहिए। अगर यह चुनावी विजय दिलाती है तो राजनीतिक नेतृत्व की स्थिति एक बैंकर के समान हो जाती है। दूसरे चुनाव में अब तक एकत्र शक्ति खर्च की जा सकती है। बैंक में रुपये जमा किये जाते हैं, समाज के लोग राजनीतिक नेतृत्व के पास शक्ति जमा करते हैं। जिस तरह जमा करने वाला बैंक से अपना रुपया निकाल सकता है इसी प्रकार जनता दूसरे चुनाव में राजनीतिक नेताओं से शक्ति वापस ले सकती है। इस अर्थ में शक्ति पूरे समाज के सदस्यों के पास रहती है। जैसे कि जमा धनराशि पर बैंक सूद देता है उसी प्रकार शक्ति की स्वीकृति से जनता को फायदे मिलते हैं क्योंकि इसका उपयोग सामूहिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए होता है। समाज में शक्ति बढ़ सकती है।''

शक्ति की प्रकृति और प्रयोग के विषय में पार्संस के विचारों की आलोचना हुई है। प्रथम पार्संस ने उन लोगों के जुमलों को प्रयोग किया है जो शक्ति का प्रयोग और उपभोग करने वाले लोगों द्वारा प्रयुक्त होता है। दूसरे, पार्संस यह समझने में असफल रहे हैं कि शक्ति का इस्तेमाल हमेशा सामूहिक हितों की रक्षा के लिए नहीं होता। यह सभी जानते हैं कि शक्ति का उपयोग ज्यादातर एक विशेष वर्ग के हित में ही होता है।

9.7 शक्ति के विषय में मार्क्सवादी अवधारणा (Marxist Concept of Power)

यह विचार कि शक्ति एक सामाजिक स्रोत है, जिसका इस्तेमाल वे लोग करते हैं जिन पर विश्वास कर उन्हें इसके इस्तेमाल का अधिकार दिया जाता है, मार्क्सवादी लेखकों द्वारा खारिज कर दिया गया। वे कहते हैं कि शक्ति दूसरों को दरकिनार कर एक वर्ग विशेष द्वारा हथिया ली जाती है। यह समूह अपने स्वार्थों या वर्ग हितों को आगे बढ़ाने के लिए इसका इस्तेमाल करता है। यह उन लोगों के स्वार्थों से टकरा सकता है जो शक्ति के गुलाम हैं। यह शक्ति की मार्क्सवादी अवधारणा है, जिसके अनुसार प्रभावशाली वर्ग के हाथ में शक्ति होती है जो दूसरों के लिए शक्ति की क्षति है। ''यह पार्संस द्वारा प्रस्तुत चित्र से काफी अलग है जिसमें शासक और शासित एक साथ सामूहिक हितों की पूर्ति के लिए काम करते हैं। उनका आपस में हितों का कोई विभाजन नहीं होता।'' मार्क्सवादी अवधारणा के अनुसार शक्ति का स्रोत आर्थिक ढाँचे में निहित होता है। उत्पादन की शक्तियाँ उत्पादन-संबंधों को निर्धारित करती हैं। वे जो आर्थिक रूप से प्रभावशाली होते हैं, अपने हितों की पूर्ति के लिए शक्ति का प्रयोग करते हैं। मार्क्सवादी सिद्धांत के अनुसार शासक वर्ग की शक्ति विशिष्ट आर्थिक संबंधों का अतिक्रमण करती है और पूरी अधिसंरचना को अपने बब्जे में कर लेती है।

9.8 शक्ति के विभिन्न रूप (Different Forms of Power)

पिछले अनुच्छेद में हमने वेबर की विचारधारा, टालकोट-पार्संस की प्रकार्यात्मक विचारधारा और मार्क्सवादी विचारधारा के आधार पर शक्ति को समझने और विश्लेषित करने का प्रयास किया। इस भाग में शक्ति के विभिन्न आयामों का संक्षेप में वर्णन किया गया है। 'सामाजिक शक्ति' शब्द के विषय में अनेक अर्थ निकाले जाते हैं। फ्रांसिस बेकन ने कहा कि ''ज्ञान ही शक्ति है'' यह शब्द इज्जत, प्रभाव, प्रभुत्व, अधिकार और यहाँ तक कि ताकत के लिए भी इस्तेमाल किया जाता है।

अमेरिकन समाजशास्त्री इ. ए. रॉस. (E. A. Ross) ने शक्ति और प्रतिष्ठा के बीच घनिष्ठ रिश्ते को स्पष्ट करते हुए कहा है–''शक्ति की पहचान का तात्कालिक कारण प्रतिष्ठा है। जिस वर्ग के पास जितनी अधिक प्रतिष्ठा

नोट

है उस वर्ग के पास उतनी अधिक शक्ति है।'' निश्चय ही प्रतिष्ठा कभी-कभी शक्ति से संबद्ध होती है। जिस कारण शक्तिसंपन्न समूह प्रतिष्ठित होता है और प्रतिष्ठित समूह शक्तिसंपन्न होता है। परंतु दोनों प्रघटनाएँ समान नहीं हैं। शिक्षक समाज में अच्छी खासी इज्जत रखते हैं पर उनके पास इस अर्थ में शक्ति नहीं होती कि वे अपनी इच्छा दूसरों पर थोप सकें। एक सिपाही के पास इस अर्थ में शक्ति होती है कि वह एक सीमा तक दूसरों से अपनी बात मनवा सकता है। इसका अभिप्राय यह है कि शक्ति के लिए प्रतिष्ठा काफी नहीं है। सामाजिक रूप से महत्त्वपूर्ण दोनों प्रघटनाएँ एक समान नहीं हैं और एक साथ सामने नहीं आ सकती।

नोट्स समाजशास्त्री इ. ए. रॉस ने शक्ति और प्रतिष्ठा के बीच घनिष्ठ संबंध को स्पष्ट करते हुए कहा है–''शक्ति की पहचान का तात्कालिक कारण प्रतिष्ठा है। जिस वर्ग के पास जितनी अधिक प्रतिष्ठा है उस वर्ग के पास उतनी ही अधिक शक्ति है।''

इसी प्रकार शक्ति और प्रभाव के बीच बहुत घनिष्ठ संबध है। परंतु इन दोनों के बीच विभाजन रेखा खींचना इसलिए आवश्यक है कि जिस प्रकार एक प्रभावशाली व्यक्ति अपने प्रभाव का इस्तेमाल करता है इससे अलग ढंग से शक्तिसंपन्न व्यक्ति द्वारा शक्ति का इस्तेमाल होता है। एक लेखक इस अर्थ में बहुत प्रभावशाली हो सकता है कि वह अपने पाठकों के विचारों को प्रभावित करता है। निस्संदेह वह अपने विचारों को उनको इच्छाओं के खिलाफ उन पर लाद नहीं सकता। उदाहरण के लिए मार्क्स बहुत प्रभावशाली थे, परंतु वे कोई शक्ति नहीं रखते थे। दूसरी तरफ स्तालिन बहुत शक्तिशाली था क्योंकि वह उस स्थिति में था जिसमें वह प्राय: अपनी इच्छा को दूसरों पर उनकी इच्छा के खिलाफ लाद सकता था। यह संदेहास्पद है कि मार्क्स की तरह वह कभी प्रभावशाली रहा। इसलिए इन दोनों प्रघटनाओं को अलग कर देखना जरूरी है क्योंकि शक्ति में जबर्दस्ती करने और प्रभाव मनाने वाली प्रवृत्ति होती है। एक अच्छा वक्ता बहुत प्रभावशाली हो सकता है क्योंकि वह अपने श्रोताओं को अपनी बात बताकर अपने चिंतन से प्रभावित कर सकता है परंतु वह उनकी इच्छा के खिलाफ उनसे अपनी बात नहीं मनवा सकता। वह प्रभावशाली है पर शक्तिसंपन्न नहीं।

'प्रभुत्व' शब्द भी कभी-कभी शक्ति के अर्थ में प्रयुक्त होता है। पर शक्ति और प्रभुत्व के बीच फर्क करना तुलनात्मक रूप से आसान है। शक्ति एक समाजशास्त्रीय प्रघटना है जबकि प्रभुत्व मनोवैज्ञानिक। शक्ति व्यक्ति या समूह में निहित होती है और प्रभुत्व समूह में निहित होता है। शक्ति विभिन्न शर्तों के अनुसार कार्य करती है जो प्राय: सामाजिक है। दूसरी तरफ प्रभुत्व व्यक्तित्व या मिजाज का कार्य है। यह एक व्यक्तिगत गुण है। ''एक डरपोक डाकू जो अपनी बंदूक दिखाता है अपने निहत्थे शिकार से ज्यादा शक्ति रखता है यद्यपि अपने सामाजिक संबंध में दूसरा ज्यादा प्रभुत्वशाली और आक्रामक हो सकता है। इस फर्क का एक सबसे महत्त्वपूर्ण पहलू यह है कि प्रभुत्वसंपन्न व्यक्ति शक्तिहीन समूहों के बीच और दब्बू लोग शक्तिशाली समूहों में भूमिका अदा कर सकते हैं।'' इससे ज़ाहिर होता है कि प्रभुत्व सामाजिक मनोविज्ञान की समस्या है और शक्ति समाजशास्त्र की।

हमने एक ओर इज्जत, प्रभाव और प्रभुत्व और दूसरी ओर शक्ति के बीच फर्क देखा। शक्ति के अर्थ को भ्रम से दूर रखने के लिए दो और फर्क किए जा सकते हैं। ये फर्क शक्ति और बल तथा शक्ति और सत्ता के बीच हैं।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

दिए गए कथन में से सही (✓) और गलत (✗) छाँटिए–

1. सत्ता राज्य व्यवस्थारूपी शरीर की आत्मा है। ☐
2. यूनेस्कों की एक रिपोर्ट के अनुसार सत्ता वह शक्ति हैं जो स्वीकृत, सम्मानित ज्ञान एवं औचित्यपूर्ण हो। ☐
3. 'स्टालिन' जर्मनी का तानाशाह शासक था। ☐

नोट

बल अभिव्यक्ति शक्ति के रूप में परिभाषित हो सकती है। जब एक डाकू हाथ में रिवाल्वर लेकर अपने शिकार को धमकी देता है कि मुझसे तुम्हारा पैसा या जिदंगी चाहिए तो वह साफ तौर पर बल का इस्तेमाल कर रहा है और शिकार के सामने दो ही विकल्प रखता है। रिवॉल्वर से लैस डाकू नि:संदेह एक बलवान व्यक्ति है। उसकी शक्ति उस बल में अभिव्यक्त होती है जो वह अपने शिकार के खिलाफ इस्तेमाल करता है। इस अर्थ में बल एक अभिव्यक्त शक्ति है। हम इसी बात को दूसरे परिप्रेक्ष्य में देख सकते हैं। शक्ति को एक प्रयुक्त बल के रूप में देखा जा सकता है। डाकू के पास बल है, जिसका प्रयोग वह तब कर सकता है जब उसे ज़रूरत पड़े। शक्ति और बल इस प्रकार एक दूसरे से जुड़े हैं।

जब हम सत्ता और शक्ति के बीच के संबंधों पर विचार करते हैं तो यह बात ध्यान देने की है कि सत्ता विशुद्ध राजनीतिक प्रघटना नहीं है। सत्ता समाज के राजनीतिक संगठन में ही नहीं होती बल्कि समाज के सभी संघों में निहित होती है। इस बात से कोई फर्क नहीं पड़ता कि यह कितनी छोटी या कितनी अस्थाई है।

सत्ता की प्रकृति पर विचार करने से पहले यह जरूरी है कि इसे दो अन्य बातों से अलग कर देखा जाए जिनके साथ-साथ इसे कभी-कभी भ्रमवश पर्यायवाची समझ लिया जाता है। इनमें से पहली योग्यता है। कभी-कभी हम किसी व्यक्ति की योग्यता को बताने के लिए अधिकार शब्द का इस्तेमाल करते हैं। हम स्वयं किसी की योग्यता का सम्मान कर सकते हैं, पर सत्ता का मतलब अधीनता स्वीकार कर लेना है। अर्थात् योग्यता प्रभाव पैदा करती है और सत्ता आज्ञाकारिता।

कभी-कभी भ्रमवश सत्ता शब्द को नेतृत्व शब्द का भी पर्यायवाची समझ लिया जाता है। कुछ समाजशास्त्रियों के विचार में मैक्स वेबर मुख्य रूप से इस भ्रम के लिए जिम्मेदार थे। उन्होंने तीन तरह की सत्ता की बात की परंपरागत, विवेकसम्मत-कानूनी और करिश्माई। प्रथम दो को हम सचमुच सत्ता मान सकते हैं जहाँ निर्णय-शक्ति समूह या समाज द्वारा प्रदान की जाती है। तीसरे के अर्थ में आवश्यक चीज नेतृत्व है। ''एक करिश्माई या चमत्कारिक नेता दूसरे आदिमियों से अलग माना जाता है। वह उन्हीं लोगों में से ऊपर उठता है क्योंकि वह दैव द्वारा वरदान के रूप में प्राप्त होता है। उसके पास कुछ दैविक शक्ति होती है, और खासकर एक ठोस चुम्बकीय शक्ति होती है। वह न्याय की चहारदीवारी से बाहर काम करता है। वह समाज में कोई संगठन नहीं चाहता क्योंकि वह अपना संगठन बनाता है जो नया और कभी-कभी क्रांतिकारी भी होता है।''

क्या आप जानते हैं गाँधी जी और लेनिन चमत्कारिक नेता थे। लेकिन सदैव क्रांतिकारी नेतृत्व भी सत्ता नहीं होता।

परंतु नेतृत्व यहाँ तक कि क्रांतिकारी नेतृत्व भी सत्ता नहीं है। इसी प्रकार योग्य व्यक्ति के संदर्भ में भी कहा जा सकता है कि किसी व्यक्ति के लिए ऐसी विवशता नहीं होती कि वह अपनी इच्छा के खिलाफ नेता की मर्जी को माने। सत्ता के साथ स्थिति बिल्कुल अलग है। ''एक नेता केवल प्रार्थना कर सकता है जबकि सत्ता आवश्यकता बता सकती है।'' नेतृत्व के मामले में नेता का व्यक्तिगत गुण बहुत महत्त्वपूर्ण होता है। सत्ता के मामले में रिश्ते व्यक्तिगत नहीं होते। कोई व्यक्ति या समूह जो समाज द्वारा विश्वस्त और मान्यता प्राप्त हो और जो मानने योग्य आदेश जारी करता हो, सत्ता को केंद्र माना जा सकता है। ''नेतृत्व के रिश्ते में व्यक्ति प्राथमिक होता है जबकि सत्ता में व्यक्तिगत पहचान अप्रासंगिक होती है।'' योग्यता की तरह ही नेतृत्व प्रभाव का ही एक रूप है। दूसरी तरफ सत्ता शक्ति का प्रकार्य है।

सत्ता तथा योग्यता और नेतृत्व के बीच फर्क करने के बाद हम सत्ता के अर्थ को देखेंगे। सत्ता हमेशा सामाजिक संगठन का तत्व है। जहाँ संगठन नहीं है वहाँ सत्ता नहीं है। इतना ही नहीं सत्ता का प्रयोग उस संगठन की सीमा से बाहर कभी नहीं होता जिसमें यह संस्थाबद्ध होता है और जो इसे मान्यता एवं सहायता प्रदान करता है।''

इसके अलावा सत्ता हमेशा पदों से जुड़ी होती है, न कि किसी व्यक्ति के साथ। उदाहरण के लिए एक व्यक्ति प्राचार्य की सत्ता का तभी तक प्रयोग करता है जब तक वह उस पद पर होता है और जब वह इस्तीफा दे देता है, हटा दिया जाता है या सेवा निवृत्त हो जाता है तो इसका प्रयोग नहीं कर सकता।'' सत्ता का प्रयोग पूर्णत: और सचमुच विशिष्ट अर्थ में एक सांगठनिक पद से जुड़ा है।''

नोट

सत्ता को समझने के लिए इस प्रक्रिया को समझना महत्त्वपूर्ण है जिसके अंतर्गत कोई असंगठित समूह संगठित समूह बन जाता है। प्रथम तो अनौपचारिक प्रक्रियाएँ और एक दूसरे से घुलने मिलने के तौर तरीके पदों के रूप में बदलने से औपचारिक संगठन या संघ बनते हैं। ऐसे संस्थाकरण ''संगठन के स्थायित्व की गारंटी के लिए'' आवश्यक हैं।

हमें अब एक सवाल का जवाब देना है यह सत्ता क्या है जो कुछ लोगों को दूसरों पर अपनी सत्ता का इस्तेमाल करने का अवसर देती है? उत्तर यह है कि जो व्यक्ति सत्ता (आथोरिटी) का इस्तेमाल करता है वह समूह का एजेंट है। वह स्वयं नहीं बल्कि समूह के नाम से काम करता है। इसलिए यह स्पष्ट है कि सत्ता के आदेश को न मानना ''व्यक्तिगत संबंध को नहीं, बल्कि समूह के अनवरत अस्तित्व को धमकी है।''

दूसरा सवाल है कि सत्ता-जोर जबर्दस्ती से या सम्मति से इस्तेमाल होने वाली प्रघटना है। अर्थात् क्या एक व्यक्ति, जो उच्च सत्ता के आदेश को मानता है, ऐसा इसलिए करता है क्योंकि ऐसा उसे करना पड़ता है या वह ऐसा करना चाहता है? उत्तर 'हाँ' और 'नहीं' दोनों में है। यह उस संगठन के प्रकार पर निर्भर करता है जिससे हम संबद्ध हैं। एक स्वयंसेवी संस्था में सदस्यता सम्मति का मामला है और लोग अपनी मर्जी से इसकी मान्यताओं को स्वीकार करते हैं। परंतु दूसरी तरफ गैर-स्वयंसेवी या अनैच्छिक संगठनों में सदस्य अपनी मर्जी से सदस्यता वापस नहीं ले सकता और ऐसे संगठनों में सत्ता इस्तेमाल करते समय जबर्दस्ती बहुत आवश्यक है। इसलिए कहा जाता है कि स्वयंसेवी संस्था में सत्ता ''संस्थागत नेतृत्व'' और गैर स्वयंसेवी संस्था में यह ''संस्थागत शक्ति'' है।

समाधान बहुत सुखद नहीं है। स्वयंसेवी संस्थाओं में एक व्यक्ति शामिल होने के लिए स्वतंत्र हैं। अगर फिर भी वह जिम्मेदारी पूरी करने से मना करता है तो उससे इस्तीफा देने के लिए सिर्फ कहा जाएगा। स्वीकृति का तत्व सदस्यता के लिए आवश्यक है सत्ता की स्वीकृति के लिए नहीं। इस दृष्टि से सत्ता की प्रघटना संस्थागत नेतृत्व से अनुपस्थित नहीं है। इसलिए यह जोर देकर कहना आवश्यक है कि सत्ता हमेशा शक्ति पर आधारित प्रघटना है और सत्ता को संस्थागत शक्ति के रूप में परिभाषित करना चाहिए।

9.9 अभिजात या प्रभुवर्ग (इलीट) का सिद्धांत (Theories of Elite)

प्रभुवर्ग का सिद्धांत सर्वप्रथम इटली के दो समाजशास्त्रियों विलफ्रेडो पेरेटो (Vilfredo Pareto) (1848-1923) और गाटानो मोस्का (Gaetano Mosca)(1858-1941) ने विकसित किया। प्रभुवर्ग का सिद्धांत मार्क्सवादी सिद्धांत के प्रतिक्रियास्वरूप विकसित हुआ। इसने मार्क्सवादी वर्ग विहीन समाज को भ्रम कहकर खारिज कर दिया। इस सिद्धांत के अनुसार सारे समाज दो मुख्य समूहों में बँटे हैं–शासक अल्पसंख्यक और शासित बहुसंख्यक। इस प्रकार के समाज को समाज स्वीकार करना अपरिहार्य है चाहे वह पूँजीवादी समाज हो या समाजवादी। सर्वहारा क्रांति का मतलब भी एक शासक वर्ग का दूसरे शासक वर्ग द्वारा प्रतिस्थापन है।

पेरेटो और मोस्का के अनुसार अभिजात वर्ग का व्यक्ति अपने व्यक्तिगत गुण और योग्यताओं के कारण उच्चता को प्राप्त करता है। पर पेरेटो और मोस्क व्यक्तिगत गुणों की प्रकृति के विषय में भिन्न मत रखते हैं। पेरेटो जहाँ धूर्तता और चातुर्य जैसे व्यक्तिगत गुणों को शक्ति की पूर्व शर्त मानते हैं वहाँ मोस्क सांगठनिक योग्यता और नेतृत्व जैसे व्यक्तिगत गुणों को शक्ति की पूर्व शर्त मानते हैं। प्रभुवर्ग के सिद्धांत के बाद के संस्करण शक्ति का सुख पाने वालों के व्यक्तिगत गुणों पर जोर नहीं देते बल्कि समाज के संस्थागत ढाँचे पर जोर देते हैं। यह कहा गया है कि सामाजिक संगठनों का संस्तरण मूलक ढाँचा अल्पसंख्यक के रूप में सत्ता पर एकाधिकार की अनुमति देता है।

9.10 विलफ्रेडो पेरेटो : कुलीन का प्रचलन (Vilfredo Pareto : Circulation of Elites)

शताब्दियों तक मानव प्रकृति से जोड़कर मनुष्य के व्यवहार की व्याख्या करने की कोशिश की जाती रही है। शायद किसी समाजशास्त्री द्वारा मनुष्य की प्रवृत्तियों के अध्ययन की पहली कोशिश विलफ्रेड पेरेटो द्वारा की गई।

नोट

वह मनुष्य के आचरण को मनुष्य के कुछ सतत प्राकृतिक तत्वों से उत्प्रेरित् बताते हैं और इन्हें 'अवशेष' (रेसिड्यू) कहते हैं। वे 'अवशेषों' को छः मुख्य भागों में बाँटते हैं संयोजनों के अवशेष (चीजों को जोड़ने या उन्हें जोड़कर सोचने की क्षमता), समूह सातत्य या कुल सातत्य (अनुदार प्रवृत्ति), आत्माभिव्यक्ति, सामाजिकता, व्यक्तिगत एकता और लिंग। पेरेटो के अनुसार ये मनुष्य के आचरण की सच्ची प्रवृत्तियाँ हैं। परंतु इन्हें हर तरह की कमजोर और गुमराह करने वाली व्याख्याओं के कारण दमित होना पड़ता है जिन्हें वह व्युत्पत्ति (Derivation) कहते हैं। उनकी व्याख्या के अनुसार व्युत्पत्ति और कुछ नहीं बल्कि गैर तार्किक क्रियाओं की तार्किक व्याख्या है। पेरेटो मनुष्य की इस प्रवृत्ति की ओर इशारा करते हैं कि वह उद्देश्यों को विवेकसम्मत बनाता है। वे कहते हैं कि कर्त्तव्य, सम्मान और राष्ट्रभक्ति जैसे उच्च नामों के अंतर्गत अपने स्वार्थी उद्देश्यों को वह छिपाता है जिससे वह दूसरों और हमारी अपनी नजरों में अच्छा साबित हो सके।''

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

सही विकल्प चुनकर रखिए–

4. शक्ति की परिभाषा किसने दी है–''शक्ति की पहचान का तात्कालिक कारण प्रतिष्ठा है।''
   (क) कार्ल मार्क्स (ख) मैक्स वेबर (ग) ई.ए. रॉस
5. यह कथन किसका है–इतिहास सदैव 'कुलीन तंत्रों की कब्रगाह' बना रहेगा–
   (क) जॉन मिल्स (ख) विलफ्रेडो पेरेटो (ग) मैक्स वेबर
6. अल्पसंख्यक शासक-तंत्र को 'शक्ति संपन्न प्रभुवर्ग' का नाम किसने दिया है–
   (क) विलफ्रेडो पेरेटो (ख) रेमंड एरॉन (ग) सी. राइट

क्रियाओं के सिद्धांत के विषय में विस्तृत विश्लेषण करने तथा तार्किक, अवशेषी और व्युत्पन्न क्रियाओं के बीच के फर्क को बताने के बाद पेरेटो विभिन्न क्रियाओं के स्थान के विषय में विचार करते हैं जो सामाजिक व्यवस्था के समतुल्य हो। अब विस्तृत तौर पर अध्ययन के लिए वह अवशेषों के छः भागों में से सिर्फ दो को अर्थात् संयोजी अवशेष और कुल की सतत् प्रक्रिया को सामने रखते हैं। बहुत व्यापक अर्थों में पहली कोटि पूर्ववर्ती प्रतिबद्धता या क्रमबद्धता की परिचायक हैं। ये सामाजिक समूह या पर्यावरण या स्थितियों की जरूरतों को अपनाती हैं जबकि दूसरी कोटि सामाजिक समूहों की क्रमबद्धता को बताती है जो संस्थागत होने के बाद प्रतिबद्ध होते हैं।

पेरेटो ने सामाजिक वर्गीकरण के सिद्धांत में अभिजात तत्व को शामिल कर एक सामान्य व्यावहारिक अध्ययन किया है। वह स्वयं को इस प्रकार की व्यवस्था के अध्ययन के अति साधारण स्तर तक सीमित रखते हैं। वह सिर्फ अभिजात समूहों के बीच फर्क करते हैं जो बहुत सारे मामलों में राजनीतिक शक्ति पर नियंत्रण रखते है। इसके बाद वह उस समूह का विवेचन करते हैं जो समाज का बहुसंख्यक हिस्सा है और जिनके पास तुलनात्मक रूप से कम शक्ति, इज्जत और धन है।

पेरेटो मनोवैज्ञानिक विशेषता को कुलीन शासन का आधार मानते हैं। उनके विचार में कुलीन शासक के दो प्रकार हैं जिनको मैकियावेली का अनुकरण करते हुए वह 'शेर' और 'लोमड़ियाँ' (Foxes) कहते हैं। शेर वे हैं जो कुल सातत्य के द्वारा ज्यादातर मूर्त बनाए जाते हैं। पेरेटो दिखाता है कि राजनीतिक संदर्भ में शेर की प्रतिबद्धता व्यवस्था और मूल्य में विश्वास कर इस बात के लिए तैयार रहना है कि शक्ति और शक्ति के शासन का सहारा लिया जाय। फौजी शासन इस प्रकार के शासकीय प्रभुवर्ग का एक उदाहरण है। 'लोमड़ी' संयोजनों के अवशेष से ज्यादा सच दिखाई पड़ते हैं। एक राजनीतिक संदर्भ में लोमड़ के लचीलेपन और अनुकूलता का अर्थ यह है कि वे लोग राजनीतिक व्यवस्था की स्थिरता के विषय में ज्यादा चिंतित नहीं हैं जिसमें वे काम करते हैं। लोमड़ धूर्तता, बेइमानी और जोड़-तोड़ से शासन करते हैं। इस प्रकार पेरेटो तर्क देते हैं कि सत्तासीन प्रभुवर्ग के सदस्य अपने पदों के अधिकार शेर या लोमड़ जैसे अपने व्यक्तिगत गुणों से पाते हैं।

तब वह यह विचार व्यक्त करता है कि अभिजात वर्ग की संरचना बदलती रहती है। यह चक्रीय विधि से बदलती है जिसे पेरेटो 'कुलीन का प्रवाह' कहते हैं। सारे अभिजात लोग अपने गुणो को क्षय करते हैं और अपनी शक्ति

नोट

खोते हैं। वे आसान जिंदगी के आदी होते हैं। वे कोमल और निष्प्रभावी हो सकते हैं। कार्यालय के विशेषाधिकार उनको जड़ और मूढ़मति बना सकते हैं और बदलती परिस्थितियों में भी वे कठोर अपरिवर्तनीय बने रह सकते हैं। फिर एक अभिजात वर्ग का व्यक्ति अपने समकक्षों के गुणों से हीन हो सकता है। ''शेरों की कोटि के अभिजात लोग कल्पना और धूर्तता में कमतर होते हैं। इसलिए उन्हें जनता में से लोमड़ियों को भर्ती करना पड़ता है जिससे इस कमी को पूरा किया जा सके। क्रमशः लोमड़ पूरे अभिजात वर्ग में प्रवेश कर जाते हैं और इस प्रकार इसका चरित्र परिवर्तित कर देते हैं। लोमड़ यद्यपि निर्णायक कार्य करने की योग्यता नहीं रखते जो कि सत्ता को बनाये रखने के लिए बहुत आवश्यक है। शेरों का संगठित अल्पसंख्यक जो मजबूत सरकार को बनाये रखने के लिए प्रतिबद्ध होता है, विकास करता है और अभिजात गीदड़ों के शासन को उखाड़ फेंकता है।''

मार्क्सवादियों और पेरेटो के बीच वर्ग व्यवस्था को परिवर्तित करने के सवाल पर मतभेद ध्यान देने योग्य हैं। पेरेटो कहते हैं कि कुलीनों के पतन का कारण उनकी संख्या और उनके गुण में ह्रास है। मार्क्सवादी जोर देते हैं कि समाज की भौतिक अवस्था आवश्यक रूप से वर्ग शक्ति में परिवर्तन करती है। मार्क्स के अनुसार साम्यवादी आदर्श-व्यवस्था के बाद इतिहास समाप्त हो जाता है, परंतु पेरेटो के अनुसार इतिहास अभिजातों का कभी नहीं समाप्त होने वाला प्रवाहमय चक्र है। पेरेटो के अनुसार ''वस्तुतः कुछ भी वस्तुतः कभी नहीं बदलता, इतिहास है तथा सदैव 'कुलीन तंत्रों की कब्रगाह' बना रहेगा।

पेरेटो ने अभिजातों के प्रवाह का जो सिद्धांत दिया है उससे बहुत सारे आनुभविक सामान्यीकरण सामने आए हैं। शब्दावली में पेरेटो का विश्लेषण ''एक जीवंत समाज में परिवर्तन की प्रक्रिया की एक महत्त्वपूर्ण संगति'' पर प्रकाश डालता है (पश्चिम की तरह, प्राचीन और आधुनिक दोनों इनमें शामिल हैं) जिसके विभिन्न चरणों में बारी-बारी से उत्प्रेषक-अनुकूलनकारी और रूढ़िवादी-पश्चिमगामी समूहों का वर्चस्व रहा।

9.11 सारांश (Summary)

- मनुष्य समाज में अकेला ही नहीं, वरन् अन्य लोगों के साथ रहने के दौरान वह दूसरों को प्रभावित भी करता है और स्वयं भी दूसरों से प्रभावित होता है।
- यदि एक व्यक्ति अपनी बात मनवाने में बल प्रयोग करता है अथवा बल प्रयोग करने की धमकी देता है तो वह शक्ति कहलाती है। जब शक्ति को वैधानिक स्वीकृति मिल जाती है तो उसे सत्ता कहते हैं। प्रत्येक संगठित समूह में सत्ता के तत्व मूल रूप से मौजूद रहते हैं। सत्ता विशेष रूप से आर्थिक आधारों पर आधारित होती है।
- जिनके पास संपत्ति एवं उत्पादन के साधन होते हैं। इसलिए ही पूँजीपति वर्ग उत्पादन के साधनों एवं मजदूरों की सेवाओं पर अधिकार पाने का प्रयत्न करते हैं और मजदूर भी अपने श्रम के बदले अधिकाधिक अधिकार पाने का प्रयत्न करते हैं।
- राजनीतिक क्षेत्र में सत्ता एक महत्त्वपूर्ण अवधारणा है। सत्ता शक्ति, प्रभाव एवं नेतृत्त्व से जुड़ी हुई हैं जब शक्ति को वैधानिक स्वीकृति मिल जाती है तो उसे सत्ता कहते हैं।
- 'प्रभुत्व' शब्द भी कभी-कभी शक्ति के अर्थ में प्रयुक्त होता है। पर शक्ति और प्रभुत्व के बीच फर्क करना तुलनात्मक रूप से आसान है। शक्ति एक समाजशास्त्रीय प्रघटना है जबकि प्रभुत्व मनोवैज्ञानिक। शक्ति व्यक्ति या समूह में निहित होती है और प्रभुत्व समूह में निहित होता है।
- जब हम सत्ता और शक्ति के बीच के संबंधों पर विचार करते हैं तो यह बात ध्यान देने की है कि सत्ता विशुद्ध राजनीतिक प्रघटना नहीं है। सत्ता समाज के राजनीतिक संगठन में ही नहीं होती बल्कि समाज के सभी संघों में निहित होती है। इस बात से कोई फर्क नहीं पड़ता कि यह कितनी छोटी या कितनी अस्थाई है।
- अभिजात वर्ग की संरचना बदलती रहती है। यह चक्रीय विधि से बदलती है जिसे पेरेटो 'कुलीन का प्रवाह' कहते हैं। सारे अभिजात लोग अपने गुणो को क्षय करते हैं और अपनी शक्ति खोते हैं। वे आसान जिंदगी के आदी होते हैं। पेरेटो कहते हैं कि कुलीनों के पतन का कारण उनकी संख्या और उनके गुण में ह्रास है।

नोट

- अभिजात्य सत्ता को आगे और जोड़ने वाली चीज इन सदस्यों की सामाजिक पृष्ठभूमि की एकता, इन तीनों का अंतर्सम्बंध व इनकी आपसी एकरूपता है। उनकी शैक्षिक पृष्ठभूमि, मूल्य और जीवन-शैली एक समान होती हैं और जैसी कि आशा की जाती है इनके बीच आपसी विश्वास, समझदारी और सहयोग होता है।

9.12 शब्दकोश (Keywords)

1. **सत्ता**–शक्ति, अधिकार, प्रभुत्व, सामर्थ्य।
2. **शक्ति**–ताक़त, बल, योग्यता, क्षमता, पराक्रम।

9.13 अभ्यास-प्रश्न (Review Question)

1. सत्ता एवं शक्ति को परिभाषित करते हुए दोनों में अंतर स्पष्ट कीजिए।
2. 'शक्ति' से संबंधित विभिन्न विद्वानों के विचारों की व्याख्या कीजिए।
3. विलफ्रेडो पेरेटो की अभिजात अथवा कुलीन की व्याख्या पर अपने विचार प्रकट कीजिए।
4. सी. राइट के 'द् पावर ऑफ इलीट' में व्यक्त अभिजात्य शक्ति से संबंधित विचारों पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer : Self Assessment)

1. (✓) 2. (✓) 3. (✗)
4. (ग) 5. (ख) 6. (ग)

9.14 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. फंडामेंटल्स ऑफ़ सोश्योलॉजी–*गिसबर्ट, पास्कल 2006, ओरिएंट लॉंग्मैन।*
2. डायनमिक्स ऑफ सोशल इंस्टीट्यूशंस–*अज़हर शेख़, सब्लाइम पब्लिकेशंस, 2008.*
3. इंडियन सोसाइटी एंड सोशल इंस्टीट्यूशंस–*(2 वॉल्यूम्स सेट) एन. जयापालन, एटलांटिक।*

नोट

इकाई–10 : नौकरशाही (Bureaucracy)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)
प्रस्तावना (Introduction)
10.1 नौकरशाही एक परिचय (An Introduction of Bureaucracy)
10.2 नौकरशाही की अवधारणा (The Concept of Bureaucracy)
10.3 मैक्स वेबर की नौकरशाही के प्रति अवधारणा (The Concept of Bureaucracy as Stated by Max Weber)
10.4 राजनीतिक समाजीकरण (Political Socialization)
10.5 सारांश (Summary)
10.6 शब्दकोश (Keywords)
10.7 अभ्यास-प्रश्न (Review Question)
10.8 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- नौकरशाही की अवधारणा को समझने में।
- राजनीतिक समाजीकरण की प्रक्रिया को समझने में।

प्रस्तावना (Introduction)

राजनीति का अस्तित्व, सत्ता से है। राजनीतिक सत्ता का अंतरंग भाग नौकरशाही है, सत्ता का महत्त्व उसके पद से आँका जाता है। क्षमता तथा दायित्व के निर्वाह के लिए एक सत्ता को ऐसे द्वितीयक समूह का निर्माण करना पड़ता है जो सत्ता की रीति-नीति का क्रियान्वयन कर सके। सत्ता का अस्तित्व तभी तक है जब तक वह अधिकारों का उपयोग करती है। सत्ता के अधिकार सामूहिक रूप से प्रभाव डालते हैं। सत्ता के अधिकारों का क्रियान्वयन राजसत्ता के तंत्र अर्थात् नौकरशाही के बिना नहीं हो सकता।

नौकरशाही वह गाड़ी है, जिसके बिना राजनीतिक सत्ता चल नहीं सकती। यह राज्य के तंत्र का महत्त्वपूर्ण भाग है। राजनीतिक समाजशास्त्रियों ने नौकरशाही का अध्ययन, समाजशास्त्रीय आधारों पर करने पर बल दिया है। **सीमोर मार्टिन लिपसेट** के शब्दों में–'राजनीतिक समाजशास्त्रियों ने नौकरशाही के अध्ययन को राजनीतिक संगठन से पृथक् कर दिया है। उन्होंने इसके अंतर्गत सभी प्रकार के संगठनों को सम्मिलित किया है। यथा–अस्पताल, व्यावसायिक संस्थान, फैक्ट्रियाँ, धार्मिक संस्थाएँ, श्रमिक संगठन।' राजनीतिक समाजशास्त्री यह जानने के लिए अधिक उत्सुक रहे हैं कि सत्ता तथा नौकरशाही किस प्रकार इनको प्रभावित करती है। नौकरशाही, सरकार को प्रभावित करती है या नौकरशाही को निर्देशित करती है।

10.1 नौकरशाही : एक परिचय (An Introduction of Bureaucracy)

नोट

राजनीतिक समाजशास्त्रियों की धारणा है कि नौकरशाही एक सामाजिक तंत्र है जो सत्ता के क्रियाकलाप तथा इच्छाओं को क्रियान्वित करता है। नौकरशाही एक सामाजिक समूह और अपनी कुछ विशेषताओं के कारण यह अन्य सामाजिक समूहों से पृथक् है। चूँकि यह समूह, सत्ता के साथ मिलकर कार्य करता है, इसलिये राजनीतिक समाजशास्त्र इसके कार्यों की जाँच करता है, विशेष रूप से इसके अकार्यों (Disfunctions) की जाँच करता है।

मैक्स वेबर ने नौकरशाही के अध्ययन की धारणा को परंपरागत आदर्शों तथा मानवों से हटकर विचार किया है। उसके अनुसार किसी भी औद्योगिक समाज में लक्ष्य प्राप्ति के लिए नौकरशाहीकरण की आवश्यकता अनुभव होती है। वर्तमान समाज की जटिलताओं एवं बढ़ते खर्चों ने नौकरशाहीकरण को प्रश्रय दिया है। आज के समाज में आमने-सामने के संबंधों के आधार पर प्रगति की कल्पना नहीं की जा सकती।

आधुनिक जीवन की सामाजिक संरचना पूर्णत: भिन्न है। विभिन्न भूमिकाएँ, संस्थाओं, हित आदि ने चिंतन को नई दिशा दी है। **एस.एन. आइजनडेट** के शब्दों में–'समाज में विभिन्न प्रकार की संस्थाओं को परस्पर प्रतियोगिता करनी पड़ती है। संसाधन, मानव शक्ति एवं उद्देश्य प्राप्ति के लिए सेवा के नये अवसरों का विकास करना पड़ता है। इसमें मुख्य इकाई को नियमित एवं प्रशासनिक समस्याओं का सामना करना पड़ता है।'

मैकआइवर एवं पेज ने वर्तमान जटिल समाज में व्यवस्था का विश्लेषण करते हुए कहा है–''आधुनिक समाज की माँग है, औपचारिक नियम, औपचारिक सत्ता एवं अधिकार, हितों तथा लाभ का सीमांकन, संपूर्ण इकाई के संदर्भ में छोटी-छोटी उपइकाइयों में श्रम-विभाजन, इसे यों कह सकते हैं–सावधानीपूर्वक बनाया गया संगठनात्मक प्रारूप और प्रारूप है–नौकरशाही।

मैक्स वेबर के अनुसार नौकरशाही की विशेषताएँ इस प्रकार हैं–

1. विशेष क़ानूनों तथा नियमों के अंतर्गत अधिकारिक (Official) सीमा में निहित क्षेत्र, इसमें व्यक्ति किसी पद पर स्थापित होता है। उसके पद के अनुरूप उसे अधिकार प्राप्त होते हैं, इस पद का उसके निजी जीवन से कोई संबंध नहीं होता।
2. प्रत्येक पद सत्ता के उच्चोपक्रम (Hierarchy) से संपन्न होता है। उससे नीचा प्रत्येक पद उसके अधीन होता है।
3. संगठन का प्रशासन लिखित दस्तावेज के आधार पर किया जाता है। इसके लिए विशेष प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है।
4. नौकरशाही में चयन योग्यता तथा क्षमता की निष्पत्ति के आधार पर किया जाता है। किसी पद के अनुरूप योग्यता तथा क्षमता का होना पद प्राप्ति के लिए आवश्यक है।
5. जिस व्यक्ति की पूर्णकालिक नियुक्ति होती है और वह बहुत सख्त है, तो भी वह अक्षम सिद्ध हो जाता है।
6. प्रशासक अपने कार्य का मूल्यांकन, कैरियर की प्रगति के आधार पर करते हैं, यह मूल्यांकन योग्यता, पद की प्राप्ति हेतु किया जाता है।

इन विशेषताओं के आधार पर कहा जा सकता है कि आधुनिक समाज में नौकरशाही सजग तथा तार्किक साधन है जो समाज, समुदाय तथा समूह को व्यवस्था प्रदान करती है। वेबर की धारणा को नकारा नहीं जा सकता। नौकरशाही समाज की तार्किक (Rationable), व्यवस्थित (Orderly) तथा वस्तुनिष्ठ (Objective) तंत्र (Setup) प्रदान कती है, इसके सदस्य व्यावसायिक सुरक्षा प्राप्त करते हैं, उन्हें सेवा काल में वेतन, भविष्य निधि, पेंशन आदि का लाभ मिलता है, इसलिए नौकरशाही समूह में अपने कर्त्तव्य के प्रति निष्ठा पाई जाती है। नौकरशाही में अपने पद के प्रति लगाव होता है। वह उत्पादन करने वाले श्रमिकों से अलग होता है। वह काम लेती है, काम करती नहीं है।

इसीलिए नौकरशाही में अनुशासन तथा संकल्प पाया जाता है। कर्त्तव्य निर्वाह के समय वे नियम पालन करते हैं, प्रत्येक कार्य को वे अपनी इच्छा या अन्य नियमों को बलात् ताक पर रखकर नहीं करते, इसीलिए कहा जा सकता

नोट

है कि नौकरशाही का तंत्र, व्यवस्थित, नियमित, अनुशासित एवं सक्षम है, इसके विपरीत यदि नौकरशाही कुछ करती है, तो वह उसके अकार्य कहे जाते हैं, आर.के. मर्टन ने इसे नौकरशाही के लिए अकार्य कहा है।

जहाँ तक अनुशासन की बात है–नौकरशाही की जीवन-शैली का एक अंग बन जाता है, वह जीवन मूल्य के रूप में विकसित होता है। सामान्य हित, सजातीय दायित्व भावना तथा अपने हितों की पूर्ति महत्त्वपूर्ण है। यों नौकरशाही, आहत दंभ के कारण सरकार को भी हानि पहुँचाती है। नौकरशाही की एक विशेषता है–सत्ता से जुड़ा रहना। वह सत्ता का क्रियान्वयन करती है। उसमें स्वयं को शक्ति संपन्न करने की अनुभूति उत्पन्न होती है। अधिनायकवादी स्थिति में सत्ता के सभी केंद्र उसमें निहित हो जाते हैं।

जनतंत्र तथा नौकरशाही (Democracy and Bureaucracy)–यह भी सत्य है कि मदान्ध नौकरशाही मूल्यहीन हो जाती है, परंतु यह भी उतना ही सच है कि नौकरशाही में मूल्य संदर्भ पाये जाते हैं। प्रत्येक नौकरशाही में संस्थागत संरचना के अनुसार मूल्य व्यवस्था पाई जाती है। इस मूल्य व्यवस्था में अनेक मूल्य व्यवस्थाएँ पायी जाती हैं। प्रजातांत्रिक समाज में नौकरशाही में प्रजातांत्रिक मूल्य व्यवस्था पाई जाती है। यह मूल्य व्यवस्था ही नौकरशाही पर बाह्य तथा आंतरिक नियंत्रण रखती है। प्रजातंत्र में वित्त-विभाग, अन्य सभी विभागों पर नियंत्रण करता है कि नौकरशाही उस पर भी हावी रहती है। इसलिए बाह्य नियंत्रण की आवश्यकता होती है।

यद्यपि नौकरशाही संपूर्ण प्रजातांत्रिक व्यवस्था पर नियंत्रण करती है, फिर भी प्रजातंत्र में राजनीतिक कार्यपालिका उसे नियंत्रित तथा निर्देशित करती है। सार्वजनिक सेवाओं में नियुक्ति कार्यपालिका के अधिकार में होती है। राजनीतिक सत्ता तथा नौकरशाही पर नियंत्रण करने के लिए लोकपाल की व्यवस्था भी कई देशों में है साथ ही–(1) प्रतिनिधि नौकरशाही, (2) पार्टी राज्य नौकरशाही, (3) सेना नियंत्रित नौकरशाही, (4) शासक नियंत्रित नौकरशाही, (5) शासक नौकरशाही जैसे अनेक क़ानून पाये जाते हैं।

प्रतिनिधि नौकरशाही राजनीतिक शक्तियों के प्रति उत्तरदायी होती है। पार्टी नौकरशाही किसी एक पार्टी से जुड़ी रहती है, सेना नौकरशाही से सेना राज्य पर नियंत्रण करती है। शासक नियंत्रित नौकरशाही अधिनायकवाद पर आधारित होती है और शासक नौकरशाही में उपनिवेशवाद की झलक दिखाई पड़ती है।

नौकरशाही, एक शक्तिशाली एकाधिकारी सामाजिक समूह है। इसका कार्य नियमों को लागू करना है और कभी-कभी निर्माण की प्रक्रिया में भाग लेना भी है। राजनीतिक समाजशास्त्र में नौकरशाही की संरचना, भूमिका तथा पद, कार्य तथा अकार्य, सभी का अध्ययन किया जाता है। भारत में राष्ट्रीय, प्रादेशिक तथा स्तर सेवाओं में नौकरशाही का चयन, प्रतियोगी परीक्षाओं के माध्यम से किया जाता है। साक्षरता कम होने के कारण यहाँ निर्धन वर्ग नौकरशाही का अंग नहीं बन पाता। मध्यम वर्ग के लिए नौकरशाही एक व्यवसाय के रूप में उभरी है।

10.2 नौकरशाही की अवधारणा (The Concept of Bureaucracy)

नौकरशाही एक ऐसा समुदाय या समूह है जो राजसत्ता के कार्यों का निष्पादन करने के लिए उत्तरदायी है। इस समूह तंत्र में लगे प्रत्येक व्यक्ति की निश्चित भूमिका है नौकरशाही शब्द फ्रेंच भाषा के ब्यूरो (Bureau) शब्द से बना है जिसका अर्थ है–लिखने के काम आने वाले मेज या डेस्क। **फाइनर** ने नौकरशाही को डेस्क गवर्नमेंट कहा है क्योंकि शासन, प्रशासन द्वारा ही डेस्क पर महत्त्वपूर्ण निर्णय लेता है और अपनी प्रणाली को आगे बढ़ाता है।

नौकरशाही की समाजशास्त्रीय व्याख्या मैक्स वेबर ने सर्वप्रथम की थी, साथ ही कुछ अन्य विद्वानों ने भी इसकी परिभाषा की है। हम यहाँ पर नौकरशाही की परिभाषाएँ दे रहे हैं–

1. **मैक्स वेबर–**'नौकरशाही विशेष योग्यता, निष्पक्षता और मानवता के अभाव के लक्षण युक्त प्रशासकीय व्यवस्था है।'

   "Bureucracy is a system of administration characterised by expertness importaility and absence of humanity."

नोट

2. **लॉस्की** (J.H. Laski)–''नौकरशाही एक व्यवस्था है, नियंत्रण है, जो अधिकारियों के इस प्रकार पूरे हाथों में है कि वे सामान्य नागरिकों की स्वतंत्रता को समाप्त करते हैं।''

   "A system, the control of which is so completely in the hands officials that their powergeopedires the liberties of ordinary citizen."

3. **आर.के मार्टन** (R.K. Merton)–''नौकरशाही, कुछ क्रियाओं को करने के लिए बनाई गई द्वितीयक समूह संरचना है, जो प्राथमिक समूहों की कसौटी के आधार पर संतोषजनक रूप से नहीं किए जा सकते।''

   "Bureaucracy is a secondary group structure designed to carry on certain activities with can not be satisfactorily performed on the basis of primary group criteria."

4. **लुइस कोसर एवं रोजेन बर्ग** (Rosenberg and Coser)–''नौकरशाही के उतार-चढ़ाव के क्रम में संगठन को उस प्रकार के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जो कि बड़े पैमाने पर प्रशासनिक कार्यों को करने में लगे बहुत से व्यक्तियों के कार्य के समायोजन को विवेकपूर्ण रूप से करने के लिए आयोजित किया जाता है।''

   "Bureaucracy may be defined as that type of hierarchial organisation which is designed rationally to co-ordinate the work of many individuals in the persuit of larger scale administrative task."

इन सभी परिभाषाओं का विश्लेषण करने पर ये तथ्य स्पष्ट होते हैं–

1. यह प्रशासनिक अवस्था है।
2. नियमों का कठोर पालन करने के कारण इसमें मानवता के प्रति सहृदयता नहीं होती। इसके विपरीत, नियम आबद्धता के कारण यह निष्पक्ष तथा दक्ष व्यवस्था होती है।
3. यह एक प्रकार का औपचारिक संगठन है।
4. नौकरशाही, आम-आदमी से अलग विशेषाधिकारों तथा परिस्थितियों का उपयोग करती है।
5. यह द्वितीयक समूह है। इसमें आमने-सामने के संबंधों का अभाव पाया जाता है।
6. इसमें समायोजन पाया जाता है।
7. इसमें पद सोपान व्यवस्था होती है।
8. इसमें उर्ध्वमुखी संस्तरण पाया जाता है।

इस विश्लेषण के आधार पर नौकरशाही के लक्षण निम्न प्रकार हैं–

1. **विशेष व्यवस्था** (Particular System)–नौकरशाही एक व्यवस्था विशेष है। इसका उद्देश्य है–बड़े संगठनों तथा उद्योगों को व्यवस्थित रूप से संचालित करना।
2. **पद सोपान** (Hicrarchy)–नौकरशाही में चपरासी, कामगार आदि से लेकर सर्वोच्च अधिकारी तक होते हैं, इसमें नीचे से लेकर ऊपर तक का व्यक्ति अपनी भूमिका का एक अंश निभाता है। पद की उच्चता के अनुसार इसकी स्थिति होती है और सुविधाएँ मिलती हैं।
3. **कर्त्तव्यों की व्याख्या** (Defining Duties)–नौकरशाही में प्रत्येक व्यक्ति द्वारा किये जाने वाले कर्त्तव्यों की व्याख्या की जाती है। कोई भी अधिकारी अपने अधिकार क्षेत्र से बाहर काम नहीं कर सकता अन्यथा वह उसके प्रति उत्तरदायी माना जायेगा।
4. **विशेषीकरण** (Specialisation)–नौकरशाही में विभिन्न पद होते हैं। प्रत्येक पद की अपनी विशेष स्थिति तथा भूमिका होती है, इसलिए प्रत्येक पद विशेषीकरण पर आधारित होता है। प्रत्येक पद के लिए किन्हीं विशेष योग्यता की आवश्यकता होती है।

नोट

5. **कर्त्तव्यपालन** (Duty Fulfilment)–नौकरशाही में प्रत्येक व्यक्ति को कुछ निर्धारित कर्त्तव्यों का पालन करना पड़ता है, इसीलिए प्रशासन में कुशलता पाई जाती है।
6. **पदोन्नति** (Promotion)–नौकरशाही में पदोन्नति का आधार वरिष्ठता है, लेकिन योग्यता के आधार पर भी पदोन्नति दी जाती है। इसलिए पदोन्नति, कुशलता को बढ़ाने का आवश्यक पक्ष है।
7. **अभिलेखों पर आधारित** (Based on Discrements)–नौकरशाही की कार्यवाही अभिलेखों तथा फाइल द्वारा बनाई जाती है।
8. **गोपनीयता** (Secracy)–नौकरशाही में यह अपेक्षा की जाती है कि प्रत्येक व्यक्ति कार्य की गोपनीयता को बनाये रखे।
9. **कैरियर** (Career)–नौकरशाही में नौकरी प्राप्त करना कैरियर बनाना है। कठोर परिश्रम, कर्त्तव्य-परायणता और योग्यता तथा क्षमता से कार्य करना, कैरियर की प्रगति के लिए आवश्यक है।
10. **सिद्धांत तथा व्यवहार में अंतर** (Difference between Theory and Practice)–नौकरशाही में प्राय: सिद्धांत तथा व्यवहार में अंतर पया जाता है। कथनी तथा करनी में भेद मानवता के विरुद्ध है।
11. **प्रशिक्षण** (Training)–नौकरशाही में समय-समय पर व्यक्ति की दक्षता बढ़ाने के लिए प्रशिक्षण कार्यक्रमों का आयोजन किया जाता है।
12. **नौकरशाही व्यक्तित्व** (Bureaucracy)–नौकरशाही में व्यक्ति दोहरे व्यक्तित्व का हो जाता है, कई बार तो तनाव-ग्रस्त होना पड़ता है और इसलिए व्यक्ति की क्षमता पर प्रभाव पड़ता है।

नौकरशाही के लाभ (Merits of Bureaucracy)–ब्यूरोक्रेसी, किसी सरकार या राष्ट्र की रीढ़ होती है। सरकारें बदलती हैं, परंतु नौकरशाही अपने निर्धारित ढांचे में कार्यरत रहती है। नौकरशाही के लाभ इस प्रकार हैं–

1. **व्यवस्थित प्रशासन**–नौकरशाही प्रशासन को व्यवस्थित स्वरूप प्रदान करती है। दफ्तर अथवा कार्यालय में पद्धति इसका केंद्र होती है। दफ्तर को केंद्र मानकर सभी कार्य किये जाते हैं।
2. **बड़े पैमाने पर विकास की संभावना**–नौकरशाही के द्वारा राज्य बड़े-बड़े उद्योगों की स्थापना पर विचार करता है। राज्य तथा राष्ट्रीय स्तर पर चलने वाली बड़ी-बड़ी योजनाएँ नौकरशाही के कारण ही अस्तित्व में आती हैं।

नोट्स नौकरशाह भी आम-आदमी की तरह होता है किंतु अपने पेशे की मजबूरियों के कारण वह दोहरा व्यक्तित्व रखता है। इसका एक महत्त्वपूर्ण कारण है नियमों में सख्ती, जिसका उसे हर परिस्थितियों में पालन करना पड़ता है।

3. **प्रभावशाली नियंत्रण**–नौकरशाही नियमों तथा विनियमों के आधार पर चलती है, इसलिए इसमें व्यक्तिगत विचारों तथा भावनाओं का कोई स्थान नहीं है। इसी कारण नौकरशाही प्रभावशाली नियंत्रण बनाये रखती है।
4. **योग्य व्यक्तियों द्वारा प्रशासन**–नौकरशाही के लिए व्यक्तियों का चयन प्रतियोगी परीक्षाओं द्वारा किया जाता है। फिर उन्हें प्रशिक्षण दिया जाता है, इसलिए योग्य व्यक्ति ही प्रशासन में आते हैं।

नौकरशाही के दोष (Demerits of Bureacucracy)–नौकरशाही के जहाँ लाभ हैं, वहाँ नौकरशाही के अनेक दोष भी हैं, जो इस प्रकार हैं–

1. **लाल फीताशाही**–लंबे समय तक मामलों का निपटारा न होना, उन पर विचार न करना लाल फीताशाही कहलाता है। सरकारी क्षेत्र में तो लाल फीताशाही चरम सीमा पर पायी जाती है।

नोट

2. **सत्ता-मनोवृत्ति**–नौकरशाही में अधिकारी अपने मातहतों से सत्ता मद में व्यवहार करता है। वह कठोर रूप धारण करता है।
3. **दैनिकता पर बल**–नौकरशाही में रोजमर्रा के ढंग पर काम चलाने का प्रयास किया जाता है। खानापुरी करने पर बल दिया जाता है।
4. **श्रेष्ठ भावना ग्रंथि**–नौकरशाही में अधिकारियों में सुपीरियोरिटी कम्प्लेक्स विकसित हो जाता है। सत्ता के मद में वे अपने अधीनस्थों का अपमान भी करने से नहीं चूकते।
5. **निर्वैयक्तिक संबंध**–आमतौर पर देखा गया है कि अधिकारी कुर्सी पर बैठते ही कठोर हो जाते हैं और उनका यह रूप निजी जीवन से कहीं भिन्न होता है।
6. **रूढ़िवादिता**–नौकरशाही में संस्तरण के कारण वर्ग भेद बना रहता है, अनुशासन के नाम पर निरंकुश व्यवहार किया जाता है।
7. **वर्ग चेतना**–नौकरशाही में एक जैसे पदों पर कार्य करने वालों का एक वर्ग बन जाता है और वह वर्ग की प्रतिष्ठा के प्रति जागरूक रहता है, भारत में आई.ए.एस. तथा पी.सी.एस. इसी वर्ग चेतना के उदाहरण हैं।

नौकरशाही के ये दोष, अधिकारियों का स्वभाव बन जाते हैं। इसलिए ये दोष अनेक दोषों को जन्म देते हैं। इनको दूर करने के लिए ये उपाय किये जाने आवश्यक हैं–

(*i*) नौकरशाही तंत्र पर सर्वोच्च नियंत्रण सरकार का होना चाहिए। जहाँ उनके व्यवहार से हानि होती हो, वहाँ उनको दण्डित करना चाहिए।

(*ii*) नौकरशाही के प्रभाव में आने वाले व्यक्तियों में अभिभावक की भावना होनी आवश्यक है। तभी तंत्र का विकास हो सकता है।

(*iii*) नौकरशाही हेतु चयन प्रणाली वस्तुनिष्ठ हो, उनका चयन योग्यता-क्षमता के आधार पर होना चाहिए।

(*iv*) **शिकायत की स्वतंत्रता**–नौकरशाही में अधीनस्थ कर्मचारियों को अपने अधिकारी की शिकायत उच्च अधिकारी से करने के अवसर मिलने चाहिए। मिलेट्री में इस प्रकार की व्यवस्था अपनायी जाती है।

10.3 मैक्स वेबर की नौकरशाही के प्रति अवधारणा (The Concept of Bureaucracy as Stated by Max Weber)

मैक्स वेबर ने नौकरशाही की परिभाषा इस प्रकार दी है–''नौकरशाही विशेष योग्यता, निष्पक्षता और मानवता के अभाव के लक्षण युक्त प्रशासकीय व्यवस्था है, मैक्स वेबर ने नौकरशाही की अवधारणा की व्याख्या शक्ति तथा सत्ता के संदर्भ में की है। नौकरशाही एक प्रकार की प्रशासनिक व्यवस्था है, इस व्यवस्था में विशेष प्रकार का सत्ता-वितरण तथा संस्तरण पाया जाता है।''

वेबर ने परंपरागत, बुद्धिसंगत, वैध सत्ता तथा अपूर्ण सत्ता पर विचार किया। उसने बुद्धि संगत, वैध सत्ता से संबंधित प्रशासन को नौकरशाही कहा है।

नौकरशाही की संरचनात्मक विशेषता मैक्स वेबर ने इस प्रकार बतायी है–

1. इसमें अवैयक्तिक संबंधों का महत्त्व होता है।
2. इसमें कार्य का क्षेत्र स्पष्ट एवं निश्चित होता है।
3. इसमें संस्तरण पदानुसार होता है।
4. नौकरशाही में नियंत्रणकारी नियम होते हैं, जिनके अधीन प्रत्येक व्यक्ति को कार्य करना पड़ता है।
5. इसमें पदाधिकारियों तथा स्वामित्व में पृथक्करण पाया जाता है।
6. भारी नियंत्रण का अभाव पाया जाता है।

नोट

7. एकाधिकार का अभाव होता है।
8. कार्य संचालन नियम, आदेशित तथा लिखित होते हैं।

वेबर ने नौकरशाही के अंतर्गत अधिकारियों की विशेषताओं पर भी प्रकाश डाला है, ये विशेषताएँ इस प्रकार हैं–

1. प्रशासन संबंधी मामलों में उच्च अधिकारियों का नियंत्रण रहता है।
2. अपने क्षेत्र में अधिकारी स्वतंत्र रहते हैं।
3. अधिकारियों में पदीय संस्तरण पाया जाता है।
4. प्रत्येक अधिकारी का सुपरिभाषित क्षेत्र होता है।
5. अधिकारियों की नियुक्तियाँ चयन प्रणाली द्वारा योग्यता तथा क्षमता के आधार पर होती हैं।
6. प्रत्येक अधिकारी तथा कर्मचारी वेतन प्राप्त करता है।
7. प्रत्येक अधिकारी अनुशासन में रहता है।
8. सभी अधिकारी प्रशासनिक स्वामित्व से वंचित रहते हैं।

यद्यपि वेबर के नौकरशाही सिद्धांत का प्रचलन बहुत अधिक हुआ है तो भी एट जियोनी ने वेबर की आलोचना इस प्रकार की है–

1. वेबर ने सत्ता का स्पष्ट विभाजन नहीं किया है, सत्ता में प्राय: मिश्रित रूप दिखाई देते हैं।
2. कोई भी सत्ता निरंतर नहीं रहती, समय-समय पर इसकी प्रकृति में परिवर्तन होता रहता है।
3. चमत्कारी एवं अपूर्व सत्ता उच्चतम सत्ता पदासीन लोगों के पास रहती है, यह गलत है। सत्ता के केंद्र बदलते रहते हैं।

इस प्रकार वेबर ने नौकरशाही की धारणा का विकास किया है।

टास्क क्या आप भारत में वर्तमान नौकरशाही की भूमिका से संतुष्ट हैं? पक्ष अथवा विपक्ष में तर्क प्रस्तुत करें।

10.4 राजनीतिक समाजीकरण (Political Socialization)

समाजीकरण शब्द से अभिप्राय अधिगम से है। अधिगम या सीखने में सामाजिक आतत्य का महत्त्व अधिक है। राजनीतिक समाजीकरण राष्ट्र की संस्कृति को स्वरूप प्रदान करके उसे आगामी पीढ़ी में हस्तांतरित करता है। नेताओं का निर्माण, राजनीतिक व्यवहार तथा अन्य राष्ट्र निर्माण सभी तो समाजीकरण की देन हैं। यह समाजीकरण व्यवस्थापन (Maintains), परिवर्तन (Transforming) तथा राजनीतिक संस्कृति के सर्जन (Creations) से होता है।

कैसल्स ने आदर्शात्मक प्रतिमानों के आंतरीकरण के आधार पर सीखने की प्रक्रिया को समाजीकरण कहा है। **जानसन** का विचार है–सीखने वाले को सामाजिक कार्य करने के योग्य बनाने की प्रक्रिया समाजीकरण कहलाती है। **स्टेपी** ने समाजीकरण को जीवन के विकास की प्रक्रिया माना है। इस प्रक्रिया के द्वारा व्यक्ति ज्ञान, निपुणता, विश्वास, मूल्य, मनोवृत्ति एवं स्ववृत्तियों को प्राप्त करता है। **लिम्बालयंग** के शब्दों में–''समाजीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति सामाजिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्र में प्रवेश करता है तथा समाज के विभिन्न समूहों का सदस्य बनता है। उसे समाज के मूल्यों एवं मानवों को स्वीकार करने की प्रेरणा प्राप्त होती है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

नोट

दिए गए कथन के आधार पर सही (✓) और गलत (✗) का निशान लगाएँ–

1. आधुनिक समाज में नौकरशाही सजग तथा तार्किक साधन है जो समाज, समुदाय तथा समूह को व्यवस्था प्रदान करती है। ☐
2. राजनीतिक समाजशास्त्रियों की अवधारणा है कि नौकरशाही एक विधिक तंत्र है जो निरंकुशता से सत्ता को प्रभावित करता है। ☐
3. नौकरशाही में अनुशासनहीन तत्व शामिल होते हैं। ☐
4. राजनीतिक समाजीकरण राष्ट्र की संस्कृति को स्वरूप प्रदान करके उसे आगामी पीढ़ी में हस्तांतरित करता है। ☐

राजनीतिक समाजीकरण की अवधारणा (Concept of Political Socialization)–समाज में व्यावहारिक स्वरूप प्रदान करने में संस्कृति का विशेष योगदान रहा है। किसी भी सामाजिक समूह की संस्कृति कभी समाप्त नहीं होती। वह तो सदैव ही एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति में तथा एक युग से दूसरे युग में हस्तांतरित होती रहती है। इसमें पीढ़ी-हस्तांतरण की प्रक्रिया निहित होती है। **अमल कुमार मुखोपाध्याय** ने कहा है–''सीखने की वह प्रक्रिया जिसमें विद्यमान सांस्कृतिक प्रतिमानों के प्रति अंतर्राष्ट्रीयता निहित होती है, समाजीकरण कहलाती है।''

1. **राजनीतिक संस्कृति का हस्तांतरण**–राजनीतिक समाजीकरण द्वारा राजनीतिक संस्कृति का हस्तांतरण होता है। पुरानी पीढ़ी का राजनीतिक दाय भाग, नई पीढ़ी को सौंपने का समस्त कार्य, राजनीतिक समाजीकरण द्वारा होता है। **ल्यूसियन डब्ल्यू. आई.** के अनुसार, नीति निर्माताओं और विद्वानों के लिए यह प्रश्न समान रूप से विवादग्रस्त रहा है। आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में मूल्यों और अभिवृत्तियों की भूमिका पर कितना महत्त्व दिया जाये। इन दोनों गुणों में इस दृष्टिकोण के समर्थक पाये जाते हैं, अंतिम विश्लेषण में विकास की समस्त प्रक्रिया आत्मपरकता के क्षेत्रों में घटित होने वाले परिवर्तनों पर निर्भर करती है। राजनीतिक संस्कृति के व्यवस्थापन, हस्तांतरण तथा सर्जन की प्रक्रिया को समाजीकरण ही आगे बढ़ाता है। इसलिए **अमल कुमार मुखोपाध्याय** पुनः कहते हैं–'राजनीतिक समाजीकरण आरंभिक वर्षों तक सीमित नहीं है। वह तो व्यक्ति के जीवन विस्तार तक चलने वाली प्रक्रिया है।'
2. **बहुकारकीय प्रभाव**–राजनीतिक समाजीकरण में अनेक कारक निहित होते हैं। प्राविधिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक परिवर्तन भी उसे प्रभावित करते हैं। **अलमंड** एवं **पावेल** के अनुसार–'राजनीतिक समाजीकरण वह प्रक्रिया है जो व्यक्ति को राजनीतिक व्यवस्था से परिचित कराती है। उसके राजनीतिक प्रयत्नों का निर्माण करती है तथा राजनीतिक घटनाओं के प्रति प्रतिक्रिया उत्पन्न करती है। **अलमंड** एवं **पावेल** ने इस अवधारणा की व्याख्या करते हुए स्पष्ट किया है कि यह वह प्रक्रिया है जिसके माध्यम से राजनीतिक संस्कृति का अनुरक्षण और परिवर्तन किया जाता है। इस कार्य को करने के लिए निष्पत्ति के माध्यम से व्यक्तियों को राजनीतिक संस्कृतियों में शामिल किया जाता है। राजनीतिक समाजीकरण राजनीतिक व्यवस्था के स्वीकृत प्रतिमानों तथा व्यवहारों के समाज की असली पीढ़ी में सम्प्रेषित करने की प्रक्रिया है। इसलिए **राबर्ट शीगल** (Robert Sigel) के अनुसार–'यह विचरणशील राजनीतिक व्यवस्था के स्वीकृत मानकों (Norms), अभिवृत्तियों और व्यवहार को क्रमिक रूप से सीखना है।' **राबर्ट शीगल** ने आगे कहा है–'राजनीतिक समाजीकरण का उद्देश्य ऐसे व्यक्तियों का प्रशिक्षण और विकास करना है जिससे वे राजनीतिक समाज के अच्छे कार्यकारी सदस्य बन सकें; क्योंकि एक राजनिकाय के बिना जो संचालित राजनीतिक मूल्यों और राजनीतिक व्यवस्था के साथ सामंजस्य में है, सुचारु रूप से कार्य नहीं हो सकता और इसकी सुरक्षा के लिए भी खतरा हो सकता है। अंतिम रूप से अतिजीविता राजनीतिक संगठन का उसी प्रकार से एक लक्ष्य है जिस प्रकार से एक जीव का।'

नोट

3. **राजनीतिक समाजशास्त्र की मूल अवधारणा**–राजनीतिक समाजीकरण समाज के सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक वातावरण द्वारा निर्धारित होता है इसलिए अनेक अर्थों में राजनीतिक समाजीकरण राजनीतिक समाजशास्त्र की मूल अवधारणा है। इसके तीन पक्ष हैं–

   (*i*) राजनीतिक समाजीकरण के तीन पक्षों में से एक सहयोग है। इसके अन्य पक्ष हैं–चयन तथा संचार। इसमें सहयोग तथा चयन आंशिक रूप से आश्रित है और संचार इनका गतिशील पक्ष है।

   (*ii*) राजनीतिक समाजीकरण, सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवहार की आंतरिक क्रिया है। यह निर्भरता का प्रदर्शन करती है।

   (*iii*) यह अंत:निर्भरता सामान्य रूप से समाजिक विज्ञानों में और विशेष रूप से समाजशास्त्र तथा राजनीतिक विज्ञान में परस्परिक संबंधों के रूप में विकसित होती है।

4. **राजनीतिक प्रवाह**–राजनीतिक समाजीकरण का महत्त्व पहले से ही स्वीकार किया जा चुका है। उदाहरणार्थ–व्यक्ति की विशेषताओं तथा इसके योगदान के व्यवहार को लेकर समाजीकरण संबंधी अनेक अध्ययन किए गए। इनसे ज्ञात होता है कि व्यक्ति सामान्य रूप से कुछ और होता है और मतदाता के रूप में कुछ और। पिछले (1977) आम चुनाव में मतदाता का यही व्यवहार उसके राजनीतिक समाजीकरण की ओर संकेत करता है। यह एक प्रवाह है जिसमें क्रम (Order) की अपेक्षा (Effect) अधिक होता है।

5. **राजनीतिक प्रशिक्षण–परेटो** ने राजनीतिक प्रशिक्षण के लिए राजनीतिक शिक्षा की आवश्यकता अनुभव की है। **राबर्ट लॉ** (Robert Law) ने अपने स्वामियों की शिक्षा (To educate our Masters) अवधारणा को विकसित किया है। इसी प्रकार राजनीतिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए औपचारिक शिक्षा को अनिवार्य किया गया है। जैसे–मध्य युग में चर्च का एकाधिकारी शिक्षा और आधुनिक युग में साम्यवादी देशों में दी जा रही शिक्षा जो अपने सदस्यों को अपने राष्ट्र की व्यवस्था के बारे में जानकारी देती है।

राजनीतिक समाजीकरण के साधन (Agencies of Political Socialization)–राजनीतिक समाजीकरण एक प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया समाज के विभिन्न रूपों द्वारा संपन्न होती है और सदस्यों में राजनीतिक व्यवहार के प्रति आस्था उत्पन्न करती है। **बाल** (Ball) के अनुसार–'राजनीतिक समाजीकरण जीवन भर चलने वाली प्रक्रिया है।'

1. **परिवार तथा मानकीकरण**–राजनीतिक समाजीकरण केवल बाल्यकाल में ही संपन्न होने वाली प्रक्रिया नहीं है, यह तो जीवन पर्यन्त चलने वाली प्रक्रिया है। परिवार, विद्यालय धर्म, समुदाय तथा समान समूह राजनीति के समाजीकरण के प्रमुख साधन हैं। परिवार न केवल राजनीतिक समाजीकरण की अपितु सभी प्रकार से सामाजिक समायोजन का महत्त्वपूर्ण साधन या अभिकर्त्ता (Agent) है। बालक के संसार में खुलने वाली पहली खिड़की परिवार है। पिता तथा माता की भूमिका बालक में भावी व्यवहारों का सर्जन करती है। **डेविड** (Davis) के अनुसार–'परिवार मानसिक रूप में नग्नशिशु को पूर्ण रूप से आभूषित व्यक्तित्व के रूप में रूपांतरित करने का मुख्य साधन प्रदान करता है।' परिवार में बालक का समाजीकरण होता है। इसी में वह राजनीतिक व्यवहार और नागरिक आदर्श भी सीखता है। परिवार में बालक का राजनीतिक समाजीकरण तीन प्रकार से होता है–मतारोपण द्वारा, सामाजिक संदर्भ द्वारा, व्यक्ति के विकास द्वारा।

2. **विद्यालय**–विद्यालय भी राजनीतिक समाजीकरण का महत्त्वपूर्ण साधन है। जिस व्यक्ति को जितनी व्यापक शिक्षा मिलेगी, उसका राजनीतिक समाजीकरण उतना ही व्यापक होगा। राजनीतिक चेतना, राष्ट्रीय कर्त्तव्यों के प्रति आस्था, अंतर्राष्ट्रीय सद्भाव आदि का आयाम विस्तृत होगा। सामाजिक वातावरण के प्रति जागरूकता इसका विशेष उदाहरण है। केरल की मुस्लिम लीग ने पाठ्यपुस्तकों में से उन अंशों को निकालने के लिए आंदोलन किया जिनमें स्वतंत्रता प्राप्ति पूर्व मुस्लिम लीग को साम्प्रदायिक कहा गया था। विश्वविद्यालयी स्तर पर तो छात्र संघों के चुनाव उनकी रणनीति आदि की व्यवस्था छात्रों के राजनीतिक समाजीकरण का उदाहरण है।

नोट

3. **धार्मिक संस्थाएँ**–धार्मिक संस्थाएँ भी व्यक्ति का राजनीतिक समाजीकरण करती हैं। पाकिस्तान, नेपाल, अरब देश तथा ऐसे अनेक राष्ट्र जो राष्ट्रसंघ में आस्था रखते हैं, धर्म को राजनीतिक समाजीकरण का महत्त्व क्षेत्र मानते हैं। इसी प्रकार राजनीतिक दल भी समाजीकरण की भूमिका का निर्वाह करते हैं। राजनीतिक शिक्षा प्रदान करने में उनका योग विशेष रूप से रहता है।
4. **जन-संचार–जन संचार के साधन**–समाचार-पत्र, रेडियो, दूरदर्शन, फिल्म, भाषण आदि भी राजनीतिक समाजीकरण को विकसित करने में विशेष योगदान देते हैं। इन्हीं साधनों के विषय में **अलमंड** एवं **पावेल** ने कहा है–'परिवार तथा विद्यालय द्वारा स्थापित राजनीतिक व्यवस्था कितनी ही सकारात्मक हो, जब दल, पुलिस शासन द्वारा उसकी अवहेलना की जाती है तो आक्रोश उत्पन्न होता है।' यहीं से राजनीतिक समाजीकरण की शुरुआत होती है।

राजनीतिक समाजीकरण का विकास (Political Socialization : Development) **राबर्ट शीगल** (Robert Sigel) के अनुसार–'राजनीतिक समाजीकरण का उद्देश्य ऐसे व्यक्तियों को प्रशिक्षण देना तथा विकसित करना है जो राजनीतिक समाज व्यवस्था में अच्छे सदस्य बन सकें।' इसी प्रकार के विचार **माइकेल रश** (Michael Rush) ने व्यक्ति किये हैं।' राजनीतिक समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा व्यक्ति राजनीतिक व्यवस्था में परिचित होता है।' राजनीतिक घटनाओं के प्रति उसकी प्रतिक्रिया का निर्धारण करता है। आवश्यकता इस बात की है, व्यक्ति पर समाज के, समाज पर व्यक्ति के सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक पर्यावरण के प्रभाव का परीक्षण किया जाये।

क्या आप जानते हैं सामाजिक राजनीतिक व्यवस्था के मध्य राजनीतिक समाजीकरण एक कड़ी (Link) है। परिस्थिति के अनुसार इसमें परिवर्तन हो सकता है।

राजनीतिक व्यवस्था या सहभागिता राजनीतिक समाजीकरण की देन है। राजनीतिक समाजीकरण विभिन्न अवस्थाओं में विकसित होता है। इसकी अवस्थाएँ इस प्रकार हैं–

1. **बाल्यावस्था तथा किशोर अवस्था–फ्रेम्प** (Framp) तथा **एलिजाबेथ** ने The Childs World में बताया है कि किस प्रकार बच्चे अपना विकास वातावरण में करते हैं तथा किसी विशेष परिस्थिति में वह किशोर होते हैं। विद्यालयों में बालक सरकार की अवधारणा को ग्रहण करते हैं। जैसे-जैसे वे आगे की कक्षाओं में जाते हैं, वैसे-वैसे उनमें सरकार तथा राजनीति की अवधारणा विकसित होती जाती है। ग्राम तथा नगर क्षेत्रों में रहने वाले बच्चों का राजनीतिक समाजीकरण ही भिन्न होता है। जैसे–नगर के बालक देश की राजधानी का चित्र सरलता पूर्वक ग्रहण कर लेते हैं जबकि गाँवों के बालक इसमें असफल रहते हैं। **डेविड** तथा **रोबर्ट** द्वारा किए गए सर्वेक्षणों से पता चलता है कि आरंभ में बच्चे विद्यालय के परिवेश में ही राजनीतिक अवधारणाओं को ग्रहण करते हैं; जैसे–देश प्रेम, देश के सौंदर्य, देश के लोग व उनका स्वभाव आदि। समाजीकरण की प्रक्रिया में सरल से कठिन की ओर बढ़ा जाता है। बड़े बच्चे राजनीतिक समाजीकरण के विभिन्न अधिकरणों का लाभ उठाते हैं; जैसे–श्रमिक संघ, समाचार-पत्र तथा राजनैतिक दल आदि का परिचय। **ईस्ट** तथा **डेनिस** ने राजनीतिक समाजीकरण के चार पद बतलाये हैं–

(*i*) विशिष्ट व्यक्तियों द्वारा प्रभुसत्ता का अभिज्ञान करना; जैसे–राष्ट्रपति तथा पुलिस कांस्टेबिल।

(*ii*) आंतरिक तथा बाह्य-प्रभुसत्ता के अंतर को व्यक्त करना; जैसे–सार्वजनिक तथा निजी प्रभुसत्ता।

(*iii*) राजनीतिक संस्थाओं का परिचय; जैसे राजनीतिक दल, उच्चतम न्यायालय तथा मताधिकार।

(*iv*) राजनीतिक संस्थाओं तथा उनके सदस्यों के पारस्परिक संबंध जो समग्र रूप से राजनीतिक सत्ता का रूप धारण करते हैं।

नोट

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

दिए गए निम्न कथन आधार पर सही (✓) और गलत (✗) का निशान लगाएँ–

5. नौकरशाही में दक्षता बढ़ाने हेतु समय-समय पर आयोजन किए जाते हैं। ☐
6. मैक्स वेबर ने नौकरशाही की अवधारणा की व्याख्या शक्ति तथा सत्ता के संदर्भ में की है। ☐
7. नौकरशाही नेताओं पर अपना प्रभाव बनाए रखती है। ☐
8. राजनीतिक समाजीकरण, सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवहार की आंतरिक क्रिया है। ☐

रश (Rush) **एवं एलथॉफ** (Althoff) ने बाल्यावस्था से होने वाले राजनीतिक समाजीकरण के विषय में कहा है–'मतदान के मध्य विधानसभा के सभी सदस्यों को समाजीकरण का ज्ञान होता है। विधायी व्यवहार का निर्धारण आंशिक रूप से उनके ज्ञान, मूल्यों और अभिवृत्तियों से होता है जो निर्वाचनों से पूर्व उनमें विद्यमान थी और यह आंशिक रूप से विधायिका में नये वातावरण में उनके अपने अनुभवों अथवा उनके प्रति प्रतिक्रियाओं से प्रभावित होता है।'

राजनीतिक समाजीकरण में शिक्षा की भूमिका महत्त्वपूर्ण है। शिक्षा बच्चों को वांछित व्यवहार करने के लिए प्रेरित करती है। विद्यालयों में छात्र संघों के माध्यम से राजनीतिक समाजीकरण की शिक्षा दी जाती है। छात्र संघीय व्यवहार के कारण ही बड़े होकर उनमें राजनीतिक व्यवहार का विकास होता है। राजनीतिक समाजीकरण आंतरिक अधिक है, क्योंकि इसमें राजनीतिक ज्ञान, मूल्य अभिवृत्ति आदि के द्वारा राजनीतिक व्यवहार प्रकट होता है। उच्च शिक्षा का भी इस पर प्रभाव पड़ता है।

2. प्रौढ़ समाजीकरण–प्रौढ़ावस्था में समाजीकरण की प्रक्रिया बाल्यावस्था तथा किशोरावस्था से ही आती है। इस अवस्था में मताधिकार प्राप्त होने पर राजनीतिक चेतना तथा राजनीतिक आत्मीकरण अधिक हो जाता है। बदलती परिस्थितियों का प्रभाव और इसकी प्रतिक्रिया विशेष प्रभाव डालती है। भारत में पिछले आम चुनाव राजनीतिक समाजीकरण का प्रत्यक्ष उदाहरण है, जिसमें राजनीतिक व्यवस्था के प्रति आक्रोश व्यक्त किया गया तथा नये राजनीतिक दल की स्थापना की गई। इससे जनता की राजनीतिक व्यवहार की अभिव्यक्ति हुई। **रश** एवं **एलथॉफ ने** इस प्रक्रिया की व्याख्या करते हुए ठीक ही कहा है–'बाल्यावस्था और किशोरावस्था में ज्ञान, मूल्यों और अभिवृत्तियाँ ग्रहण की जाती हैं।' उन्हें वयस्क जीव के अनुभवों की पृष्ठभूमि में पाया जायेगा; अन्यथा सुझाव देना, स्थैतिक राजनीतिक व्यवहार का सुझाव देना होगा, यदि वयस्क समाजीकरण की प्रक्रिया बाल्यावस्था और किशोरावस्था समाजीकरण की प्रक्रिया को प्रबलित करती है तो परिवर्तन मात्रा, आयु में वृद्धि के कारण अनुदारता में वृद्धि के साथ सीमित होती जाती है, लेकिन जहाँ विरोध होता है, वहाँ राजनीतिक व्यवहार में क्रांतिकारी परिवर्तन हो सकते हैं, इस प्रकार के विरोधों की जड़ें प्रारंभिक राजनीतिक समाजीकरण में होती है, लेकिन यह बाद के समाजीकरण के अनुभवों के कारण भी हो सकता है।

10.5 सारांश (Summary)

- राजनीति का अस्तित्व, सत्ता से है। राजनीतिक सत्ता का अंतरंग भाग नौकरशाही है, सत्ता का महत्त्व उसके पद से आँका जाता है। यह राज्य के तंत्र का महत्त्वपूर्ण भाग है। राजनीतिक समाजशास्त्रियों ने नौकरशाही का अध्ययन, समाजशास्त्रीय आधारों पर करने पर बल दिया है।
- आधुनिक समाज में नौकरशाही सजग तथा तार्किक साधन है जो समाज, समुदाय तथा समूह को व्यवस्था प्रदान करती है। इसीलिए नौकरशाही में अनुशासन तथा संकल्प पाया जाता है।
- नौकरशाही, एक शक्तिशाली एकाधिकारी सामाजिक समूह है। इसका कार्य नियमों को लागू करना है और कभी-कभी निर्माण की प्रक्रिया में भाग लेना भी है। राजनीतिक समाजशास्त्र में नौकरशाही की संरचना, भूमिका तथा पद, कार्य तथा अकार्य, सभी का अध्ययन किया जाता है।

नोट

- मैक्स वेबर ने नौकरशाही की अवधारणा की व्याख्या शक्ति तथा सत्ता के संदर्भ में की है। नौकरशाही एक प्रकार की प्रशासनिक व्यवस्था है, इस व्यवस्था में विशेष प्रकार का सत्ता-वितरण तथा संस्तरण पाया जाता है।'' वेबर ने परंपरागत, बुद्धिसंगत, वैध सत्ता तथा अपूर्ण सत्ता पर विचार किया। उसने बुद्धि संगत, वैध सत्ता से संबंधित प्रशासन को नौकरशाही कहा है।
- राजनीतिक समाजीकरण राष्ट्र की संस्कृति को स्वरूप प्रदान करके उसे आगामी पीढ़ी में हस्तांतरित करता है। नेताओं का निर्माण, राजनीतिक व्यवहार तथा अन्य राष्ट्र निर्माण सभी तो समाजीकरण की देन हैं। यह समाजीकरण व्यवस्थापन, परिवर्तन तथा राजनीतिक संस्कृति के सर्जन से होता है।

10.6 शब्दकोश (Keywords)

1. **नौकरशाही**–एक शक्तिशाली एकाधिकारी सामाजिक समूह है।
2. **सामाजीकरण**–वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति सामाजिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्र में प्रवेश करता है तथा समाज के विभिन्न समूहों का सदस्य बनता है।

10.7 अभ्यास-प्रश्न (Review Question)

1. नौकरशाही की अवधारणा स्पष्ट कीजिए।
2. नौकरशाही के संबंध में मैक्स वेबर के विचार प्रस्तुत कीजिए।
3. राजनीतिक समाजीकरण से आप क्या समझते हैं।
4. सी. राइट के 'द् पावर ऑफ इलीट' में व्यक्त अभिजात्य शक्ति से संबंधित विचारों पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer : Self Assessment)

1. (✓)	2. (✗)	3. (✗)	4. (✓)
5. (✗)	6. (✓)	7. (✗)	8. (✓)

10.8 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. इंडियन सोसाइटी एंड सोशल इंस्टीट्यूशंस–*(2 वॉल्यूम्स सेट) एन. जयापालन, एटलांटिक।*
2. मैरिज, पापुलेशन एंड सोसाइटी : डेमोग्राफ़िक पर्सपेक्टिव्स ऑफ़ ए सोशल इंस्टीट्यूशंस–*एम. एम. कृष्णारेड्डी, कनिष्का, 1998.*
3. सोशल इंस्टीट्यूशंस ऑफ़ शिया मुस्लिम्स–*एन. एंथ्रोपोलॉजिकल एनालिसिस : सईद कामिल हुसैन, क्लासिकल, 1999.*

नोट

इकाई–11 : राजनीतिक दल एवं दबाव-समूह (Political Parties and Pressure Groups)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)
प्रस्तावना (Introduction)
11.1 दबाव समूह : अर्थ एवं परिभाषा (Pressure Groups : Meaning and Definitions)
11.2 दबाव समूह का महत्त्व (Importance of Pressure Groups)
11.3 दबाव समूह एवं राजनीतिक दल (Pressure Groups and Political Parties)
11.4 दबाव समूहों के तरीके (Pressure Group Techniques)
11.5 भारतीय राजनीति में दबाव समूह (Pressure Groups in Indian Politics)
11.6 दबाव समूहों के प्रकार (Kinds of Pressure Groups)
11.7 भारतीय दबाव समूहों की विशेषताएँ (The Specific Features of Indian Model of Pressure Groups)
11.8 राजनीतिक दल का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Political Party)
11.9 राजनीतिक दल के आवश्यक तत्व (विशेषताएँ) (Essential Elements (Characteristics) of Political Party)
11.10 प्रजातंत्र (लोकतंत्र) में राजनीतिक दलों की भूमिका या महत्त्व (Role or Importance of Political Parties in Democracy)
11.11 दलीय प्रणाली के गुण (Merites of Party System)
11.12 दलीय पद्धति के दोष (Demerits of Party System)
11.13 सारांश (Summary)
11.14 शब्दकोश (Keywords)
11.15 अभ्यास-प्रश्न (Review Question)
11.16 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- दबाव समूह का अर्थ एवं उसके महत्त्व को समझने में।
- भारतीय राजनीति में दबाव समूह एवं राजनीतिक दल के बारे में जानने में।
- दबाव समूह के तरीके उनके प्रकार को जानने में लोकतंत्र में राजनीतिक दल एवं उनके आवश्यक तत्वों को समझने में।
- प्रजातंत्र में राजनीतिक दलों की भूमिका को समझने में।
- दलीय प्रणाली एवं उसके गुण दोषों को जानने में।

प्रस्तावना (Introduction)

नोट

भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में राजनीतिक दलों एवं दबाव समूहों का अपना अलग-अलग महत्त्व है। राजनीतिक दल सीधे तौर पर सत्ता से जुड़े होते हैं जबकि दबाव समूह उनकी तरह प्रजातंत्रीय प्रणाली की चुनाव प्रक्रिया में भाग नहीं लेते। हालाँकि भारतीय राजनीति में दबाव समूहों का भी प्रभुत्व है। यहाँ हम राजनीतिक दलों एवं दबाव समूहों की विशेषताओं एवं उनके कार्यों की विस्तार से चर्चा करेंगे एवं भारतीय राजनीति में उनके महत्त्व का विश्लेषण प्रस्तुत करेंगे।

11.1 दबाव समूह : अर्थ एवं परिभाषा (Pressure Groups : Meaning and Definitions)

'दबाव समूह' को विभिन्न नामों से संबोधित किया गया है। जैसे, हित समूह (Interest Groups), गैर-सरकारी संगठन (Private Organization), लॉबीज (Lobbies), अनौपचारिक संगठन (Informal Groups), गुट इत्यादि। दबाव समूहों तथा अन्य संगठन में अंतर अवश्य है। सभी संगठन दबाव समूह नहीं होते और न हित समूह और दबाव समूह ही समान हैं। प्रत्येक देश और समाज में सैकड़ों हित समूह होते हैं, किंतु जब वे सत्ता को प्रभावित करने के इरादे से राजनीतिक दृष्टि से सक्रिय हो जाते हैं, तो 'दबाव समूह' बन जाते हैं।

ओडिगार्ड के अनुसार, ''दबाव समूह ऐसे लोगों का औपचारिक संगठन है जिसके एक अथवा अधिक सामान्य उद्देश्य या स्वार्थ होते हैं और जो घटनाओं के क्रम को विशेष रूप से सार्वजनिक नीति के निर्माण और शासन को इसलिए प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं कि वे अपने हितों की रक्षा एवं वृद्धि कर सकें।'' **माइरन वीनर** के शब्दों में, ''दबाव समूह से हमारा तात्पर्य शासकीय व्यवस्था के बाहर किसी भी ऐसे ऐच्छिक, किंतु संगठित समूह से है जो शासकीय अधिकारियों की नामजदगी अथवा नियुक्ति, सार्वजनिक नीति के निर्धारण, उसके प्रशासन और समझौता-व्यवस्था को प्रभावित करने का प्रयास करता है।''

वस्तुत: दबाव समूह ऐसा माध्यम है जिनके द्वारा सामान्य हित वाले व्यक्ति सार्वजनिक मामलों को प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं। इस अर्थ में ऐसा कोई भी सामाजिक समूह जो प्रशासनिक और संसदीय दोनों ही प्रकार के पदाधिकारियों को, सरकार पर नियंत्रण प्राप्त करने हेतु कोई प्रयत्न किए बिना ही प्रभावित करना चाहते हैं तो दबाव गुट की श्रेणी में आएँगे।

क्या आप जानते हैं दबाव समूहों की तुलना **'अज्ञात साम्राज्य'** से की जाती है। जब इनके हित संकट में होते हैं अथवा जब इन्हें कतिपय स्वार्थों की प्राप्ति करनी होती है तो वे सक्रिय हो जाते हैं। अन्यथा वे हित समूहों के रूप में निष्क्रिय ही बने रहते हैं।

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर दबाव समूहों के प्रमुख लक्षण इस प्रकार हैं–

(1) दबाव समूह अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए नीति-निर्माताओं को प्रभावित करते हैं।

(2) दबाव समूहों का संबंध **विशिष्ट मसलों** से होता है।

(3) ये राजनीतिक संगठन नहीं होते और न ही ये चुनाव में भाग लेते हैं।

(4) दबाव समूहों को अज्ञात साम्राज्य कहा गया है। जब उनके हित खतरे में होते हैं तो वे सक्रिय बन जाते हैं।

11.2 दबाव समूहों का महत्त्व (Importance of Pressure Groups)

1. **जनतांत्रिक प्रक्रिया की अभिव्यक्ति के लिए दबाव समूह**–दबाव समूहों को लोकतंत्र की अभिव्यक्ति का साधन माना जाता है। लोकतंत्र की सफलता के लिए लोकमत तैयार करना आवश्यक है ताकि विशिष्ट नीतियों का समर्थन अथवा विरोध किया जा सके।

नोट

2. **शासन के लिए सूचनाएँ एकत्रित करने वाले संगठनों के रूप में दबाव समूह**–शासन की सूचनाओं के गैर-सरकारी स्रोत के रूप में दबाव समूह महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। दबाव समूह आँकड़े इकट्ठे करते हैं, शोध करते हैं तथा सरकार को अपनी कठिनाइयों से परिचित कराते हैं।
3. **शासन को प्रभावित करने वाले संगठन के रूप में दबाव समूह**–आजकल दबाव समूहों का अस्तित्व एक ऐसी संस्था के रूप में है जिनके पास इस दृष्टि से काफी शक्ति होती है कि वह स्वार्थ या हित विशेष की रक्षा के लिए सरकारी मशीनरी पर उपयोगी व सफल प्रभाव डाल सके।
4. **सरकार की निरंकुशता को सीमित करना**–प्रत्येक शासन-व्यवस्था में केंद्रीकरण की प्रवृत्ति बढ़ रही है और समूची शक्तियाँ सरकार के हाथों में केंद्रित होती जा रही हैं। दबाव समूह अपने साधनों द्वारा सरकारी निरंकुशता को परिसीमित करते हैं।
5. **समाज और शासन में संतुलन स्थापित करना**–दबाव समूहों के अस्तित्व का एक लाभ यह है कि विभिन्न हितों के बीच संतुलन-सा बना रहता है और इस प्रकार कोई भी एकमात्र प्रभावशील सत्ता उदित नहीं हो पाती।
6. **व्यक्ति और सरकार के मध्य संचार के साधन**–दबाव समूह लोकतांत्रिक राज-व्यवस्था में व्यक्तिगत हितों का राष्ट्रीय हितों के साथ सामंजस्य स्थापित करते हैं। ये समूह नागरिक और सरकार के बीच संचार साधन का कार्य करते हैं।
7. **विधानमंडल के पीछे विधानमंडल का कार्य**–दबाव समूह विधि-निर्माण में विधायकों की सहायता करते हैं। अपनी विशेषज्ञता तथा ज्ञानगुरुता के कारण ये विधि-निर्माता समितियों के सदस्यों को आवश्यक परामर्श देते हैं। इनकी परामर्श और सहायता दोनों ही इतनी उपयोगी होती हैं कि इन्हें विधानमंडल के पीछे का विधानमंडल कहा जाने लगा है।

11.3 दबाव समूह एवं राजनीतिक दल (Pressure Groups and Political Parties)

भारत की राज-व्यवस्था में राजनीतिक दलों एवं दबाव समूहों में अंतर करना एक कठिन कार्य है। हमारे देश में बहुदलीय प्रणाली विकसित हुई है तथा दलों की संख्या इतनी अधिक है कि वे गुटीय राजनीति के उपकरण बन जाते हैं। फिर भी राजनीतिक दलों और दबाव समूहों में आधारभूत अंतर है–राजनीतिक दल निर्वाचनों में भाग लेते हैं, जबकि दबाव समूह निर्वाचनों में अपने प्रत्याशी खड़ा नहीं करते; राजनीतिक दलों के विस्तृत उद्देश्य तथा कार्यक्रम होते हैं, जबकि दबाव समूहों के संकुचित लक्ष्य होते हैं; राजनीतिक दल विधानमंडलों में कार्य करते हैं, जबकि दबाव समूह विधानमंडलों के बाहर कार्य करते हैं।

प्रो. हरमन फाइनर का कथन है कि ''जहाँ सिद्धांत और संगठन में राजनीतिक दल कमजोर होंगे वहाँ दबाव समूह पनपेंगे, जहाँ दबाव समूह शक्तिशाली होंगे वहाँ राजनीतिक दल कमजोर होंगे और जहाँ राजनीतिक दल शक्तिशाली होंगे वहाँ दबाव समूह दबा दिए जाएँगे।''

नोट्स राजनीतिक दलों एवं दबाव समूहों में आधारभूत अंतर है–राजनीतिक दल निर्वाचन में भाग लेते हैं जबकि दबाव समूह निर्वाचन में अपना प्रत्याशी नहीं खड़ा करते। राजनीतिक दलों के उद्देश्य तथा कार्यक्रम विस्तृत होते हैं। जबकि दबाव समूहों के लक्ष्य संकुचित होते हैं।

11.4 दबाव समूहों के तरीके (Pressure Group Techniques)

नोट

1. **प्रचार व प्रसार के साधन**–अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए, जनता में अपने पक्ष में सद्भावना का निर्माण करने के लिए और उद्देश्य प्राप्ति में सहायक सिद्ध होने वालों के दृष्टिकोण को अपने पक्ष में करने के लिए दबाव समूह प्रेस, रेडियो, टेलीविजन और प्रभावशाली संगठनों की सेवाओं का उपयोग व प्रयोग करते हैं।
2. **आँकड़े प्रकाशित करना**–नीति-निर्माताओं के समक्ष अपने पक्ष को प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत करने के लिए दबाव समूह आँकड़े प्रकाशित करते हैं, ताकि अपनी बात को पूरा करवा सकें।
3. **गोष्ठियाँ आयोजित करना**–आजकल दबाव समूह विचार-विमर्श तथा वाद-विवाद के लिए गोष्ठियाँ, सेमिनार तथा भाषणमालाएँ एवं वार्ताएँ आयोजित करते हैं। इन गोष्ठियों में विधायिका तथा प्रशासन के प्रमुख अधिकारियों को आमंत्रित करते हैं और उन्हें अपने मत से प्रभावित करने का प्रयास करते हैं।
4. **संसद की लॉबियों में सक्रिय रहना**–दबाव समूह अपने एजेंटों एवं वकीलों के माध्यम से संसद के सभा कक्षों में जाकर सदस्यों को प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं।
5. **रिश्वत, बेईमानी तथा अन्य उपाय**–अपने ध्येय की रक्षा के लिए दबाव समूह रिश्वत व घूस देने से नहीं कतराते। कहीं-कहीं पर तो आवश्यकतानुसार सुरा और सुंदरी का भी प्रयोग करते हैं।
6. **लॉबीइंग**–लॉबीइंग से अभिप्राय है 'सरकार को प्रभावित करना'। यह एक राजनीतिक उपाय है। लॉबीस्ट का कार्य करने वाले व्यक्ति दबाव समूह और सरकार के बीच मध्यस्थ होते हैं। लॉबीस्ट के माध्यम से दबाव समूह विधि निर्माताओं को प्रभावित करते हैं और वांछित लक्ष्यों की प्राप्ति करते हैं।
7. **संसद-सदस्यों के मनोनयन में रुचि**–दबाव समूह ऐसे व्यक्तियों को चुनावों में दलीय प्रत्याशी मनोनीति करवाने में मदद देते हैं जो आगे चलकर संसद में उनके हितों की अभिवृद्धि में सहायक हों।
8. **प्रदर्शन**–कभी-कभी दबाव समूह उग्र आंदोलनात्मक तथा प्रदर्शनकारी साधनों का भी प्रयोग करते हैं। आजकल तो दबाव गुट हड़ताल, जुलूस, रैली, आदि साधनों का आमतौर से प्रयोग करने में लगे हैं।

11.5 भारतीय राजनीति में दबाव समूह (Pressure Groups in Indian Politics)

एशिया की राजनीति के तीन अध्येताओं (काहिन, पार्क एवं टिंकर) का यह निष्कर्ष भारत पर भी लागू होता है कि ''पश्चिमी देशों की राजनीतिक प्रक्रिया में हित समूहों की स्पष्ट अभिव्यक्ति हुई है, जबकि गैर-पश्चिमी देशों में ऐसा नहीं हुआ है।'' भारत में अमरीका की भाँति दबाव समूह विकसित नहीं हो पाए हैं यद्यपि कतिपय व्यावसायिक संगठन दबाव समूहों के रूप में सक्रिय अवश्य हैं। किंतु, अन्य समुदायों के दबाव समूह मध्यवर्गीय नेतृत्व के कारण सक्रिय रूप में राजनीतिक प्रक्रिया में निर्णयों को आधुनिक ढंग से प्रभावित नहीं कर पा रहे हैं। आर्थिक विपन्नता के कारण दबाव समूहों की मांग तथा शासकीय सामर्थ्य के मध्य एक बड़ा अंतर भारत में दर्शनीय है। सार्वजनिक वयस्क मताधिकार के चलन, राजनीतिक अधिकारों की वृद्धि, जनता को प्राप्त विशेषाधिकारों एवं आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रों में नियोजित कार्यक्रमों के विस्तार के कारण भारत की राजनीतिक संरचना में संगठित दबाव व हित समूहों का विस्तार होता जा रहा है।

11.6 दबाव समूह के प्रकार (Kinds of Pressure Groups)

भारत में क्रियाशील दबाव समूहों को ऑल्मंड तथा पॉवेल 'मॉडल' के आधार पर चार समूहों में विभाजित किया जा सकता है–

(1) संस्थानात्मक दबाव समूह (Institutional Pressure Groups),

(2) समुदायात्मक दबाव समूह (Associational Pressure Groups),

नोट

(3) असमुदायात्मक दबाव समूह (Non-associational Pressure Groups),

(4) प्रदर्शनात्मक दबाव समूह (Anomic Pressure Groups)।

भारत में दबाव समूह

संस्थानात्मक दबाव समूह	समुदायात्मक दबाव समूह	असमुदायात्मक दबाव समूह	प्रदर्शनात्मक दबाव समूह
1. कांग्रेस कार्य समिति	1. श्रमिक संघ	1. सांप्रदायिक तथा धार्मिक समुदाय	1. सिख स्टूडेंट फेडरेशन
2. कांग्रेस संसदीय बोर्ड	2. व्यावसायिक संघ	2. जातिगत समुदाय	2. नक्सलवादी
3. मुख्यमंत्री क्लब	3. कृषक समुदाय	3. भाषागत समुदाय	3. नवनिर्माण समिति
4. केंद्रीय चुनाव समिति	4. छात्र समुदाय	4. गांधीवादी संघ	4. सर्वोदय तथा तरुण सेना
5. नौकरशाही	5. कर्मचारी संघ	5. युवा तुर्क	5. गण संग्राम परिषद्
6. सेना	6. सांप्रदायिक संघ	6. सिंडीकेट	6. अखिल असम संघ

टास्क हाल ही में हुए जाट आंदोलन के परिप्रेक्ष्य में दबाव समूहों के प्रभाव पर अपने विचार प्रकट कीजिए।

1. **भारतीय राजनीति में संस्थानात्मक दबाव समूह**–संस्थानात्मक दबाव समूह राजनीतिक दलों, विधानमंडलों, सेना, नौकरशाही, इत्यादि में सक्रिय रहते हैं। इनके औपचारिक संगठन होते हैं, ये स्वायत्त रूप से क्रियाशील रहते हैं अथवा विभिन्न संस्थाओं की छत्रछाया में पोषित होते हैं, ये अपने हितों की अभिव्यक्ति करने के साथ-साथ अन्य सामाजिक समुदायों के हितों का भी प्रतिनिधित्व करते हैं। भारत जैसे विकासोन्मुख देश में कई कारणों से संस्थानात्मक दबाव समूह अत्यधिक प्रभावशाली शक्ति के रूप में कार्यरत रहते हैं। भारतीय राजनीति में इस स्वरूप के संस्थानात्मक चुनाव समूहों में कांग्रेस कार्य समिति, कांग्रेस संसदीय बोर्ड, मुख्यमंत्री क्लब, केंद्रीय चुनाव समिति, नौकरशाही तथा सेना को लिया जा सकता है।
2. **भारतीय राजनीति में समुदायात्मक दबाव समूह**–समुदायात्मक दबाव समूह हितों की अभिव्यक्ति के विशेषीकृत संघ होते हैं। इनकी मुख्य विशेषता विशिष्ट हितों की पूर्ति करना होता है। ये अपने आधुनिक परिवेश में भारतीय राजनीति में सक्रिय हैं। इनमें प्रमुख हैं–व्यावसायिक संगठन, कृषक संगठन, इत्यादि।
3. **भारतीय राजनीति में असमुदायात्मक दबाव समूह**–असमुदायात्मक दबाव समूह अनौपचारिक रूप से अपने हितों की अभिव्यक्ति करते हैं, इनके संगठित संघ नहीं होते और इन परंपरावादी दबाव समूहों में सांप्रदायिक और धार्मिक समुदाय, जातीय समुदाय, गांधीवादी समुदाय, भाषागत समुदाय, सिंडीकेट और युवा तुर्क प्रमुख हैं। सांप्रदायिक आधार पर गठित समुदायों में मुस्लिम मजलिस, विश्व हिंदू परिषद् (VHP), बाबरी मस्जिद एक्शन कमेटी (BMAC), जमायत-ए-इस्लाम-ए हिंद, जमायत-ए-इस्लामी, इत्यादि प्रमुख हैं। आयोध्या मसले पर विश्व हिंदू परिषद् ने केंद्र एवं उत्तर प्रदेश सरकार की नीतियों को प्रभावित करने का जबर्दस्त प्रयास किया। उत्तर प्रदेश में भाजपा की विजय का कारण उसे प्राप्त विश्व हिंदू परिषद् का समर्थन है। जैसे समाज, चर्च, वैष्णव समाज, नय्यर सेवा समाज, विश्व हिंदू परिषद, इत्यादि दबाव समूह भी इसी श्रेणी में आते हैं। इनकी अपनी पृथक् पाठशालाएँ, महाविद्यालय, छात्रावास, इत्यादि हैं। ये अपनी पृथकता बनाए रखने के लिए सतत् प्रयत्नशील रहते हैं। भारत में अल्पसंख्यकों के अधिकांश संगठन इसी स्वरूप के हैं।

नोट

अनेक गांधीवादी संगठन भी शासकीय नीतियों को प्रभावित करते हैं; उदाहरणार्थ, सर्वसेवा संघ, सर्वोदय, भूदान, खादी ग्रामोद्योग संघ, गांधी शांति प्रतिष्ठान इत्यादि ऐसे ही समूह हैं।

4. **भारतीय राजनीति में प्रदर्शनकारी दबाव समूह**–प्रदर्शनकारी दबाव समूह अनेक विकासोन्मुख राष्ट्रों की राज-व्यवस्था की विशेषता है और भारतीय राजनीति में इनको एकदम नवागत तथ्य नहीं कहा जा सकता। प्रदर्शनकारी गुट वे हैं जो अपनी माँगों को लेकर अवैधानिक उपायोग का प्रयोग करते हुए हिंसा, राजनीतिक हत्या, दंगे और अन्य आक्रामक रवैया अपना लेते हैं। प्रदर्शनकारी विरोध और प्रत्यक्ष कार्यवाही, कई प्रकार के हैं; जैसे जनसभाएँ, गली-कूचा बैठक, पद-यात्रा रैली, विरोध दिवस मनाना, हड़ताल, धरना, सत्याग्रह, अनशन, सार्वजनिक संपत्ति को हानि पहुँचाना, अग्निदाह, आवागमन अवरुद्ध करना, घेरना, आदि। इनके द्वारा संगठित गुट न केवल अपना असंतोष व्यक्त करते हैं अपितु सरकार के निवेश (Inputs) तथा निर्गत (Outputs) ढाँचे को प्रभावित करते हुए नियम-निर्माण (Rule making), नियम प्रयुक्त (Rule application), एवं नियम-अधिनिर्णयन (Rule adjudication) के स्वरूप को भी छू लेते हैं। ये गुट किसी विशेष नीति को बनवाने अथवा बदलने के लिए सरकार पर दबाव डालते हैं।

   भारतीय राजनीति में प्रदर्शनकारी दबाव गुटों के उदय का कारण यह माना जाता है कि सरकार लोगों की न्यायोचित माँगों की ओर ध्यान नहीं देती और राजनीतिक दल सभी प्रकार के लोगों की माँगों का समुचित प्रतिनिधित्व नहीं करते। जब शांतिपूर्ण माँगों की तरफ ध्यान नहीं दिया जाता तो दबाव गुट वैधानिक ढाँचे से हटकर कार्य करना प्रारंभ कर देते हैं।

   स्वाधीनता प्राप्ति के पश्चात् अनेक महत्त्वपूर्ण निर्णय प्रदर्शनकारी गुटों के दबाव के फलस्वरूप लिए गए हैं। इन्हीं के दबाव के फलस्वरूप चेन्नई, मुंबई व पंजाब राज्यों का विभाजन हुआ। पूर्वांचल में नये राज्यों का निर्माण करना पड़ा। सरकार की गौ-वध नीति के विरोध में साधुओं ने अनशन किया एवं हिंदी भाषा के समर्थकों ने अंग्रेजी के विरोध में सत्याग्रह किया। बंगाल में नक्सलवादी गुट का उदय हुआ जिसने हिंसा, हत्या, लूटपाट आदि साधनों का प्रयोग करते हुए सरकार का भूमि-सुधार, भूमि के न्यायोचित वितरण तथा भू-श्रमिकों की दैनिक मजदूरी बढ़ाने की ओर ध्यान आकर्षित किया।

11.7 भारतीय दबाव समूहों की विशेषताएँ (The Specific Features of Indian Model of Pressure Groups)

प्रो. मायरन वीनर की रचना **'पॉलिटिक्स ऑफ स्कैरसिटी'** भारत में दबाव राजनीति का विश्लेषण करने वाली प्रथम वैज्ञानिक रचना है। वीनर के बाद स्टेनली कोचनीक का ग्रंथ **'बिजनेस एंड पॉलिटिक्स इन इंडिया'** भारतीय राजनीति में व्यापारियों के दबाव समूहों की भूमिका का सूक्ष्म अध्ययन प्रस्तुत करता है। वीनर तथा कोचनीक के निष्कर्षों के अनुसार भारत में दबाव व हित समूहों की निम्न निराली विशेषताएँ हैं :

1. भारतीय राजनीति में परंपरावादी दबाव समूह; जैसे जाति, समुदाय, धर्म और प्रादेशिक गुट निर्णायक भूमिका अदा कर रहे हैं। अधिकांश राजनीतिक दल जाति और समुदाय के आधार पर ही अपने अनुयायियों को संगठित करते हैं। जातीय समुदाय को आज भी भारत में 'बेताज के सरताज' कहा जा सकता है।
2. अधिकांश समुदायात्मक दबाव समूहों पर राजनीतिक दलों का नियंत्रण है। उनका नेतृत्व राजनीतिक दलों के नेताओं के हाथों में है और उन्हें 'दल के पीछे दलीय सत्ता' कहा जा सकता है, किंतु यह भी एक विचित्र सत्य है कि प्रमुख व्यापार-उद्योग हित समूह दलीय नियंत्रण से स्वायत्त हैं।
3. अपने राजनीतिक हितों की पूर्ति के लिए कतिपय राजनीतिक दलों ने अर्द्ध-सैनिक स्वरूप वाले गुप्त संगठनों का भी निर्माण किया है।
4. स्वाधीनता प्राप्ति के तुरंत बाद सार्वजनिक नीति के निर्माण में दबाव समूहों की सीमित भूमिका दृष्टव्य है।
5. विगत कुछ वर्षों में केंद्रीय सरकार की नीतियों पर भारतीय संघ के राज्यों का भी प्रभाव पड़ने लगा है और राज्य संगठित दबाव डालने का प्रयास करने लगे हैं।

नोट

6. जब राज्यों में संविद और गैर-कांग्रेसी सरकारें कार्यरत थीं तो उन्होंने अपनी माँगों के समर्थन में केंद्रीय सरकार के विरोध में दबाव गुटों को प्रेरित किया। ऐसी माँगें जैसे अधिक विश्वविद्यालय, इस्पात कारखाने की स्थापना, तेल शोधन कारखाने की स्थापना, सार्वजनिक उद्यम की स्थापना आदि के लिए जब कभी राज्यों में आंदोलन हुए तो गैर-कांग्रेसी सरकारों ने आंदोलनकारियों के प्रति सहानुभूति का रवैया अपनाया।
7. राजनीतिक दलों में विद्यमान संस्थागत दबाव समूह ने दलीय व्यवस्था को ही डांवाडोल करने की चेष्टा की है। सत्ताधारी और विपक्षी दलों में कार्यरत गुटों ने बहुमत सरकार की कार्य-प्रणाली को ही चुनौती दी है।
8. विदेशी सहायता और विदेशी तकनीशियनों पर निर्भर होने के कारण विदेशी लॉबी भी हमारी नीतियों को प्रभावित करने के लिए दबाव डालते हैं।
9. समुदायात्मक और प्रदर्शनकारी दबाव समूह हिंसा, जन-आंदोलन, हड़ताल, अनशन और सत्याग्रह जैसे अवैधानिक साधनों का प्रयोग करते नहीं हिचकिचाते।
10. भारत में दबाव समूह मुख्यतया प्रशासकों को प्रभावित करने में लगे रहते हैं न कि नीति-निर्माण को।
11. भारत में आम धारणा दबाव समूहों की कार्य-पद्धति के प्रतिकूल है। यह अच्छा नहीं माना जाता कि हित समूह नीति निर्माताओं का मार्गदर्शन करें। ऐसा भी माना जाता है कि यदि एक बार सरकार दबाव गुटों के आगे झुक जाती है तो फिर कोई भी निर्णय सार्वजनिक हित में नहीं लिया जा सकता।

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि भारत में असमुदायात्मक दबाव गुट सर्वाधिक प्रभावशाली हैं और उनमें भी 'जाति' का प्रभाव सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। उसके बाद संस्थानात्मक दबाव समूहों ने राजनीति को प्रभावित किया है। समुदायात्मक दबाव समूहों में केवल 'फेडरेशन ऑफ इंडियन चैंबर्स ऑफ कॉमर्स एंड इंडस्ट्री' को ही आधुनिक दबाव समूह माना जा सकता है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

दिए गए कथन के आधार पर सही (✓) और गलत (✗) का निशान लगाइए–

1. कभी-कभी दबाव समूह उग्र आंदोलनात्मक तथा प्रदर्शनकारी साधनों का भी प्रयोग करते हैं। ☐
2. दबाव समूह सत्ता का ही एक अंग होते हैं। ☐
3. भारत में अधिकांश समुदयात्मक दबाव समूहों पर राजनीतिक दलों का नियंत्रण है। ☐
4. शासन की सूचनाओं के गैर-सरकारी स्रोत के रूप में दबाव समूह महत्त्वपूर्ण अदा भूमिका करते हैं। ☐

11.8 राजनीतिक दल का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Political Party)

सामान्यत: राजनीतिक दल का अर्थ लोगों के ऐसे संगठन से लिया जाता है जिसका एक विशेष उद्देश्य, सिद्धांत, मत व राजनीतिक ध्येय पर मतैक्यता होती है और वह सुसंगठित एवं एकीकृत होता है।

एडमंड बर्क के अनुसार, ''राजनीतिक दल ऐसे दलों का एक समूह होता है जो किन्हीं पूर्व स्वीकृत सिद्धांतों के आधार पर अपने सामूहिक प्रयत्नों द्वारा जनता के हित में काम करने के लिए एकता में बंधे हैं।''

गैटिल के अनुसार, ''एक राजनीतिक दल न्यूनाधिक संगठित उन नागरिकों का समूह होता है जो राजनीतिक इकाई के रूप में कार्य करते हैं और जिनका उद्देश्य अपने मतदानरूपी बल के प्रयोग द्वारा सरकार को नियंत्रित करना और अपनी सामान्य नीतियों का संचालन करना होता है।''

नोट

गिलक्राइस्ट के अनुसार, ''राजनीतिक दल की परिभाषा उन नागरिकों के संगठित समूह के रूप में की जा सकती है जो राजनीतिक रूप से एक विचार के हों और जो राजनीतिक इकाई के रूप में सरकार पर नियंत्रण करना चाहते हों।''

प्रोफेसर लीकॉक के शब्दों में, ''राजनीतिक दल से हमारा तात्पर्य नागरिकों के उस संगठित समूह से होता है जो एक राजनीतिक इकाई के रूप में कार्य करते हैं।''

इन परिभाषाओं से स्पष्ट है कि राजनीतिक दल मतैक्यता एवं सिद्धांतों के आधार पर संगठित राजनीतिक समूह होते हैं जिनका उद्देश्य सत्ता संघर्ष में भाग लेना होता है।

11.9 राजनीतिक दल के आवश्यक तत्व (विशेषताएँ) (Essential Elements (Characteristics) of Political Party)

मैकाइवर, गिलक्राइस्ट, एडमंड बर्क एवं गैटल आदि विद्वानों ने राजनीतिक दल की जो परिभाषाएँ दी हैं उनके आधार पर राजनीतिक दल की निम्नांकित विशेषताएँ या आवश्यक तत्व प्रकट होते हैं–

1. **संगठन**–राजनीतिक दल में एक संगठन का होना अति आवश्यक है। विभिन्न विषयों एवं समस्याओं के बारे में समान विचार रखने वाले व्यक्ति जब तक संगठित नहीं होंगे वे एक राजनीतिक दल का निर्माण नहीं कर सकते। राजनीतिक दलों की शक्ति भी उनके संगठन पर निर्भर है। संगठन के आधार पर ही वे चुनाव में विजय प्राप्त करते हैं, सत्ता प्राप्त करते हैं और अपनी नीतियों का कार्यान्वयन करते हैं।
2. **सामान्य सिद्धांतों की एकता**–राजनीतिक दलों का संगठित रूप में कार्य करना तभी संभव है, जबकि उनके सदस्य किन्हीं सामान्य सिद्धांतों के बारे में एकमत हों। मूल प्रश्नों पर एकमतता के अभाव में वे परस्पर सहयोग नहीं कर सकते। बिना सिद्धांतों के स्थापित संगठनों को राजनीतिक दल न कहकर गुट कहा जा सकता है। दल के सदस्यों के बीच परस्पर मतभेद हो सकते हैं जिन्हें परस्पर बातचीत एवं समझौते के माध्यम से हल किया जा सकता है। सिद्धांतों के आधार पर ही दल नीति निर्माण करता है और सत्ता प्राप्ति के बाद उसे लागू करता है। दल चुनावों में अपने सिद्धांतों का प्रचार करते हैं, अपने प्रत्याशियों को जनता के सामने रखते है और उनका समर्थन प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं।
3. **संवैधानिक साधनों में विश्वास**–राजनीतिक दलों के लिए यह आवश्यक है कि वे अपने सिद्धांतों, नीतियों, विचारों एवं कार्यक्रमों को कार्यरूप में परिणत करने के लिए संवैधानिक मार्ग अपनाएँ। मतदान और मतदाता के निर्णय को उन्हें शिरोधार्य करना चाहिए। गुप्त उपायों एवं सशस्त्र क्रांति जैसे असंवैधानिक उपायों में विश्वास करने वालों को राजनीतिक दल नहीं कहा जा सकता, वे सैनिक संगठन ही होते हैं।
4. **शासन करने की इच्छा**–राजनीतिक दलों का एक उद्देश्य सत्ता और सरकार पर कब्जा करके अपने सिद्धांतों, विचारों एवं नीतियों को कार्यरूप में परिणत करना होता है। शासन व्यवस्था में भाग न लेने वाले को राजनीतिक दल नहीं कहा जा सकता है।
5. **राष्ट्रीय हित**–राजनीतिक दल किसी विशिष्ट वर्ग, जाति, धर्म, संप्रदाय आदि के लिए ही कार्य नहीं करते वरन् वे सारे देश के लिए कार्य करते हैं और अल्पसंख्यक एवं बहुसंख्यक सभी के हितों का ध्यान रखते हैं। इसलिए ही **बर्क** कहते हैं कि राजनीतिक दल राष्ट्रीय हित की वृद्धि के लिए संगठित राजनीतिक समुदाय हैं।

   संक्षेप में हम कह सकते हैं कि राजनीतिक दल ऐसे संगठित समूह हैं जो किसी समस्या पर समान विचार रखते हैं, अपने विचारों को कार्यरूप में परिणत करने के लिए वे संवैधानिक साधनों का प्रयोग करते हैं, वे सत्ता प्राप्ति की इच्छा रखते हैं जिसका उद्देश्य राष्ट्रहितों की वृद्धि करना होता है।

नोट

11.10 प्रजातंत्र अथवा लोकतंत्र में राजनीतिक दलों की भूमिका या महत्त्व (Role or Importance of Political Parties in Democracy)

राजनीतिक दल प्रजातंत्र के लिए अपरिहार्य हैं, वे प्रजातंत्र की आधारशिला होते हैं। इस आधार के बिना प्रजातंत्र टिक ही नहीं सकता। **प्रो. मरियम** लिखते हैं, ''राजनीतिक दलों का कार्य अधिकारी वर्ग का चुनाव करना, सरकार को चलाना और उसकी आलोचना करना, राजनीतिक शिक्षण तथा व्यक्ति और सरकार के बीच मध्यस्थता का कार्य करना होता है।''

प्रो. मुनरो का मत है कि राजनीतिक दलों को चाहिए कि वे जनता के लिए राजनीतिक समस्याओं का निर्धारण करें, जिससे जनता को यह ज्ञात हो कि राजनीतिक समस्याएँ क्या हैं और उन पर दल के क्या विचार हैं। उन्हें प्रतिनिधि सभाओं के लिए प्रत्याशियों का चुनाव भी करना चाहिए, जिससे सरकार के संचालन के लिए योग्य व्यक्ति चुन कर भेजे जा सकें। इसके अतिरिक्त उनका कार्य यह भी है कि वे सामूहिक व स्थाई राजनीतिक उत्तरदायित्व बनाए रखें तथा जनता को नागरिक शिक्षा देकर उसमें राजनीतिक जागरूकता बनाए रखें।

पीटरसन के अनुसार, ''राजनीतिक दल राष्ट्रीय एकता का विकास करने और उसे बनाए रखने में सहायक होते हैं जहाँ शासक शक्ति का पृथक्करण है वहाँ शासन के विभिन्न अंगों में सहयोग स्थापित करते हैं, आर्थिक हितों के संघर्षों को कम करते हैं क्योंकि विभिन्न आर्थिक समुदायों की माँगें दल के मंच से व्यक्त की जा सकती हैं तथा मतदान के कार्य में सहायता देती हैं।''

लॉबेल ने राजनीतिक दलों के दो प्रमुख कार्यों का उल्लेख किया है : (1) वे मतदाताओं के सामूहिक रूप से कार्य करने में सहायक होते हैं, (2) वे लोकनिर्णय के लिए समस्याओं का निर्धारण करते हैं।

विभिन्न विद्वानों के विचारों से स्पष्ट है कि लोकतंत्र की सफलता के लिए राजनीतिक दलों का बड़ा महत्त्व है, ये लोकतंत्र की कसौटी हैं, क्योंकि किसी देश की राजनीतिक व्यवस्था में जनतंत्रवाद का अस्तित्व कहाँ तक है, इसकी माप इस बात से की जा सकती है कि वहाँ राजनीतिक दल प्रणाली किस सीमा तक स्वस्थ राजनीतिक प्रतियोगिता पर आधारित है। राजनीतिक दलों में स्वस्थ प्रतिस्पर्द्धा, व्यापक जनसंपर्क, जनमत की अभिव्यक्ति आदि ऐसी बातें हैं जो जनतंत्र को सार्थक बनाते हैं।

दूसरी ओर कुछ ऐसे विचारक भी हैं जो राजनीति की सारी बुराइयों की जड़ राजनीतिक दलों को ही मानते हैं। वे दल विहीन लोकतंत्र में विश्वास करते हैं। महात्मा गाँधी, जयप्रकाश नारायण एवं विनोबा भावे ऐसे ही विचारकों में से हैं, किंतु दल विहीन प्रजातंत्र एक आदर्श कल्पना ही कही जा सकती है, वास्तविकता नहीं। **प्रजातंत्र में राजनीतिक दलों का महत्त्व या भूमिका** निम्न प्रकार हैं–

1. **प्रत्याशियों का चयन एवं कार्यक्रम का निर्धारण**–चुनाव के समय राजनीतिक दल अपने प्रत्याशियों का चुनाव करते हैं, उन्हें चुनाव मैदान में उतारते हैं, उनके लिए वोट माँगते हैं तथा उन्हें विजयी बनाने का प्रयत्न करते हैं। राजनीतिक दल अपने प्रत्याशियों को चुनाव में आर्थिक मदद भी देते हैं तथा उनके लिए भविष्य के कार्यक्रम भी तय करते हैं।

   यदि राजनीतिक दल न हों तो आज के विशाल लोकतंत्रात्मक राज्यों में चुनावों का संचालन लगभग असंभव ही हो जाए। चुनावों के संचालन में राजनीतिक दलों के महत्त्व के प्रकट करते हुए **फाइनर** लिखते हैं, ''राजनीतिक दलों के बिना निर्वाचक या तो नितांत असहाय हो जाएँगे या उनके द्वारा असंभव नीतियों को अपनाकर राजनीतिक तंत्र को नष्ट कर दिया जाएगा।''

   राजनीतिक दल जनता के कल्याण के लिए कार्यक्रम भी निर्धारित करते हैं क्योंकि अनेक लोग तो यह भी नहीं जानते कि व्यापक हित में कौन से कार्यक्रम तय किए जाने चाहिए। मतदाता चुनाव लड़ने वाले प्रत्याशियों को व्यक्तिगत रूप से भी नहीं जानते हैं। अत: दलों द्वारा प्रस्तुत कार्यक्रमों के आधार पर भी प्रत्याशियों को मत दिए जाते हैं।

2. **कार्यक्रमों के क्रियान्वयन में उत्तरदायित्व का निर्वाह**–राजनीतिक दल अपने प्रत्याशियों को निर्धारित कार्यक्रमों के प्रति प्रतिबद्ध बनाए रखते हैं। चुनाव में जनता से किए गए वायदों को निभाने के लिए उन

नोट

पर नियंत्रण बनाए रखते हैं। अत: वे अपने कार्यक्रमों एवं वायदों की उपेक्षा सरलता से नहीं कर सकते। यदि विभिन्न उम्मीदवार निर्दलीय रूप में चुनाव लड़ें और जीत जाएँ तो यह संभव है कि वे जनता से किए गए वायदों को भूल जाएँ क्योंकि उन पर किसी का नियंत्रण नहीं रहता, किंतु दलीय उम्मीदवारों पर यह बात लागू नहीं होती। निर्दलीयों ने ही भारत में **'आयाराम गयाराम'** की राजनीति चालू कर सरकारों में अस्थिरता उत्पन्न की है।

3. **सरकार का निर्माण एवं शासन संचालन**–निर्वाचन में विजयी होने पर राजनीतिक दल सरकार बनाते हैं एवं शासन संचालन करते हैं। वे शासन के लिए योग्य व्यक्तियों को चुनते हैं, उन्हें प्रशिक्षित करते हैं और उनके लिए जनता का समर्थन जुटाते हैं और जनमत की आवाज अपने माध्यम से शासक वर्ग तक पहुँचाते हैं। अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था में राष्ट्रपति अपने दल के लोगों में से मंत्रि-परिषद् का निर्माण करता है जो उसे शासन चलाने में सहायक होते हैं। संसदात्मक शासन व्यवस्था में जिस दल को व्यवस्थापिका (संसद या विधानसभा) में बहुमत प्राप्त होता है वही प्रधानमंत्री का चुनाव करता है और प्रधानमंत्री अपना मंत्रिमंडल बनाता है। इस प्रकार से अध्यक्षात्मक एवं संसदात्मक दोनों प्रकार की शासन व्यवस्थाओं में सरकार का निर्माण और शासन का संचालन राजनीतिक दलों द्वारा किया जाता है। राजनीतिक दलों के अभाव में व्यवस्थापिका के सदस्य 'अपनी-अपनी ढपली अपना-अपना राग' वाला रुख अपना सकते हैं। ऐसी स्थिति में शासन चलाना असंभव होगा।

4. **सरकार पर नियंत्रण**–जो राजनीतिक दल बहुमत के अभाव में सत्ता में नहीं आ पाते वे सत्ताधारी दल की आलोचना करते हैं, उन पर निगाह एवं नियंत्रण रखते हैं, ताकि वे सत्ता के मद में जनहित को न भूल जाएँ। संगठित विरोधी दल के अभाव में शासक दल अधिनायकवादी रुख अपना सकता है।

5. **जनमत जागरूक करना**–राजनीतिक दल का एक कार्य जनता में राजनीतिक जागृति लाना तथा लोगों को देश-विदेश की समस्याओं से अवगत कराना भी है। वे जनता को समस्याओं के कारणों एवं हल से भी परिचित कराते हैं।

   सार्वजनिक समस्याओं के संबंध में किए गए निरंतर प्रचार और वाद-विवाद के आधार पर वे सामान्य जनता में सार्वजनिक क्षेत्र के प्रति रुचि जाग्रत करते हैं। उनका उद्देश्य अपनी लोकप्रियता बढ़ाकर शासन शक्ति पर अधिकार करना होता है, इसलिए वे प्रेस एवं प्रचार माध्यमों से अपनी विचाधारा को अधिकाधिक प्रचारित करते हैं। इस प्रकार वे उदासीन मतदाता को भी समस्याओं का कुछ ज्ञान तो करा ही देते हैं। इसलिए ही **लावेल** कहते हैं कि, ''राजनीतिक दल राजनीतिक विचारों के दलाल होते हैं।''

   राजनीतिक दल जनमत को जागरूक करने के साथ-साथ जनमत के निर्माण का कार्य भी करते हैं। इस संदर्भ में **ब्राइस** कहते हैं, ''जनमत को प्रशिक्षित करने, उसके निर्माण और अभिव्यक्ति में राजनीतिक दलों के द्वारा अत्यधिक महत्त्वपूर्ण कार्य किया जाता है (Political parties go a great way in helping to educate, formulate and organize public opinion) वे अन्यत्र लिखते हैं ''जिस प्रकार ज्वार-भाटा महासागर के जल को ताजा और तरंगित रखता है उसी प्रकार राजनीतिक दल राष्ट्र के दिमाग को ताजा और तरंगित रखते हैं।''

6. **राजनीतिक शिक्षण**–राजनीतिक दल प्रचार के द्वारा राजनीतिक शिक्षण का कार्य भी करते हैं। वे ही जनता को अनेक प्रकार की सूचनाओं, सत्ताधारी दल की त्रुटियों आदि से अवगत कराते हैं, किंतु राजनीतिक शिक्षण में दलगत-भावना एवं प्रचार की प्रमुखता होती है। फिर भी सीखने के लिए जनता के लिए बहुत सामग्री होती है। भारत के ही बोफोर्स तोपों की खरीद में हुए घोटाले की जानकारी आम जनता को विरोधी राजनीतिक दलों ने ही दी थी। फिर भी यह कार्य राजनीतिक दलों का मुख्य कार्य न होकर गौण कार्य है। विकसित राष्ट्रों की अपेक्षा विकासशील राष्ट्रों में राजनीतिक दलों द्वारा राजनीतिक शिक्षण का कार्य अधिक प्रभावी और महत्त्वपूर्ण होता है।

7. **सरकार का विकल्प**–जब एक राजनीतिक दल सरकार चलाने में असमर्थ होता है अथवा मतदान के समय संसद में हार जाता है तो प्रतिपक्षी दल अपने आपको सरकार चलाने के लिए प्रस्तुत करते हैं।

नोट

ब्रिटेन आदि संसदीय देशों में जहाँ सामान्यत: द्वि दलीय प्रणाली है, विरोधी दल भी अपने छाया मंत्रिमंडल बना लेते हैं, जो अवसर आने पर शासन-सूत्र संभालने को तैयार रहते हैं।

8. **जनता व शासन के बीच संबंध**–लोकतंत्र का मूलभूत सिद्धांत जनता और शासन के बीच संपर्क बनाए रखना और इस संपर्क का सबसे बड़ा साधन राजनीतिक दल ही है। लोकतंत्र में सत्ताधारी दल जनता में सरकार की नीतियों का प्रचार करते हैं और जनमत को अपने पक्ष में रखने का प्रयत्न करते हैं। विरोधी दल शासन के दोषों की ओर जनता का ध्यान आकर्षित करते हैं। इसके अतिरिक्त राजनीतिक दल जनता की कठिनाइयों एवं समस्याओं को शासन के विभिन्न विभागों एवं अधिकारियों तक पहुँचाकर उन्हें हल करने की चेष्टा भी करते हैं।
9. **सरकार के विभिन्न विभागों में समन्वय एवं सामंजस्य**–कोई भी सरकार उस समय तक सही ढंग से कार्य नहीं कर सकती, जब तक उसके विभिन्न विभागों में समन्वय एवं सहयोग न हो और यह कार्य राजनीतिक दलों द्वारा ही संभव है। संसदीय शासन व्यवस्था में एक ही राजनीतिक दल कार्यपालिका एवं व्यवस्थापिका में सत्ताधारी होता है। अत: राजनीतिक दल अपनी इच्छानुसार कानूनों का निर्माण करवा सकता है। दूसरी ओर व्यवस्थापिका भी कार्यपालिका पर नियंत्रण रखती है, उसकी नीतियों की आलोचना करती है और अविश्वास मत पारित कर उसे पद से हटा सकती है। इस प्रकार राजनीतिक दल ही व्यवस्थापिका एवं कार्यपालिका में समन्वय स्थापित करते हैं।

उपर्युक्त सभी कार्यों के कारण ही प्रजातंत्र में राजनीतिक दलों का महत्त्व होता है। कुछ विद्वान **राजनीतिक दलीय प्रणाली को इसलिए महत्त्वपूर्ण मानते हैं कि यह प्रजातंत्र की सहायक है, दृढ़ सरकार का प्रतीक है, जनशिक्षण का साधन है, निरंकुशता पर नियंत्रण है तथा अनुशासन, जनमत संगठन एवं राष्ट्रीय एकीकरण में सहायक है।**

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें–

5. राजनीतिक उपायों द्वारा 'सरकार को प्रभावित करने' की कोशिश ..... कहलाती है।
6. दबाव समूह को ही ..... भी कहते हैं।
7. ऑलमंड पावेल ने दबाव समूहों को ..... विभाजित किया है।

11.11 दलीय प्रणाली के गुण (Merits of Party System)

विभिन्न विद्वानों ने दलीय प्रणाली के निम्नांकित गुणों का उल्लेख किया है–

1. **मानवीय स्वभाव के अनुकूल**–प्रकृति की भाँति ही विभिन्न व्यक्तियों के स्वभाव एवं विचारों में भी भिन्नता पाई जाती है। कुछ लोगों का स्वभाव उदारवादी होता है तो कुछ अनुदारवादी तो कुछ क्रांतिकारी और विद्रोही विचारों के। विचारों एवं स्वभाव की यह विभिन्न राजनीतिक दलों के द्वारा ही प्रकट हो सकती है। यही कारण है कि राजनीतिक दलों को मानवीय प्रकृति के अनुकूल कहा जा सकता है।
2. **लोकतंत्र के लिए आवश्यक**–राजनीतिक दल लोकतंत्र के अनिवार्य अंग हैं, उनके अभाव में लोकतंत्र की सफलता की कल्पना भी नहीं की जा सकती। राजनीतिक दल ही लोकतंत्र का संचालन करते हैं, वे चुनावों में भाग लेते हैं, जिसके परिणामस्वरूप सरकार बनती है। इस प्रकार राजनीतिक दल लोकतंत्र के प्रहरी हैं।
3. **शासन को दृढ़ता प्रदान करना**–दलीय प्रणाली सरकार एवं शासन को शक्ति और दृढ़ता प्रदान करती है। लोकतंत्र में बहुमत द्वारा सरकार का निर्माण होता है। चूँकि दल के सदस्यों में शासन संबंधी नीति के विषय में एकता होती है, अत: उससे शासन में दृढ़ता रहती है। यदि जनता का प्रत्येक व्यक्ति व्यक्तिगत

नोट

रूप से कार्य करे तो न सरकार स्थाई हो सकती है और न ही शासन में उत्तरदायित्व निश्चित किया जा सकता है। इस प्रकार अनिश्चय और अविश्वास के वातावरण में शासन कार्य बहुत कठिन हो जाता है। इसलिए दलीय प्रणाली आवश्यक हो जाती है। **फाइनर** कहते हैं, ''बिना संगठित राजनीतिक दलों के निर्वाचकगण या तो पंगु हो जाएँगे या विनाशकारी और ऐसी नीतियाँ ग्रहण करेंगे कि सारी शासन व्यवस्था ही अस्त-व्यस्त हो जाएगी।

4. **जन-शिक्षा का साधन**–राजनीतिक दल जनता को सार्वजनिक शिक्षा प्रदान करने के महत्त्वपूर्ण साधन हैं। राजनीतिक दल देश की समस्याओं को समाचार-पत्रों, भाषणों, लेखों, सभाओं, रेडियो एवं टी.वी. के माध्यम से जनता के सम्मुख रखते हैं और जनता को उन पर अपनी राय व्यक्त करने का अवसर प्रदान करते हैं। उसी प्रकार से मताधिकार के द्वारा जनता को देश के भाग्य का निर्माण करने का अवसर मिलता है। **ब्राइस** कहते हैं, दल राष्ट्र के मन को क्रियाशील रखते हैं; मतदान से पूर्व प्रत्येक दल में वाद-विवाद का सूत्रपात हो जाता है, जिससे निर्वाचन से पूर्व एक ऐसा मंच बन जाता है जिसके माध्यम से दल समस्याओं को जनता के सम्मुख लाते हैं, उनकी परिभाषा करते हैं तथा वे आलोचनाओं को नियंत्रण देते हैं। **फाइनर** कहते हैं कि, ''राजनीतिक दल इस प्रकार से कार्य करते हैं कि प्रत्येक नागरिक को संपूर्ण राष्ट्र का ज्ञान प्राप्त हो जाए, जो समय और प्रदेश की दूरी के कारण अन्यथा असंभव है।''

5. **शासन पर नियंत्रण**–दलीय प्रणाली द्वारा सरकार की निरंकुशता पर अंकुश रखा जाता है जिससे सरकार की स्वेच्छाचारिता पर रोक लग जाती है। जिससे शासन का संतुलन बना रहता है। **लाबेल** कहते हैं, ''एक मान्यता प्राप्त विरोधी दल की स्थाई उपस्थिति से निरंकुशता के मार्ग में बाधा पड़ती है।'' निरंकुशता के कारण विद्रोह भी होते हैं, किंतु विरोधी दल की सत्ता विद्रोह से देश को बचाती है क्योंकि सरकार के विरुद्ध जनता में अविश्वास फैलता है तो विरोधी दल दूसरी सरकार बनाने के लिए तैयार रहते हैं। इससे सत्तारूढ़ दल की कार्यकुशलता बढ़ जाती है और विरोध के भय से वह सोच समझकर शासन का संचालन करता है। **लॉस्की** कहते हैं कि, ''राजनीतिक दल ही देश में तानाशाही के उदय से हमारी रक्षा का सबसे बड़ा साधन हैं।''

6. **श्रेष्ठ कानूनों का निर्माण**–व्यवस्थापिका, जो कि देश के लिए क़ानूनों का निर्माण करती है, में सत्तारूढ़ और विरोधी दोनों प्रकार के दल होते हैं। शासक दल द्वारा प्रस्तुत क़ानूनों का विरोधी दल पूरी तरह लेखा-जोखा करते हैं, उनकी कमियों तथा दुरुपयोगों की संभावना के विरुद्ध शासक दल का ध्यान खींचते हैं। विधेयक पर वाद-विवाद से उनकी कमियाँ दूर कर दी जाती हैं और श्रेष्ठ कानूनों का निर्माण होता है।

7. **जनमत का संगठन**–प्रजातंत्र में एक समस्या पर अनेक मतों का होना स्वाभाविक है। राजनीतिक दल ही विभिन्न मतों को केंद्रित करते हैं और उन्हें एक रूप प्रदान करते हैं। किसी भी समस्या पर जनमत प्राय: हाँ या ना में स्वयं ही प्रकट होता है। अत: राजनीतिक दलों के प्रयासों से विचारों के परस्पर आदान-प्रदान के कारण विविध विचारों का सामंजस्य और जनमत का संगठन एवं प्रकाशन हो जाता है।

8. **अनुशासन**–दलीय व्यवस्था संगठन पर आधारित होती है और संगठन अनुशासन पर सत्तारूढ़ और विरोधी दोनों दलों को अपनी-अपनी नीतियों का प्रचार अनुशासनबद्ध तरीके से करना पड़ता है, तभी जनता में उसकी प्रतिष्ठा बढ़ती है। वे दल के भीतर एवं अंतरदलीय व्यवहार में भी अनुशासन बनाए रखते हैं। परिपक्व दल व्यवस्था होने पर उस देश में राजनीतिक उथल-पुथल भी बहुत कम ही हो पाती है।

9. **राष्ट्रीय एकता**–सत्ता में आने के लिए राजनीतिक दल जनता के समर्थन के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। संकुचित मसलों को उठाकर कोई भी दल जन-समर्थन की उपेक्षा नहीं कर सकता है, अत: राजनीतिक दल सदैव व्यापक एवं राष्ट्रीय मसलों को उठाते हैं जिससे राष्ट्रीय एकता को बल मिलता है। **पीटरसन** भी मानते हैं कि, ''राजनीतिक दल राष्ट्रीय एकता का विकास करने और उसे बनाए रखने में सहायक होते हैं।'' **बर्क** ने राजनीतिक दलों को राष्ट्रीय हित की वृद्धि के लिए संगठित राजनीतिक समुदाय कहा है।

नोट

10. **सामाजिक एवं सांस्कृतिक विकास**–राजनीतिक दल देश के सामाजिक व सांस्कृतिक विकास के लिए भी प्रयत्नशील रहते हैं। महात्मा गाँधी स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व हरिजनों के उत्थान, मद्यपान को समाप्त करने, स्त्रियों को समाज में समुचित स्थान दिलाने आदि के लिए प्रयत्नशील रहे। राजनीतिक दल पुस्तकालय, वाचनालय एवं अध्ययन केंद्र स्थापित करके बौद्धिक एवं सांस्कृतिक विकास में भी सहयोग देते हैं।

राजनीतिक दलों के गुणों का उल्लेख करते हुए **लॉर्ड ब्राइस** लिखते हैं, **''दल राष्ट्र के मस्तिष्क को उसी प्रकार स्वच्छ रखते हैं जैसे लहरों की हलचल से समुद्र की खाड़ी का जल स्वच्छ रहता है।'' लॉस्की** ने लिखा है, ''राजनीतिक दलों के कारण जनता का भवावेश क़ानून का रूप धारण नहीं कर पाता है। राजनीतिक दल अधिनायकवाद के पक्ष की सबसे बड़ी रुकावट है और उनका सबसे बड़ा गुण यह है कि वे जनता को अपने विवेक के प्रयोग का अवसर प्रदान करते हैं।''

11.12 दलीय पद्धति के दोष (Demerits of Party System)

दलीय पद्धति के जहाँ अनेक गुण हैं वहीं दोषों से भी मुक्त नहीं है। **एलेक्जेंडर पोप** का तो मत है कि जिस समाज में दलों का अस्तित्व है, वहाँ सच्ची समान्य इच्छा की अभिव्यक्ति हो ही नहीं सकती। भूतपूर्व अमेरिकन राष्ट्रपति **वाशिंगटन** ने भी अपना मत व्यक्त करते हुए कहा है कि राजनीतिक दल लोकप्रिय शासन के सबसे बड़े शत्रु हैं। **रूसो** का मत है कि सामान्य इच्छा या सच्चा लोकमत ऐसे देश में व्यक्त नहीं हो सकता जहाँ राजनीतिक दल या वर्ग विद्यमान हैं। इसी संदर्भ में हम यहाँ राजनीतिक दल के दोषों का उल्लेख करेंगे–

1. **लोकतंत्र के विकास में बाधक**–लोकतंत्र व्यक्तिगत स्वतंत्रता का समर्थक है, किंतु राजनीतिक दल इस स्वतंत्रता का हनन कर लोकतंत्र में बाधक बन जाते हैं। राजनीतिक दल के सदस्यों को अपने व्यक्तिगत विचारों को त्यागकर सार्वजनिक क्षेत्र में दल के विचारों का समर्थन करना पड़ता है। इस प्रकार व्यक्ति दलीय यंत्र के चक्र का एक ऐसा भाग बन जाता है जो पहिये के साथ ही चलता रहता है। **लीकॉक** कहते हैं, ''राजनीतिक दल उस व्यक्तिगत विचार तथा कार्य संबंधी स्वतंत्रता का अंत कर देते हैं जिसे लोकतंत्रात्मक शासन का आधारभूत सिद्धांत माना जाता है।'' सामान्य लोगों की ही नहीं वरन् जनप्रतिनिधि के विचारों की भी स्वतंत्रता पर अंकुश लगा दिया जाता है और उसे संसद, विधानमंडल एवं सार्वजनिक रूप से दल के विचारों का ही समर्थन करना होता है, चाहे उन विचारों से व्यक्ति के विचार कितने ही भिन्न एवं विरोधी क्यों न हों। **गिलबर्ट** कहते हैं, ''मैंने सदैव दल की पुकार पर ही मतदान किया और अपने संबंध में विचार करने के लिए कभी नहीं सोचा।''
2. **राष्ट्रीय हितों की हानि**–दलबंदी में पड़कर जनता राष्ट्रीय हितों को भूल जाती है। दल के सदस्य भी राष्ट्रहित की अपेक्षा दलहित को प्राथमिकता देते हैं। प्राय: शासन संबंधी नीतियों और योजनाओं का निर्माण दलहित की दृष्टि से होता है। **मैरियट** लिखते हैं, ''दल भक्ति के आधिक्य से देशभक्ति की आवश्यकताओं पर पर्दा पड़ सकता है। मत प्राप्त करने के धंधे पर अत्यधिक ध्यान देने से दलों के नेता और उनके प्रबंधक देश की उच्चतम आवश्यकताओं को भूल जाते हैं अथवा टाल सकते हैं।''
3. **शासन कार्य में सर्वोत्तम व्यक्ति की उपेक्षा**–दलीय प्रणाली के कारण देश के सर्वोत्तम व्यक्तियों की सेवा से देश वंचित रह जाता है। राजनीतिक दल अपने प्रतिनिधि ऐसे व्यक्तियों को चुनते हैं जो उनका अंधसमर्थन करें और दल के नेता की हाँ में हाँ मिलाएँ, किंतु सर्वोत्तम व्यक्ति अपने विचारों को त्यागकर इस प्रकार का आचरण नहीं कर सकते। अत: दल में योग्य व्यक्तियों की उपेक्षा होती है और अयोग्य व्यक्तियों को प्रशासन में उच्च स्थान मिल जाता है, फलस्वरूप समूचे प्रशासनिक स्तर में गिरावट आ जाती है।

11.13 सारांश (Summary)

- राजनीतिक प्रक्रिया में दबाव समूहों का विशिष्ट महत्त्व है। 'दबाव समूह' को विभिन्न नामों से संबोधित किया गया है। जैसे, हित समूह, गैर-सरकारी संगठन, लॉबीज, अनौपचारिक संगठन, गुट इत्यादि।

नोट

- प्रत्येक देश और समाज में सैकड़ों हित समूह होते हैं, किंतु जब वे सत्ता को प्रभावित करने के इरादे से राजनीतिक दृष्टि से सक्रिय हो जाते हैं, तो 'दबाव समूह' बन जाते हैं। वस्तुत: दबाव समूह ऐसा माध्यम है जिनके द्वारा सामान्य हित वाले व्यक्ति सार्वजनिक मामलों को प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं। जनतांत्रिक प्रक्रिया की अभिव्यक्ति के लिए दबाव समूहों को लोकतंत्र की अभिव्यक्ति का साधन माना जाता है। लोकतंत्र की सफलता के लिए लोकमत तैयार करना आवश्यक है ताकि विशिष्ट नीतियों का समर्थन अथवा विरोध किया जा सके।
- भारत की राज-व्यवस्था में राजनीतिक दलों एवं दबाव समूहों में अंतर करना एक कठिन कार्य है। राजनीतिक दलों और दबाव समूहों में आधारभूत अंतर है—राजनीतिक दल निर्वाचनों में भाग लेते हैं, जबकि दबाव समूह निर्वाचनों में अपने प्रत्याशी खड़ा नहीं करते; राजनीतिक दलों के विस्तृत उद्देश्य तथा कार्यक्रम होते हैं, जबकि दबाव समूहों के संकुचित लक्ष्य होते हैं; राजनीतिक दल विधानमंडलों में कार्य करते हैं, जबकि दबाव समूह विधानमंडलों के बाहर कार्य करते हैं।
- पश्चिमी देशों की राजनीतिक प्रक्रिया में हित समूहों की स्पष्ट अभिव्यक्ति हुई है, जबकि गैर-पश्चिमी देशों में ऐसा नहीं हुआ है। भारत में अमरीका की भाँति दबाव समूह विकसित नहीं हो पाए हैं यद्यपि कतिपय व्यावसायिक संगठन दबाव समूहों के रूप में सक्रिय अवश्य हैं।
- भारतीय राजनीति में इस स्वरूप के संस्थानात्मक चुनाव समूहों में कांग्रेस कार्य समिति, कांग्रेस संसदीय बोर्ड, मुख्यमंत्री क्लब, केंद्रीय चुनाव समिति, नौकरशाही तथा सेना को लिया जा सकता है।
- भारत में आम धारणा दबाव समूहों की कार्य-पद्धति के प्रतिकूल है। यह अच्छा नहीं माना जाता कि हित समूह नीति निर्माताओं का मार्गदर्शन करें। जनतंत्र में शासन का संचालन जनता के प्रतिनिधियों द्वारा होता है जो किसी-न-किसी राजनीतिक दल से संबंधित होते हैं। राजनीतिक दल जनतंत्र के आधार होते हैं, वे जनमत के निर्माण, अभिव्यक्ति और उचित दिशा में उसके विकास के माध्यम होते हैं।
- सामान्यत: राजनीतिक दल का अर्थ लोगों के ऐसे संगठन से लिया जाता है जिसका एक विशेष उद्देश्य, सिद्धांत, मत व राजनीतिक ध्येय पर मतैक्यता होती है और वह सुसंगठित एवं एकीकृत होता है। राजनीतिक दल प्रजातंत्र के लिए अपरिहार्य हैं, वे प्रजातंत्र की आधारशिला होते हैं। राजनीतिक दल जनमत को जागरूक करने के साथ-साथ जनमत के निर्माण का कार्य भी करते हैं। वे ही जनता को अनेक प्रकार की सूचनाओं, सत्ताधारी दल की त्रुटियों आदि से अवगत कराते हैं, किंतु राजनीतिक शिक्षण में दलगत-भावना एवं प्रचार की प्रमुखता होती है। भारत में ही बोफोर्स तोपों की खरीद में हुए घोटाले की जानकारी आम जनता को विरोधी राजनीतिक दलों ने ही दी थी।
- राजनीतिक दल अधिनायकवाद के पक्ष की सबसे बड़ी रुकावट है और उनका सबसे बड़ा गुण यह है कि वे जनता को अपने विवेक के प्रयोग का अवसर प्रदान करते हैं।

11.14 शब्दकोश (Keywords)

1. **हित समूह**—दबाव समूह ही हित समूह कहलाते हैं।
2. **लॉबीइंग**—राजनतिक उपायों द्वारा सरकार को अपनी बात समझाने के लिए किए जाने वाले प्रयास को लॉबीइंग कहते हैं।

11.15 अभ्यास-प्रश्न (Review Question)

1. दबाव समूहों एवं राजनीतिक दलों में अंतर स्पष्ट कीजिए।
2. दबाव समूह एवं राजनीतिक दलों के कार्य समझाइए।
3. भारतीय दबाव समूहों पर एक टिप्पणी लिखिए।
4. दलीय प्रणाली के गुणों का विवेचन कीजिए।

नोट

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer : Self Assessment)

1. (✓)
2. (✗)
3. (✓)
4. (✓)
5. लॉबीइंग
6. हित समूह
7. चार भागों में।

11.16 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. फंडामेंटल्स ऑफ़ सोश्योलॉजी–*गिसबर्ट, पास्कल 2006, ओरिएंट लॉंग्मैन।*
2. डायनमिक्स ऑफ सोशल इंस्टीट्यूशंस–*अज़हर शेख़, सब्लाइम पब्लिकेशंस, 2008.*
3. सोशल इंस्टीट्यूशंस ऑफ़ शिया मुस्लिम्स–*एन. एंथ्रोपोलॉजिकल एनालिसिस : सईद कामिल हुसैन, क्लासिकल, 1999.*

नोट

इकाई–12 : राष्ट्र-राज्य, नागरिकता एवं लोकतंत्र (Nation-State, Citizenship and Democracy)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)
प्रस्तावना (Introduction)
12.1 आधुनिक राज्य और संप्रभुता (Modern State and Sovereignty)
12.2 भूमंडलीकरण और आधुनिक राज्य (Globalisation and Modern State)
12.3 चरम भूमंडली सिद्धांत (Hyper Globalist Thesis)
12.4 संस्थात्मक सिद्धांत (Organizational Theory)
12.5 कायाकल्प का सिद्धांत (Rejuvenation Theory)
12.6 विकसित औद्योगिक राज्यों की प्रवृत्तियाँ (Trends of developed Industrial State)
12.7 लोकतंत्र (Democracy)
12.8 परंपरागत समाज में प्रजातंत्र (Democracy in a Traditional Society)
12.9 भारतीय प्रजातंत्र की प्रकृति (Nature of Indian Democracy)
12.10 प्रजातंत्र : परंपरागत समाज की चुनौतियाँ (Democracy : Traditional Society's Challenges)
12.11 सारांश (Summary)
12.12 शब्दकोश (Keywords)
12.13 अभ्यास-प्रश्न (Review Question)
12.14 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- आधुनिक राज्य और भूमंडलीकरण की प्रक्रिया को समझने में।
- चरम भूमंडलीय सिद्धांत को समझने में।
- संस्थागत एवं कायाकल्प के सिद्धांत को समझने में।
- भारतीय प्रजातंत्र एवं परंपरागत समाज की जानकारी प्राप्त करने में।

प्रस्तावना (Introduction)

आज जिस राजनैतिक इकाई को हम राज्य का नाम देते हैं वह वास्तव में राष्ट्र-राज्य है जिसका आविर्भाव अंतर्राष्ट्रीय रंगमंच पर आज से कोई 350 साल पहले वेस्ट वेलिया की संधि के बाद हुआ। इसके पहले तक राज्य

नोट

नाम से जिस इकाई को पहचाना जाता था, वह वास्तव में एक शासक या वंश-विशेष के अधीन भू-भाग ही होता था। इस भौगोलिक क्षेत्र की सीमाएँ अक्सर प्राकृतिक नहीं, बल्कि मानव-निर्मित होती थीं और एक राज्य की सीमा के भीतर अनेक राष्ट्रीयता वाले मनुष्य जीवन-यापन करते थे। उस वक्त भी राज्य की पहचान के साथ एक सुनिश्चित क्षेत्र में भू-भाग होने की अवधारणा जुड़ी हुई थी।

अंतर्राष्ट्रीय रंगमंच पर आरंभ से ही राज्य सबसे महत्त्वपूर्ण इकाई समझा जाता रहा है। इस बारे में यह मान्यता आम है कि यह एक ऐसा भू-भाग व क्षेत्र है जिसपर राज्य का एक-छत्र अधिकार रहता है, जहाँ उसकी संप्रभु सत्ता को कोई चुनौती नहीं दे सकता। यहाँ यह जोड़ने की ज़रूरत है कि राष्ट्र-राज्य के उदय के पहले राज्य की इस भूमि को शासक की निजी संपत्ति समझा जाता था जिसका हस्तांतरण वह अपनी इच्छानुसार कर सकता था। युद्ध में हार-जीत के अलावा राज्य की जमीन का लेन-देन राजनयिक सौदेबाजी अथवा राजवंशों के बीच वैवाहिक संबंधों में उपहार-दहेज के रूप में भी होता था। (पुर्तगालियों से बंबई द्वीप अंग्रेजों ने ऐसे ही हासिल किया था)। आधुनिक युग के पहले राज्यों की भौगोलिक सीमाएँ खासी लचीली और आमतौर पर, शांति की स्थिति में, विभिन्न राज्यों के नागरिकों की आवाजाही में ज्यादा रोक-टोक न थी। वास्तव में राष्ट्र-राज्य की पहचान अमेरिकी और फ्रांसीसी क्रांति के बाद ही ज्यादा स्पष्ट हुई।

जब उत्तरी अमेरिका में क्रांतिकारियों ने ब्रिटिश उपनिवेशवाद का जुआ उतार फेंका और एक गणराज्य की स्थापना की, तब राजशाही से इतर एक नई शासन प्रणाली वाले राज्य की संभावना उजागर हुई। इसके अलावा संयुक्त राज्य अमेरिका के नागरिकों में भले ही अधिकांश यूरोप से आए (विशेषकर इंग्लैंड और आयरलैंड से) आप्रवासी थे, नए राज्य के जन्म के साथ ही उन्होंने अपनी अलग राष्ट्रीय पहचान को मुखर करना आरंभ किया। इसी तरह फ्रांसीसी क्रांति ने सदियों से चली आ रही पुरानी व्यवस्था (एन्सीएनरीज्म) का उन्मूलन कर दिया और राजशाही वाली पारंपरिक व्यवस्था पर गहरा प्रहार किया। मजेदार बात यह थी कि स्वाधीनता-समानता के साथ-साथ फ्रांसीसी क्रांति ने भाईचारे का नारा भी बुलंद किया। यह भाईचारा क्रांतिकारी देशों में विश्व-व्यापी बंधुत्व की पुकार के रूप में गूँजा। अर्थात फ्रांसीसी क्रांति के साथ अंतर्राष्ट्रीयता की प्रवृत्ति प्रबल होने लगी।

इससे पहले कि फ्रांसीसी क्रांति, यूरोप के अन्य राज्यों, पारंपरिक बड़ी शक्तियों के अस्तित्व के लिए जोखिम बनती, खुद फ्रांस में ही 'क्रांति की संतान' नेपोलियन बोनापार्ट ने तख्ता पलट के बाद नए साम्राज्य की स्थापना कर दी। नेपोलियन युग में फ्रांसीसी सेनाओं ने यूरोप में तहलका मचा दिया। उसके विजय अभियानों ने क्रमशः यूरोप के अन्य देशों को परास्त कर दिया। इन घटनाओं के फलस्वरूप, पराजित देशों में फ्रांस के आक्रमण के विरुद्ध प्रतिक्रियास्वरूप, राष्ट्रवाद की भावना का ज्वार उठने लगा। स्वयं सम्राट बनने के बाद भी, नोपोलियन बोनापार्ट का प्रयत्न आजीवन यही रहा कि पुरानी सामंतशाही वाली व्यवस्था में सुधार किया जा सके। राजशाही की ओर लौटने के बावजूद उसने फ्रांस की पहचान आधुनिक राज्य के रूप में तराशने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। इसका एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा शासन को, विशेषकर न्यायप्रणाली को, धर्मनिरपेक्ष बनाने की चेष्टा थी। इसके अलावा सरकारी नौकरियों में जन्म के स्थान पर प्रतिभा को महत्त्व दिया जाने लगा। न केवल फ्रांस में, बल्कि फ्रांस के अधीन अन्य यूरोपीय देशों में भी 'नेपोलियन की संहिता' लागू की गई। इससे आधुनिक राष्ट्र-राज्य की वह आधुनिक पहचान तैयार हुई जो कमोबेश आज तक बरकरार है। 19वीं सदी में ही इटली और जर्मनी का एकीकरण हुआ जिसने बहुराष्ट्रीय साम्राज्यों का कायाकल्प नये राष्ट्र-राज्य के रूप में किया।

यह तो हुई राष्ट्र-राज्य के विकास की बात। आधुनिक राज्य के बारे में जो बात नहीं बदली, वह संप्रभुता से जुड़ी है। अंतर्राष्ट्रीय क़ानून का विकास लगभग राष्ट्र-राज्य की विकास यात्रा के साथ-साथ हुआ है। इसकी स्थापना के अनुसार सभी संप्रभु राज्य अंतर्राष्ट्रीय जगत में एक समान हैसियत रखते हैं और उन्हें संप्रभुता की दृष्टि से समान समझा जाना चाहिए। संप्रभु सत्ता किसी बाहरी शक्ति का आदेश मानने को बाध्य नहीं तथा अपने कार्याधिकार क्षेत्र में वही सर्वोच्च सत्ता समझी जाती है। पर वास्तविक जगत में सभी राज्यों को समान समझने की नादानी कोई नहीं करता। संप्रभुता का क़ानूनी मिथक भले ही बरकरार रखा जाए, अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का कोई भी अध्येता इसे सच नहीं मानता। राष्ट्रीय शक्ति-सामर्थ्य के आधार पर ही राज्यों का वरीयताक्रम तय किया जाता है। महाशक्ति, बड़ी शक्ति, क्षेत्रीय शक्ति और छोटे राज्य जैसी शब्दावली का विकास, अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के यथार्थ पर अध्ययन के लिए जरूरी समझा गया है।

नोट

प्रथम विश्वयुद्ध के अंत तक ऐसा लगने लगा था कि आधुनिक राष्ट्र-राज्य वाली व्यवस्था शक्ति संतुलन में परिष्कार के साथ, काफी समय तक अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को सुस्थिर और शांत बनाए रखेगी, पर हुआ इसके ठीक विपरीत। एक ओर राष्ट्र प्रेम के उफान ने यूरोपीय साम्राज्यवाद के विरुद्ध एशियाई-अफ्रीकी देशों के स्वाधीनता संग्राम को बलवान बनाया तो दूसरी ओर अंधे देश प्रेम और उग्र राष्ट्रवाद ने यूरोप की पारंपरिक शक्तियों के ऐतिहासिक बैर को खतरनाक ढंग से धारदार बनाया। जर्मनी और फ्रांस का टकराव प्रथम विश्वयुद्ध के बाद और भी जोखिम भरा बन गया। इसके अलावा रूस में बोलशेविक क्रांति के बाद जिस साम्यवादी सरकार ने अपना वर्चस्व स्थापित किया, उसने विचारधारा के आधार पर गठित एक क्रांतिकारी राज्य का विकल्प भी सामने रख दिया। एक पार्टी के एकाधिकार और जनतांत्रिक केंद्रीयकरण पर बल देने के कारण इस समाजवादी गणराज्य की तुलना पश्चिमी नमूने के किसी दूसरे जनतंत्र और गणराज्य से करना सहज नहीं था। फ्रांसीसी क्रांति के बाद फ्रांस की ही तरह सोवियत संघ को वर्षों तक शक की निगाह से देखा जाता रहा। बाद के वर्षों में इटली में फासीवाद के उदय और जर्मनी में नाजियों के उत्थान ने यह बात झलका दी कि राजशाही को समाप्त करने वाले आधुनिक राज्य में भी अधिनायकत्व के पनपने की कितनी खतरनाक संभावनाएँ छिपी हैं। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद संप्रभु राज्यों को टकराव से बचाने के लिए जिस राष्ट्रकुल (लीग ऑफ नेशंस) का गठन किया गया था, वह शीघ्र ही असफल हो गया। एक बार फिर संप्रभु राज्यों की स्वछंदता के कारण अंतर्राष्ट्रीय राजनीति भयावह रूप से अराजक नज़र आने लगी।

वेस्टफालिया की संधि से पहले तक शासक का किसी राज्य विशेष के ऊपर शासन करने का अधिकार जन्मसिद्ध एवं दैव प्रदत्त समझा जाता था। सत्ता का आधार धर्म की बुनियाद पर टिका था। 'होली रोमन अम्पायर' के नाम से ही यह बात स्पष्ट हो जाती है। धर्म और राज्य की सत्ता में जो अंतर किया जाना वेस्टफालिया की संधि से शुरू हुआ वह अमेरिकी क्रांति, फ्रांसीसी क्रांति और नेपोलियन युग के युद्धों के बाद और भी गहरा तथा स्पष्ट हो गया। औद्योगिकीकरण और शहरीकरण की गति तेज होने से भी यह प्रवृत्ति पुष्ट हुई जैसे-जैसे यूरोपीय साम्राज्यों का विस्तार हुआ, यूरोप गैर यूरोपीय एवं गैर-ईसाई अश्वेत समाजों के संपर्क में आया, विभिन्न प्रकार की राज्य सत्ता से उसका परिचय हुआ। इन सब बातों का प्रभाव आधुनिक राज्य के स्वरूप और वर्तमान अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था पर पड़ना ही था। **बैरी जुआन** नामक विद्वान ने **इंटरनेशनल सिस्टम इन वर्ल्ड हिस्ट्री** (2000) में उन तीन प्रवृत्तियों का उल्लेख किया है जो आधुनिक राज्य और पारंपरिक राज्य में फर्क समझने के लिए मददगार है। आर्थिक जीवन में व्यापारी वर्ग का उदय और संपन्न होने के साथ घरेलू राजनीति में इस वर्ग का असरदार होना इनमें एक है। दूसरा बदलाव राज्य द्वारा राष्ट्रवाद की विचारधारा को अपनाना है और अंत में, किसी न किसी रूप में जनतांत्रीकीकरण को वांछनीय मानना भी आधुनिक राज्य की पहचान का अभिन्न हिस्सा है।

12.1 आधुनिक राज्य और संप्रभुता (Modern State and Sovereignty)

आधुनिक राज्य एक संप्रभु और स्वाधीन इकाई है। पारंपरिक व्यवस्था में शासक का व्यक्तित्व राज्य का पर्याय समझा जाता था और संप्रभुता शासक में ही मूर्तिमान, प्रत्यक्ष देखी जाती रही है। संप्रभुता के आधुनिक सिद्धांत के जनक **ज्यां बोदां** का मानना है कि संप्रभुता का अर्थ प्रजा तथा नागरिकों के ऊपर ऐसी सर्वोच्च नियंत्रण शक्ति से है जिसे कोई भी सीमित नहीं करता। इसी तरह विधिवेत्ता, **ओपनहाइम** का कहना है कि प्रभुसत्ता किसी भी अन्य सत्ता के नियंत्रण से मुक्त स्वाधीन शक्ति है। यह बात सर्वविदित है कि ऐसी सत्ता का स्वामी राज्य ही हो सकता है, कोई एक व्यक्ति नहीं। **हॉब्स ने** ऐसे ही राज्य को **लेवियाथन** की संज्ञा दी है और **मेकियावली** का **प्रिन्स** भी ऐसे ही संप्रभु राज्य का शासक है। उदारवादी चिंतकों, **रूसो, वुडरो विल्सन** आदि ने इस तरह के निरंकुश संप्रभुता संपन्न राज्य की अवधारणा को चुनौती दी है, पर यह बात सभी स्वीकार करते हैं कि यथार्थ में राज्य की संप्रभुता, विशेषकर अंतर्राष्ट्रीय क्रियाकलाप में, अनुभव सिद्ध है। संयुक्त राष्ट्र संघ घोषणा की पत्र धारा 14 में यह स्वीकार करता है कि राज्य आपसी संबंधों को संप्रभुता के सिद्धांत और अंतर्राष्ट्रीय क़ानून के अनुसार संचालित करेंगे। यह बात साफ है कि विदेश नीति के निर्धारण और अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में राज्य की

नोट

प्रभुसत्ता को स्वीकार किए बिना कोई भी विश्लेषण सार्थक नहीं हो सकता। हालाँकि तत्काल यह जोड़ने की जरूरत है कि भूमंडलीकरण के सूत्रपात के बाद राज्य की प्रभुसत्ता के बारे में पुनर्विचार आवश्यक हो गया है।

यथार्थवादी राज्य : साम्राज्यवाद के विलय के बाद अंतर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में यह बात भी उजागर हुई है कि राज्यों को अपना राष्ट्रहित अति भव्य महत्त्वकांक्षा के अनुसार नहीं बल्कि यथार्थवादी तरीके से परिभाषित करना चाहिए। दो विश्व युद्धों के बाद इस विषय में शक-शुबहे की ज्यादा गुंजाइश नहीं बची। जो कुछ कोर-कसर छूटी थी, वह शीत युद्ध ने पूरी कर दी। महाशक्तियों समेत सभी राष्ट्रवादियों को यह बात महसूस होने लगी है कि अपनी भौगोलिक सीमाओं के निरंतर विस्तार का प्रयत्न नादानी है। यथार्थवादी आधुनिक राज्य आत्मकेंद्रित नज़र आते हैं। **केनेथ वाल्ट्ज** जैसे नवयथार्थवादी विश्लेषकों का मानना है कि इस यथार्थवादी सोच का ही नतीजा है कि अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए अराजक अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था में राष्ट्र-राज्य अपनी मदद स्वयं करने के लिए तत्पर रहते हैं संधि-मित्रों तथा सहयोगियों का मोह छोड़कर।

राष्ट्रवादी राज्य–राष्ट्र-राज्य की अवधारणा में यह अंतर्निहित है कि राज्य की पहचान के साथ राष्ट्रीयता का तत्व अभिन्न रूप से जुड़ा रहेगा और जहाँ तक राष्ट्रीयता का प्रश्न है, इसके उल्लेख के साथ-साथ धर्म, भाषा तथा संस्कृति के उलझे हुए सवाल, राज्य की सत्ता, सामर्थ्य या उसकी कमजोरी के रूप में प्रकट होने लगते हैं। जैसा पहले कहा जा चुका है, चूँकि आधुनिक राज्य की सत्ता का आधार धर्मनिरपेक्ष बताया जाता है, धर्मगत अंतर बहुधा राष्ट्र-राज्य की एकता एवं अखंडता के लिए खतरा बन जाते हैं। साम्राज्यवाद के युग में उपनिवेशों में धार्मिक एवं भाषाई विविधता के बावजूद, सर्वोच्च सत्ता की स्थापना बलपूर्वक संभव थी। स्वाधीनता के बाद राज्य की सत्ता को बलपूर्वक थोपना संभव नहीं रहा है। इसी कारण आधुनिक राज्य में राष्ट्रवाद की बुनियाद किसी धर्म विशेष या जाति अथवा भाषा पर नहीं रखी जा सकी। साझे की ऐतिहासिक विरासत और भविष्य में साझे के संघर्षों की चुनौती को ही सहयोग, सहकार और भावनात्मक एकता का आधार बनाया जाता है।

कुल मिलाकर राष्ट्र-राज्य के नागरिक यह बात स्वीकार करते हैं कि उनके सामूहिक हित किसी दूसरे राष्ट्र-राज्य के नागरिकों के सामूहिक हितों की तुलना में अधिक साम्य रखते हैं और इनके संरक्षण के लिए परस्पर सहकार जरूरी है। विडंबना यह है कि भूमंडलीकरण के दौर में अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक क्रियाकलाप की विश्वव्यापी अंतरनिर्भरता ने इस सामान्य ज्ञान को भी विवादास्पद बना दिया है। विश्व व्यापार संगठन की नीतियों ने अप्रत्याशित रूप से संकीर्ण नस्लवाद, सांप्रदायिक कट्टरपंथी और प्रतिरक्षात्मक देश प्रेम को भड़काया है।

जनतांत्रिक राज्य–आधुनिक राज्य की पहचान एक जनतांत्रिक संस्था के रूप में है। राज्य में सत्तारूढ़ सरकार भले ही तानाशाही हो, उसका प्रयत्न यही रहता है कि खुद को विधिसम्मत, न्यायोचित और शासितों की सहमति के आधार पर स्थापित प्रमाणित करने की चेष्टा करे। अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था में भी जनतांत्रिक सिद्धांत को इतना व्यापक समर्थन प्राप्त है कि जिस राज्य की पहचान जनतांत्रिक नहीं होती, उसे पूरी तरह से मान्यता नहीं मिलती। जिन राज्यों में सरकारें प्रत्यक्षत: जनतांत्रिक नहीं, वहाँ भी यह हठ देखने को मिलता है कि आपातकाल में, अपवाद स्वरूप, जनतंत्र की रक्षा के लिए ही साधारण स्थिति में ऐसा कुछ करना पड़ रहा है। बिसमार्क युग के गुप्त राजनय का स्थान विल्सन के द्वारा घोषित खुले राजनय ने ले लिया है। भले ही **एलेक्सीस तोकवीय** से लेकर आज तक अनेक ऐसे आलोचक हुए हैं जिनकी समझ में राज्य की संवेदनशील नीतियों को हमेशा जनतांत्रिक रूप से निर्धारित करना संभव नहीं होता। विशेषकर राजनय विश्वसनीयता और गोपनीयता से ही सफल होता है। आज इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि राज्य की सत्ता को मूर्तिमान करने वाली सरकार को जनता के प्रति जवाबदेह और जिम्मेदार माना जाने लगा है। कहीं-न-कहीं जनतांत्रिक राज्य की अवधारणा को पुष्ट करने के लिए वही उदारवादी-आदर्शवादी सोच जिम्मेदार है जिसके बीज इमेनुअल कांट के विचारों में देखने को मिलते हैं। कांट का मानना था कि जनतांत्रिक अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था ही शांति को स्थाई बना सकती है। उनका तर्क था कि जनतांत्रिक राज्य एक दूसरे के साथ युद्ध नहीं करते।

विकासशील राज्य–आधुनिक राज्य को विकासोन्मुख राज्य भी कहा जाता है क्योंकि राज्य का प्रमुख उद्देश्य नागरिकों का सर्वांगीण विकास ही होता है। भौगोलिक एकता और अखंडता की रक्षा के बाद राज्य के बचे हुए कर्त्तव्य में नागरिकों के लिए खाद्यान्न, पेयजल तथा स्वास्थ्य एवं चिकित्सा सेवाएँ जुटाना शामिल किए जाते हैं। नागरिकों के जीवन-स्तर में सुधार की यह प्रक्रिया निरंतर जारी रहती है। अत: यह सोचना तर्कसंगत नहीं कि

नोट

संपन्न राष्ट्र विकासोन्मुख नहीं होते और आधुनिक राज्य की यह पहचान केवल विकसित देशों पर लागू होती है। आज कल्याणकारी राज्य की भूमिका उन समाजों ने भी स्वीकार कर ली है जहाँ मुक्त व्यापार और बाज़ार के तर्क के दबाव में राज्य के कार्यक्षेत्र को निरंतर संतुष्ट करने का लगातार प्रयत्न किया जाता है।

12.2 भूमंडलीकरण और आधुनिक राज्य (Globalisation and Modern State)

यह समझ लेना आवश्यक है कि भूमंडलीकरण एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके अंतर्गत अंतर्राष्ट्रीय जगत के बहुआयामी पहलू एक-दूसरे के साथ गुथे हुए हैं—आर्थिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक। साथ ही यह बात भी नहीं भुलाई जा सकती कि यह प्रक्रिया काफी अर्से से चली आ रही है तथा आने वाले कई वर्षों तक चालू रहेगी। परावलंबन, अंतनिर्भरता, क्षेत्रीय एकीकरण आदि मुद्दे ऐसे हैं जिनके बारे में सहकार अथवा संघर्ष वाला विकल्प चुनने को हर राज्य विवश है। जहाँ एक ओर भूमंडलीकरण के प्रसार से राष्ट्र-राज्य की संप्रभुता का क्षय हुआ है, वहीं इसने यह भी तय कर दिया है कि आधुनिक राज्य को अपनी पहचान बनाते वक्त इस प्रक्रिया को ध्यान में रखना होगा। उपभोक्तावादी अपसंस्कृति के प्रसार के कारण पैदा होने वाला अस्तित्व का संकट हो अथवा बहुराष्ट्रीय राज्य में सांस्कृतिक बहुलता से जूझने की चुनौती, आधुनिक राज्य इन से कतरा नहीं सकता।

12.3 चरम भूमंडलीय सिद्धांत (Hyper Globalist Thesis)

आधुनिक अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था की एक विडंबना यह है कि पारंपरिक राष्ट्र-राज्य ही नहीं, आधुनिक राज्य भी आज पौराणिक संस्थाएँ प्रतीत होते हैं। विदेश यात्राएँ पहले से कहीं अधिक सहज-सुलभ हो गई हैं और इस कारण विदेशी मामलों में आम आदमी की दिलचस्पी और इस बारे में उसकी जानकारी भी पहले से कहीं अधिक बढ़ चुकी है। एक ओर विकेंद्रीकरण तो दूसरी ओर क्षेत्रीय एकीकरण की प्रक्रियाएँ साथ-साथ चल रही हैं। विश्व-व्यापार संगठन की सुझाई नीतियों के कारण अनेक राज्य ऐसे आर्थिक उद्यम में व्यस्त हैं जिसे दूसरे किसी देश से संपादित किया जाता है। अभी इस निष्कर्ष तक पहुँचने की जल्दबाजी नहीं की जानी चाहिए कि इस सब का प्रभाव अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था के अनुकूल ही होगा।

भूमंडलीकरण ने राष्ट्र-राज्य को प्रभावित तो किया है, पर यह नहीं कहा जा सकता कि उसके स्वरूप को अभी तक बुनियादी तौर से बदला है। अंतर्राष्ट्रीय संबंधों की दुनिया में क्रमशः सरकार से इतर कर्त्ता (नॉन स्टेट एक्टर) दृष्टिगोचर होते हैं और संभव है कि आने वाले वर्षों में राष्ट्र-राज्यों के अंतर्राष्ट्रीय क्रियाकलाप का एक बड़ा हिस्सा इन्हीं पर केंद्रित हो। ऐसे तत्वों में अंतर्राष्ट्रीय संगठन, बहुराष्ट्रीय निगम तथा असंतुष्टों-बागियों के अनगिनत संगठन गिनाए जाते हैं।

12.4 संस्थात्मक सिद्धांत (Organizational Theory)

इस सिद्धांत के प्रतिपादकों का मानना है कि हाइपर ग्लोबलिस्ट सिद्धांत गंभीर रूप से त्रुटिपूर्ण है क्योंकि वह राजनीति को प्रभावित करने वाले आर्थिक क्रिया-कलाप को नाजायज महत्त्व देता है। यदि भारत-पाक संबंधों के संदर्भ में सरहद पार से होने वाले घुसपैठिए अलगाववाद को ही उदाहरण स्वरूप लें तो यह बात खुलते ज्यादा देर नहीं लगती कि भूमंडलीकरण के संरचनात्मक सुधारों के बावजूद परस्पर आर्थिक लाभ की प्रेरणा इन दो राज्यों के बीच ऐतिहासिक बैर-भाव समाप्त करने में असमर्थ ही रही है। इस विचारधारा के विद्वानों का मानना है कि भूमंडलीकरण के युग में राज्य की भूमिका की चर्चा करते वक्त तीसरी दुनिया के विकासशील देशों की विधिवत उपेक्षा की जाती है। इसी कारण अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में आक्रामक राष्ट्रवाद और धार्मिक कट्टरपंथी निरंतर बढ़ रहे हैं। भूमंडलीकरण के हिमायती जिसे एक वैश्विक संस्कृति के रूप में उभरता देखते हैं, उसे दुनिया भर के विपन्न और निर्बल राज्य अपने अस्तित्व और अलग पहचान के लिए संकट समझते हैं। सांस्कृतिक साम्राज्यवाद को राजनैतिक अस्थिरता पैदा करने वाला धूर्ततापूर्ण औजार समझने वालों की भी कमी नहीं।

नोट

12.5 कायाकल्प का सिद्धांत (Rejuvenation Theory)

इस मत के प्रवर्तक समाजशास्त्री **एंथनी गिड्डन्स** और **जेम्स रॉसनो** हैं जिनका मानना है कि भूमंडलीकरण एक अभूतपूर्व ऐतिहासिक घटना है और राष्ट्र-राज्य को इस बदले अंतर्राष्ट्रीय यथार्थ के संदर्भ में खुद अपनी पहचान को पुनर्परिभाषित करना ही होगा। इस नई दुनिया में घरेलू और अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के बीच स्पष्ट सीमा रेखा खींचना संभव नहीं रह गया है। इन विद्वानों का मानना है कि वास्तव में अभी तक भले ही बहुत कुछ न बदला हो, पर राज्य की संप्रभुता को सीमित करने वाली अनेक ऐसी व्यवस्थाएँ-अनुशासन प्रतिष्ठित कर दिए गए हैं जिनकी अनदेखी करना सबल, समर्थ देशों के लिए भी आसान नहीं।

मानवाधिकारों की बात करें या पर्यावरण के संरक्षण की, टेक्नोलॉजी का (विशेषकर सूचना क्रांति) विश्वव्यापी प्रसार हो या फिर अंतर्राष्ट्रीय आतंकवाद की चुनौती, इनमें से किसी ऐतिहासिक प्रवृत्ति को खारिज या अनदेखा करने की चेष्टा कोई भी संप्रभु राज्य नहीं कर सकता। बहुराष्ट्रीय निगम तथा अंतर्राष्ट्रीय मंच पर सक्रिय अन्य गैर सरकारी कर्त्ता पर भी संप्रभु राज्य उस तरह असर नहीं डाल सकते जिस तरह दूसरे संप्रभु राज्यों पर।

एक और घटनाक्रम इस सिलसिले में उल्लेखनीय है। कई भौगोलिक क्षेत्रों में क्षेत्रीय एकीकरण की गति तेज हुई है और राज्यों पर संस्थाओं का गठन हुआ है। यूरोपीय समुदाय एक ऐसा ही 'सुप्रानेशनल' संगठन है जिसकी अपनी संसद, अपना मंत्रिमंडल सचिवालय और अपना न्यायालय है। भले ही इसके गठन के लिए संप्रभु राज्यों ने स्वेच्छा से अपनी संप्रभुता पर अंकुश स्वीकार किया है। यह स्पष्ट है कि इस बार इस संस्था के सामूहिक हित में कारगर होने के बाद पहले जैसी स्थिति को लौटाना संभव नहीं होगा। क्षेत्रीय एकीकरण के दूसरे प्रयत्न आसियान और **ऑर्गनाइजेशन ऑफ अफ्रीकन यूनिटी** अथवा **सार्क** इतना सफल भले ही न हुए हों, निश्चय ही सुप्रानेशनल संस्थाओं की अंतर्राष्ट्रीय भूमिका पिछले दशकों में निरंतर बढ़ी है। जैसा कि जर्मन विद्वान **गुल्फ गांग रेणीके** ने टिप्पणी की है कि यदि हम भविष्य को टटोलने की कोशिश करें तो यह बात साफ नजर आती है कि भूमंडलीकरण ने राष्ट्र-राज्य के अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था में एकाधिकार को समाप्त कर दिया है और संप्रभुता के राज्य की सीमा के बाहर हस्तक्षेप की संभावना को बहुत घटा दिया है। यह काफी संभव है कि निकट भविष्य में राष्ट्र-राज्य की वह पहचान अतीत की बात हो जाएगी जो वेस्टफालिया की संधि के बाद उभरी थी।

12.6 विकसित औद्योगिक राज्यों की प्रवृत्तियाँ (Trends of developed Industrial States)

आधुनिक राज्य का उदय पहले पहल यूरोप में ही हुआ था और यहीं बदलाव के दर्शन भी सबसे पहले हो रहे हैं। हकीकत तो यह है कि यह बदलाव तभी दृष्टिगोचर होने लगा था जब तक किसी ने भूमंडलीकरण का नाम भी नहीं सुना था। प्रसिद्ध अमेरिकी अर्थशास्त्री **जॉन कैनेथ गाल्ब्रीथ** ने 1960 के दशक के मध्य में एक बड़ी विचारोत्तेजक किताब लिखी थी जिसका शीर्षक था **'द न्यू इंडस्ट्रियल स्टेट'** इसमें यह तर्क जोरदार ढंग से पेश किया गया था कि टेक्नोलॉजी के प्रसार और बढ़ते प्रयोग के कारण आधुनिक राज्य चाहे किसी भी विचारधारा से प्रेरित और कितना ही फर्क सांस्कृतिक विरासत का उत्तराधिकारी क्यों न हो, काल क्रम में एक जैसा स्वरूप ग्रहण कर लेता है। आमने-सामने खड़े प्रतिद्वंदी मल्लयोद्धा जैसे संयुक्त राज्य अमेरिका तत्कालीन सोवियत संघ, **गाल्ब्रीथ** को दर्पण में झलकने वाले प्रतिबिंब जैसे नज़र आते थे। तब से अब तक यह सच कई और जगह उजागर हो चुका है। माओ के बाद चीन और एकीकरण के बाद वियतनाम हो या सुकार्णो के बाद के काल का इंडोनेशिया, टेक्नोलॉजी का दबाव हर राष्ट्र-राज्य को आधुनिक बनने के लिए मजबूर करता है। इसी दबाव के चलते विकसित देशों में क्रमशः राष्ट्र-राज्य की भाषाई, जातीय, धार्मिक, सांप्रदायिक तथा निजी सांस्कृतिक पहचान धुंधलाती जा रही है। जिस यूरोप में अंग्रेजी को काफी हिकारत की दृष्टि से देखा जाता था, वहीं अब इसे सरकारी भाषा का दर्जा प्राप्त है। उसी तरह अंग्रेजी-भाषी अमेरिका, कनाडा, ब्रिटेन तथा ऑस्ट्रेलिया में शिक्षित वर्ग का एक बड़ा हिस्सा द्विभाषी है। अंग्रेजी के अलावा फ्रेंच या जर्मन साक्षरता, खासकर वैज्ञानिकों के बीच, तेजी से बढ़ रही है। अंतर्राष्ट्रीय प्रयोगशालाओं में अतिथि शोधकर्ताओं के रूप में काम करने वाले चीनी-रूसी वैज्ञानिकों के सामने भी कोई भाषाई या सांस्कृतिक अड़चन नहीं आती।

नोट

विकासशील दुनिया में स्थिति अपेक्षाकृत भिन्न है। मध्यपूर्व में अरब जगत में इस्लामी कट्टरपंथी के उफान ने राज्यों पर यह दबाव डाला है कि वे यह स्वीकार करें कि उनकी सत्ता का आधार धर्म ही है और शासक की प्रभुसत्ता धर्म गुरुओं, काज़ियों एवं उलेमाओं के नियंत्रण के अधीन ही रह सकती है। इसके साथ ही अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था का विभाजन, सहोदर इस्लामी मित्र राष्ट्रों और इस्लामी देशों के शत्रु देशों में किया जाने लगा है। विडंबना यह है कि धार्मिक शुद्धि के दावे के बावजूद इस्लामी राज्यों के बीच आपस में शक्ति संघर्ष घटा नहीं, बढ़ा ही है। आधुनिकीकरण की अगुवाई करने वाले शारजाह के शाह पहलवी का तख्ता इमाम खुमैनी ने पलटा, पर सत्ता ग्रहण करने के साथ ही पड़ोसी इराक के साथ जो युद्ध छेड़ा वह कोई 8 साल तक चलता रहा। इराक के बारे में तब यह कहा जा सकता था कि सद्दाम की सरकार एक सैनिक तानाशाह थी और उनकी इस्लामी पक्षधरता एक दिखावा भर। पर सद्दाम की सरकार के उन्मूलन के बाद भी इराक जिस तरह के सांप्रदायिक गृह युद्ध से ग्रस्त रहा है उसको देखकर यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि धर्म की दुहाई देने भर से आधुनिक राज्य का एक इस्लामी विकल्प खुद-ब-खुद सामने नहीं आ जाता।

पश्चिमी आधुनिक राज्य का यथार्थ–इन बातों पर थोड़ी विस्तृत टिप्पणी जरूरी है। पश्चिम के जो राष्ट्र-राज्य आज सुस्थिर शांत और जनतांत्रिक नज़र आते हैं, उनका यहाँ तक का सफर संघर्षहीन या भ्रष्टाचार मुक्त नहीं रहा है और ना ही यह कहा जा सकता है कि आज भी उनका समाज सांप्रदायिकता या नस्लवाद अथवा भ्रष्टाचार से मुक्त है। संयुक्त राज्य अमेरिका में पूँजीवाद का विकास सिर्फ किफायती आदर्शवादी प्रोटेस्टेंट नैतिकता के कारण ही संभव नहीं हुआ, जिसका जिक्र समाजशास्त्री मैक्स वेबर ने किया है। लुटेरे सामंतों ने भी इस काम में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। कई नामी-गिरामी उद्यमियों (रोकफेलर, कारनेगी और फोर्ड सरीखे कुबेरों) की सफलता के तार अपनी कबाइली बिरादरी के संगठित अपराधियों के साथ जुड़े रहे जिन्होंने आगे चलकर परोपकारी दान से अपने पापों को धोने का काम किया। औद्योगिक विकास को अनवरत जारी रखने के लिए श्रमिक संगठनों की नाक में नकेल डालना जरूरी था। यह काम भी माफिया जैसे कुख्यात संगठनों की सहायता से अमेरिकी जनतंत्र में अनेक पूँजीपति-उद्योगपति करते रहे हैं। चुनाव के वक्त भयादोहन से मतदान को प्रभावित करने के प्रयत्न भी अनजान नहीं।

वास्तव में धर्म निरपेक्षता, आधुनिक वैज्ञानिक सोच और जनतांत्रिक सिद्धांतों तथा पारदर्शिता के दावों के बावजूद इस राष्ट्र-राज्य की आधुनिकता में, अन्य राज्यों की तथा-कथित मध्ययुगीन अंध-विश्वासी मानसिकता में ज्यादा अंतर नहीं। आधुनिक राज्य अभी भी एक 'लक्ष्य' ही है–एक ऐसा सपना जिसे साकार किया जाना बाकी है। इस संदर्भ में यह याद रखना उपयोगी होगा कि विश्वभर में मान्यता प्राप्त करने के लिए यह आधुनिक राज्य की पहचान सिर्फ पश्चिमी पूँजीवादी राष्ट्र-राज्य की नकल तक सीमित नहीं रह सकती, उसे वास्तव में बहुलवादी और जनतांत्रिक होना पड़ेगा।

12.7 लोकतंत्र (Democracy)

लोकतंत्र का अर्थ (Meaning of Democracy)

प्लेटो से आज तक राजनीति विज्ञान में 'लोकतंत्र' ('जनतंत्र' या 'प्रजातंत्र') चर्चा का विषय रहा है। लोकतंत्र के अंग्रेज़ी पर्याय 'डेमोक्रेसी' शब्द की व्युत्पत्ति ग्रीक मूल के शब्द 'डेमोस' से हुई है जिसका अर्थ है 'जनसाधारण'। इसमें 'क्रेसी' शब्द जोड़ा गया है जिसका अर्थ है, 'शासन' या 'सरकार'। इस तरह 'लोकतंत्र' शब्द का मूल अर्थ ही 'जनसाधारण' या 'जनता' का शासन है। **अब्राहम लिंकन** (1809-65) ने लोकतंत्र की जो परिभाषा दी है, वह इसके शब्दार्थ के बहुत निकट है। इसके अनुसार लोकतंत्र ''जनता का शासन है जो जनता के द्वारा, जनता के लिए चलाया जाता है'' (government of the people, by the people, for the people)।

जेम्स ब्राइस (1838-1922) की परिभाषा का भावार्थ भी इससे मिलता-जुलता है। ब्राइस के शब्दों में, ''लोकतंत्र शब्द का प्रयोग हेरोडोटस के ज़माने से ही ऐसी शासन प्रणाली का संकेत देने के लिए होता है जिसमें क़ानून

नोट

की दृष्टि से राज्य की नियामक सत्ता किसी विशेष वर्ग या वर्गों के हाथों में नहीं रहती, बल्कि समुदाय के सभी सदस्यों में निहित रहती है।'' इन परिभाषाओं का मूल अभिप्राय यह है कि **लोकतंत्रीय प्रणाली में शासन या सत्ता का अंतिम सूत्र जनसाधारण के हाथों में रहता है ताकि सार्वजनिक नीति जनता की इच्छा के अनुसार और जनता के हित-साधन के उद्देश्य से बनाई जाए और कार्यान्वित की जाए।** इसमें शासन चलाने का काम जनसाधरण के प्रतिनिधियों को सौंपा जा सकता है, परंतु उन्हें निश्चित अंतराल के बाद फिर से जनसाधारण का विश्वास प्राप्त करना होगा।

नोट्स अमेरिकी राष्ट्रपति 'अब्राहम लिंकन' ने लोकतंत्र की संक्षिप्त और सटीक व्याख्या करते हुए कहा कि–''लोकतंत्र, जनता का शासन है जो जनता के द्वारा, जनता के लिए चलाया जाता है।''

लोकतंत्र का चिरसम्मत सिद्धांत (Classical Theory of Democracy)

प्लेटो और **अरस्तू** ने कुछ प्राचीन यूनानी नगर-राज्यों में–विशेषत: एथेंस में–लोकतंत्र के सक्रिय रूप को देखा था। इसकी प्रमुख विशेषताएँ थीं : (क) नगर-राज्य ('पोलिस') के सार्वजनिक मामलों में सभी 'स्वतंत्रजनों (Freemen) की समान सहभागिता (Equal Participation); (ख) सार्वजनिक निर्णयों तक पहुँचने के लिए स्वतंत्र वाद-विवाद (Free Discussion); और (ग) समुदाय के क़ानून और प्रचलित प्रक्रिया के प्रति व्यापक आदर-भाव। यूनानियों को अपने प्रचलित रीति-रिवाज से जुड़े क़ानून पर गर्व था और वे इसे 'बर्बर जातियों में प्रचलित निरंकुश शासन' (Arbitrary Rule) से अत्यंत श्रेष्ठ मानते थे।

स्वतंत्रजन (Freemen)

प्राचीन यूनानी नगर-राज्य (City State) के वे निवासी जिन्हें नागरिक (Citizen) का दर्जा प्राप्त था। इनकी संख्या दस प्रतिशत से ज़्यादा नहीं थी। शेष जनसंख्या में दास (Slaves), अन्यदेशीय (Aliens) और स्त्रियाँ आती थीं जिन्हें कोई नागरिक अधिकार प्राप्त नहीं थे।

परंतु प्राचीन यूनानी नगर-राज्यों में लोकतंत्र का जो रूप प्रचलित था, उसे आदर्श शासन प्रणाली नहीं माना जा सकता। **प्लेटो** ने इस आधार पर **लोकतंत्र की निंदा** की : जनसाधारण इतने शिक्षित नहीं होते कि वे ''सर्वोत्तम शासकों और सबसे बुद्धिमत्तापूर्ण नीतियों'' का चयन कर सकें। लोकतंत्र के अंतर्गत वाक्पटु और मृदुभाषी राजनीतिज्ञ जनसाधारण को प्रभावित करके उनके वोट बटोर लेते हैं और इस तरह सार्वजनिक पद प्राप्त कर लेते हैं परंतु ये लोग अत्यंत स्वार्थी और सर्वथा अयोग्य होते हैं, अत: वे राज्य को ध्वंस की ओर ले जाते हैं। फिर **अरस्तू** ने लोकतंत्र को 'बहुत सारे लोगों के शासन' (Rule of the many) के रूप में पहचाना। ये 'बहुत सारे लोग' साधारणत: निर्धन, अशिक्षित और असंस्कृत थे जिनमें योग्यता का नितांत अभाव था। अरस्तू ने अपने विस्तृत अध्ययन के आधार पर राज्यों का जो वर्गीकरण प्रस्तुत किया, उसमें शासन प्रणालियों को 'सामान्य' (Normal) और 'भ्रष्ट' (Perverted)–इन दो व्यापक श्रेणियों में रखा गया था। यहाँ 'लोकतंत्र' या 'डेमोक्रेसी' को एक भ्रष्ट शासन प्रणाली के रूप में प्रस्तुत किया गया था। अरस्तू ऐसे समाज की कल्पना नहीं कर सकता था जिसमें सब सदस्य समान रूप से विवेकशील या माननीय हों। अरस्तू का विश्वास था कि समाज में कुछ गिने-चुने सदस्य श्रेष्ठ, कुलीन, संपन्न बुद्धिमान, विवेकशील और प्रतिभाशाली होते हैं, जबकि बहुसंख्यक लोग या 'जनसाधारण' इन गुणों से शून्य होते हैं।

कुलीन, संपन्न और गुणवान लोगों के उत्तम कोटि के शासन को अरस्तू ने 'कुलीनतंत्र' या 'अभिजाततंत्र' (Aristocracy) की संज्ञा दी। परंतु यही लोग जब किसी अंकुश के अभाव में अपनी शक्ति का प्रयोग स्वार्थपूर्ति में करने लगते हैं, तब उनका शासन गुटतंत्र (Oligarchy) में बदल जाता है जो कि निकृष्ट कोटि का शासन

नोट

है। दूसरी ओर लोकतंत्र निर्धन, ज्ञानहीन और गुणहीन लोगों का शासन है, इसलिए वह उत्तम कोटि का शासन नहीं हो सकता। एक आदर्श एवं स्थिर शासन प्रणाली की तलाश करते-करते अरस्तू इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि वह 'अभिजाततंत्र' और 'लोकतंत्र' का मिश्रण होना चाहिए। इसे उसने 'मिश्रित संविधान (Mixed Constitution) की संज्ञा दी जिसमें सत्ता तो कुलीनवर्ग के हाथों में रहेगी, परंतु शासन की नीतियों के लिए जनसाधारण की सहमति प्राप्त की जाएगी। अरस्तू ने लिखा है कि जनसाधारण अलग-अलग व्यक्तियों के रूप में खराब हो सकते हैं, परंतु सामूहिक रूप से वे उतने खराब नहीं होते, जैसे थोड़ा पानी जल्दी गंदा हो जाता है, परंतु बहुत सारा पानी जल्दी गंदा नहीं होता। फिर कुलीन लोग शासन चलाने में निपुण हो सकते हैं, परंतु शासन कैसा होना चाहिए–इस बारे में जनसाधारण सही राय दे सकते हैं। जैसे अच्छे भोजन की परख के लिए स्वयं रसोइया होना ज़रूरी नहीं, अच्छे वस्त्र की पहचान के लिए स्वयं बुनकर होना ज़रूरी नहीं, अच्छी कला के रसास्वादन के लिए स्वयं कलाकार होना ज़रूरी नहीं, वैसे ही अच्छे शासन की परख के लिए स्वयं शासक होने की योग्यता रखना ज़रूरी नहीं। इस तरह अरस्तू ने स्वयं 'लोकतंत्र' को तो नहीं सराहा, परंतु आदर्श शासन प्रणाली में उसे उपयुक्त स्थान देने का समर्थन अवश्य किया।

लोकतंत्र की आधुनिक अवधारणा (Modern Concept of Democracy)

लोकतंत्र की आधुनिक अवधारणा आधुनिक युग की परिस्थितियों की देन है। लगभग सोलहवीं शताब्दी से विश्व के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक जीवन में ऐसे परिवर्तनों का सिलसिला शुरू हुआ, जिससे मध्ययुग की सामंती प्रणाली का ह्रास हुआ और 'व्यक्ति' या 'मनुष्य' को सब जगह नई प्रतिष्ठा मिली। सत्रहवीं शताब्दी में अंग्रेज़ विचारक **जॉन लॉक** (1632-1704) ने इंग्लैंड की **गौरवमय क्रांति** (1688) के अवसर पर यह विचार व्यक्त किया था कि मनुष्य के कुछ **प्राकृतिक अधिकार** (Natural Rights) होते हैं जिन्हें उनसे कोई भी छीन नहीं सकता; इनमें 'जीवन, स्वतंत्रता और संपत्ति के अधिकार (Right to Life, Liberty and Property) का विशेष स्थान था। इन्हीं अधिकारों की रक्षा के लिए क़ानून, राज्य और शासन की संस्थाएँ स्थापित की जाती हैं। लॉक ने यह तर्क दिया कि मनुष्य परस्पर सहमति से राज्य का निर्माण करते हैं और शासन-व्यवस्था स्थापित हो जाने के बाद भी वे निश्चिंत नहीं हो जाते बल्कि सरकार के काम की निगरानी करते रहते हैं। वे ऐसे गृहस्वामी की तरह हैं जो अपने जीवन और संपत्ति की सुरक्षा के लिए प्रहरी नियुक्त कर देता है और फिर स्वयं लगातार जागकर यह देखता रहता है कि कहीं वह प्रहरी सो तो नहीं गया है! सरकार को अपनी सत्ता का प्रयोग करने के लिए नागरिकों से लगातार 'सहमति' (Consent) प्राप्त करनी चाहिए और यह प्रमाणित करते रहना चाहिए कि वह अपने कर्त्तव्यों को अच्छी तरह निभा रही है। फिर, अठारहवीं शताब्दी के अंतिम दौर में **अमरीकी स्वतंत्रता** (1776) और **फ्रांसीसी क्रांति** (1789) के प्रवर्त्तकों ने पुराने प्रतिष्ठित वर्गों के विशेषाधिकारों को चुनौती देते हुए यह सिद्धांत प्रस्तुत किया कि सब मुनष्य जन्म से स्वतंत्र और समान हैं। इन सब विचारों के प्रभाव से 'जनसाधारण' को 'विवेकशून्य' और 'आज्ञाकारी' 'प्रजा' से ऊपर उठकर शासकों का चुनाव करने वाले और उन पर निगरानी रखने वाले 'नागरिकों' का दर्जा मिला दिया। इस तरह 'जनता' को 'जनता-जर्नादन' की पदवी मिल गई जिससे 'लोकतंत्र' के विचार को प्रतिष्ठा मिली।

इधर कुछ आधुनिक लेखकों ने लोकतंत्र की चिरसम्मत संकल्पना को अपने ही ढंग से व्यक्त किया है। इनमें इंग्लैंड के **ए.वी. डाइसी** (1835-1922) और **जेम्स ब्राइस** (1838-1922) के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। **डाइसी** ने अपनी प्रसिद्ध कृति 'लॉ एंड पब्लिक ओपिनियन इन इंग्लैंड ड्यूरिंग द नाइंटींथ सेंचुरी' (उन्नीसवीं शताब्दी के इंग्लैंड में क़ानून और लोकमत 1905) के अंतर्गत लोकतंत्र को ऐसी शासन-प्रणाली माना है जिसमें विधि-निर्माण बहुमत से निर्धारित होता है। उसके अनुसार, लोकतंत्र में ऐसे क़ानून लागू करना एक नादानी होगी जो जनसाधारण को पसंद न हों। डाइसी ने विधि-निर्माण और लोकमत के परस्पर संबंध का विस्तृत विवरण दिया है। परंतु उसने यह भी संकेत किया है कि विशिष्ट क़ानून किसी विशिष्ट ऐतिहासिक परिस्थिति (Historical Setting) की देन होते हैं। चूँकि लोकतंत्र में लोकमत एकसार नहीं होता, इसलिए उसमें एकसार क़ानून नहीं बनाए जाते।

नोट

जेम्स ब्राइस ने अपनी दो महान कृतियों 'द अमेरिकन कॉमनवैल्थ' (अमरीकी प्रजातंत्र) (1893) और 'मॉडर्न डेमोक्रेसीज़' (आधुनिक लोकतंत्र 1921) के अंतर्गत लोकतंत्र को मुख्यत: एक शासन प्रणाली के रूप में प्रस्तुत किया है। उसके अनुसार लोकतंत्र ''जनसाधारण का शासन है जिसमें वे वोटों के माध्यम से अपनी प्रभुसत्तासंपन्न इच्छा (Sovereign Will) को व्यक्त करते हैं।'' और भी संक्षेप में कहा जाए तो यह ''बहुमत का शासन'' है। ब्राइस ने लिखा है कि यदि हम अन्य शासन-प्रणालियों के गुण-दोषों के साथ लोकतंत्र के गुण-दोषों की तुलना करें तो लोकतंत्र का औचित्य (Justification) सिद्ध हो जाएगा। ब्राइस के अनुसार किसी भी शासन की कसौटी 'जन-कल्याण' है। अत: किसी शासन-प्रणाली को परखते समय यह देखना चाहिए कि वह जनसाधारण को भीतरी और बाहरी शत्रुओं से संरक्षण प्रदान करने, न्याय दिलाने, सार्वजनिक मामलों का प्रबंध करने और नागरिकों को अपने-अपने व्यवसाय में सहायता प्रदान करने में कितनी कुशल और समर्थ है? इतिहास साक्षी है कि ये सब कार्य लोकतंत्र भी करता है, अन्य शासन प्रणालियाँ भी करती हैं। परंतु लोकतंत्र का एक अतिरिक्त गुण यह है कि वह मनुष्यों को आत्म-शिक्षा (Self-Education) के लिए प्रेरित करता है, क्योंकि जब लोग सरकारी गतिविधियों में भाग लेते हैं तो उनकी दृष्टि और अभिरुचियों का क्षेत्र बहुत विस्तृत हो जाता है। यह सीधे-सीधे 'जनता का शासन' नहीं है। लोकतंत्र में जनसाधारण दो तरह से अपनी सत्ता का प्रयोग करते हैं : (क) वे ऐसे लक्ष्य निर्धारित करते हैं, जिनकी पूर्ति करना उनकी सरकार का ध्येय होना चाहिए; और (ख) वे उन लोगों की निगरानी करते हैं जिनके हाथों में वे प्रशासन की बागडोर सौंप देते हैं।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

दिए गए कथन के आधार पर सही (✓) और गलत (✗) का निशान लगाएँ–

1. इमैनुअल कांट का मानना था कि जनतांत्रिक अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था ही शांति को स्थायी बना सकती है। ☐
2. भूमंडलीकरण ने संपूर्ण विश्व का स्वरूप बदल दिया है। ☐
3. विकासशील देशों में लोकतंत्र का अभाव है। ☐
4. कुलीन, संपन्न, गुणवान लोगों के उत्तम कोटि के शासन को 'अरस्तु' ने 'कुलीनतंत्र' या 'अभिजाततंत्र' की संज्ञा दी है। ☐

आज के युग में 'लोकतंत्र' के विचार को सर्वत्र मान्यता दी जाती है। उदारवादी और समाजवादी दोनों 'लोकतंत्र' की सराहना करते हैं। उनका मतभेद इस बात को लेकर है कि 'लोकतंत्र' को सही और सच्चे अर्थ में स्थापित करने के लिए कैसी और कौन-कौन-सी संस्थाएँ उपयुक्त हैं? नवोदित तथा समाजवादी देशों में कई जगह 'निर्देशित लोकतंत्र' (Guided Democracy) या 'जनवादी लोकतंत्र' (People's Democracy) जैसी व्यवस्थाओं को प्रोत्साहन दिया जाता है। अनेक अधिनायकतंत्रों में किसी-न-किसी तरह-जैसे कि धार्मिक भावनाएँ जगाकर या राष्ट्र-हित की दुहाई देकर 'जन समर्थन' (Popular Support) प्राप्त करने के सशक्त प्रयास किए जाते हैं। इन सब व्यवस्थाओं के अंतर्गत शासन की वैधता (Legitimacy) स्थापित करने के लिए लोकतंत्र का आडंबर रचाया जाता है, परंतु व्यवहार के धरातल पर ऐसी व्यवस्थाएँ लोकतंत्र की कसौटी पर खरी नहीं उतरतीं।

ब्राइस यह दावा नहीं करता कि लोकतंत्र समाज की सभी बुराइयों की राम-बाण औषधि है। परंतु वह इसे अन्य शासन-प्रणालियों की तुलना में वरीयता देता है, क्योंकि इसने शासन के स्तर को ऊँचा उठाया है। इसने विश्व-बंधुत्व की कल्पना को साकार तो नहीं किया, न इसने राजनीति को भ्रष्टाचार से मुक्त करके उसकी गरिमा को बढ़ाया है, परंतु इसने अतीत की तुलना में बेहतर शासन-व्यवस्था अवश्य प्रदान की है।

नोट

व्यवहार के धरातल पर 'लोकतंत्र' पहले-पहल पश्चिमी जगत् में उन्नीसवीं शताब्दी के दौरान स्थापित हुआ। शुरू-शुरू में यह शब्द ऐसे प्रतिनिधि शासन (Representative Government) का संकेत देता था जिसमें प्रतिनिधियों का चुनाव (Election) मुक्त प्रतिस्पर्धा के आधार पर होता था, परंतु उसमें केवल पुरुष नागरिकों को मतदान का अधिकार प्राप्त था। प्रस्तुत अर्थ में, संयुक्त राज्य अमरीका में लोकतंत्र की शुरुआत 1820 और 1830 के दशकों में हुई जब एक-एक करके बहुत सारे राज्यों ने मताधिकार का विस्तार किया। फ्रांस में 1848 में अचानक वयस्क पुरुष मताधिकार (Adult-Male Suffrage) लागू हो गया, परंतु 1871 तक वहाँ संसदीय शासन (Parliamentary Government) स्थाई आधार पर स्थापित नहीं हो पाया। उधर ब्रिटेन में संसदीय शासन तो 1688 से ही स्थाई आधार पर स्थापित हो गया था, परंतु 1867 तक बहुसंख्यक पुरुष नागरिकों को मताधिकार प्रदान नहीं किया गया। ध्यान देने की बात यह है कि इन सब प्रणालियों में केवल पुरुष मताधिकार (Male Franchise) को मान्यता दी जाती थी। इस तरह आधुनिक युग में भी शुरू-शुरू की लोकतंत्रीय प्रणालियाँ 'लोकतंत्र' के विचार की अधूरी अभिव्यक्तियाँ थीं क्योंकि वे सार्वजनीन वयस्क मताधिकार (Universal Adult Franchise) पर आधारित नहीं थीं। स्त्री-मताधिकार की व्यवस्था संयुक्त राज्य अमरीका में 1919 से की गई; इंग्लैंड में 1928 से; फ्रांस में 1945 से; और स्विट्ज़रलैंड में तो 1971 से समस्त स्त्रियों को मताधिकार के योग्य ठहराया गया। इस तरह पश्चिमी जगत् में भी लोकतंत्र के विचार को पूर्ण अभिव्यक्ति बीसवीं शताब्दी में आकर मिली।

टास्क आपकी नज़र में वर्तमान भारतीय लोकतांत्रिक प्रणाली कहाँ तक सफल है। अपनी राय प्रस्तुत करें।

12.8 परंपरागत समाज में प्रजातंत्र (Democracy in a Traditional Society)

तीसरी दुनिया के लगभग सभी देश अपनी ऐतिहासिक धरोहर में प्रजातांत्रिक नहीं रहे हैं। ये सब देश आज स्वतंत्र राष्ट्र हैं और इनकी हुकूमत में अलग-अलग प्रतिमान देखने को मिलते हैं। भारत एक **प्रजातांत्रिक और धर्मनिरपेक्ष** (Democratic and Secular) राष्ट्र बनने का प्रयास कर रहा है। कुछ ऐसे राष्ट्र हैं जो भारत के पड़ोसी हैं या जिनका भारत के साथ घनिष्ठ सरोकार रहा है, हुकूमत के अलग-अलग प्रतिमान प्रस्तुत करते हैं। पाकिस्तान जिसका विभाजन हुआ था अपने आपको एक **इस्लामिक गणतंत्र** (Islamic Republic) घोषित करता है। इसने अपने 1956 के संविधान में यह घोषित किया कि इसका राष्ट्रपति मुस्लिम नागरिक होगा। म्यांमार जो पहले बर्मा कहलाता था और जो ब्रिटिश भारत के अंतर्गत था, उसने घोषित किया कि वह बौद्ध धर्म को अपने प्रजातंत्र का आधार बनाएगा और तब इस प्रजातंत्र ने यह कहा कि वह बौद्ध धर्म को **राज्य धर्म** का दर्जा देगा। ये सब राष्ट्र जिनमें बांग्लादेश व श्रीलंका भी सम्मिलित हैं, परंपरागत समाज रहे हैं। इन समाजों में प्रजातंत्र तो है, चुनाव होते हैं, राजनीतिक दल हैं फिर भी इनके प्रतिमान भिन्न हैं। यह इसी संदर्भ में है कि हम जानना चाहते हैं कि भारत में–उसकी सभ्यता के स्वरूप में–प्रजातंत्र था या नहीं। आज भारत एक प्रजातांत्रिक और धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र है तब स्वतंत्रता से पहले इसमें किस तरह से राजनीतिक तंत्र को चलाया जाता था।

हमारे देश में वर्षों से लिखने की एक खास परंपरा चली आ रही है। यह सही है कि हमारी परंपरा मोहनजोदड़ों और हड़प्पा की सभ्यताओं की है और ये सभ्यताएँ आज से कोई 5000 वर्ष पुरानी हैं। यह सभ्यता और धरोहर हमारे गौरव हैं और इसलिए शायद आधुनिक भारत की किसी भी संस्था के बारे में हमें लिखना हो तो हम बिना कुछ देर लगाए लिख देते हैं कि इस व्यवस्था का प्रारंभ वैदिककाल से है। उदाहरण के लिए जब आधुनिक प्रजातंत्र की बात चलती है तब फट से हम कहते हैं कि हमारे यहाँ वैदिक काल में भी गणराज्य थे यानी गणतंत्र और प्रजातंत्र थे। हमारे देश जैसी सभ्यता के लिए ये सब कथन किसी प्रमाण के मोहताज नहीं होते। लेकिन जब प्रमाणों की खोज करते हैं तो ज्ञात होता है कि इस तरह के कथन केवल मिथक मात्र हैं।

नोट

आगे कुछ लिखें इससे पहले यह बहुत ईमानदारी से कहना चाहिए कि जब वेदों के समय की चर्चा करते हैं या प्राचीन भारत की बात करते हैं तब इसके प्रमाण रूप में हमारे पास केवल दो स्पष्ट परंपराएँ हैं। **राजेश कोच्चर** (Rajesh Kochhar) ने अपनी पुस्तक **द वैदिक पीपल** (The Vedic People, Orient Longman, 1997) में वैदिक युग के प्रमाणों की चर्चा की है। वे कहते हैं कि हमारा एक पुख्ता प्रमाण तो पुरातत्व काल का है और दूसरे प्रमाण संस्कृत, पाली और प्राकृत के साहित्य हैं। इन दोनों प्रमाणों की **कोच्चर** ने पड़ताल की है और वे इस निष्कर्ष पर आते हैं कि वैदिक काल में गणतंत्र जैसी कोई व्यवस्था नहीं थी। वे ईसा पूर्व 1500 वर्ष पहले बने थे। ये लिखे नहीं गए थे। कुछ चयनित पुरोहित परिवार ही इन्हें कंठस्थ करते थे और इस तरह मौखिक रूप से वेद पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलते रहे। चार वेदों का निर्माण हुए कोई 500 वर्ष हो गए और इस अवधि में कहीं भी गणतंत्र या प्रजातंत्र की चर्चा नहीं है।

रामायण और महाभारत बड़े ही आदरणीय ग्रंथ हैं। रामायण का काल ई.पू. 1500 वर्ष का है और महाभारत का कोई 900 वर्ष ई.पू. का। यह सभी जानते हैं कि रामायण और महाभारत में राजा थे और उनके पास **ईश्वरीय शक्ति** (Divine Power) थी और इसके बाद जो राज्य व्यवस्था आई वह विशुद्ध रूप से राजाओं और महाराजाओं की थी और नंद वंश की उत्पत्ति तो शूद्रों से थी। मौर्यवंश के राजा भी वैश्य थे जिनकी उत्पत्ति शूद्र स्त्री से हुई थी। अत: यह एक **फिक्शन** (Fiction) मात्र ही है कि आधुनिक भारत में जो प्रजातांत्रिक व्यवस्था है इसका उद्‌गम वैदिक काल से है। यहाँ हमें **अरनॉल्ड टोयनबी** (Arnold Toynbee) का उल्लेख भी करना चाहिए। वे सभ्यताओं के मूर्धन्य इतिहासकार थे। वे कहते हैं कि भारतीय सभ्यता की बहुत बड़ी विशेषता यह है कि यह विशेषकर धार्मिक दृष्टिकोण की है और यहाँ राजा **ईश्वरीय** (Divine) था। परमात्मा ने उसे भारत पर राज्य करने के लिए पैदा किया था। इस ईश्वरीय भावना को वैधता देने का काम संस्कृत ग्रंथ और संस्कृत लेखक थे। जिन्हें हम पुराण कहते हैं। (ये 18 थे)। वे अपने मूल में अन्य वस्तुओं के साथ शाही परिवार की वंशावली को बताते हैं। यह वंशावली इस बात का प्रयास करती है कि राजा ईश्वर का अवतार है। इन सब प्रमाणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि **भारत में आज जो प्रजातांत्रिक व्यवस्था है इसका कोई उल्लेख न तो पुरातत्व अवशेषों में है और न संस्कृत ग्रंथों में है।** यह वस्तुत: अ-ऐतिहासिक शासन पद्धति है।

दक्षिण एशिया के सभी देश परंपरागत देश हैं। इन सभी में प्रजातंत्र आ गया है। प्रजातंत्र एक विश्वस्तरीय राजनीतिक व्यवस्था है। यह व्यवस्था जब किसी देश में लागू की जाती है तो वह देश इसे अपनी परंपरा के अनुसार अपना प्रत्युत्तर देता है। प्रजातंत्र का एक प्रतिमान होते हुए भी इसके प्रत्युत्तर या इसकी कार्यप्रणाली बदल जाती है। उदाहरण के लिए यही प्रजातंत्र जब पाकिस्तान में पहुँचा तब वहाँ यह मुस्लिम प्रजातंत्र बन गया। प्रजातंत्र का जो स्वरूप ब्रिटेन में है या इस अर्थ में फ्रांस या अमेरिका में है, स्थानीयता के आधार पर **इसमें अंतर** आ जाता है। भारत के प्रजातंत्र का **सामाजिक आधार** (Social Base) अपनी विशिष्टता रखता है। यहाँ की सभ्यता बहुत पुरानी है। **पीपल ऑफ इण्डिया** (POI) प्रोजेक्ट के अनुसार हमारे इस देश में 4000 से अधिक जातियाँ हैं। यहाँ 18 भाषाएँ हैं जो संविधान द्वारा मान्यता प्राप्त हैं। इन भाषाओं के अतिरिक्त कोई 1500 बोलियाँ हैं। उत्तर-पूर्व के राज्यों में तो ऐसे गाँव हैं जिनकी अपनी अलग भाषा है। **पीपल ऑफ इंडिया** बताता है कि हमारे यहाँ 91 सांस्कृतिक क्षेत्र हैं और प्रत्येक सांस्कृतिक क्षेत्र के कई उपक्षेत्र हैं। प्रोजेक्ट ने दिलचस्प बात यह बताई है कि अब प्रत्येक सांस्कृतिक क्षेत्र अपने आपको शक्ति का केंद्र मानकर चलता है। अपनी जातीय पहचान के लिए ज़ोर देता है। इस देश में जहाँ पितृ सत्तात्मक व्यवस्था है वहीं मातृ सत्तात्मक व्यवस्था भी है। संयुक्त परिवार की तुलना में दक्षिण के मातृ सत्तात्मक परिवारों में **थारवाड़** संयुक्त परिवार है। धर्म के क्षेत्र में बड़ी विविधता है। यद्यपि हिंदू धर्म इस देश के बहुसंख्यक लोगों का धर्म है फिर भी कुछ धर्म अल्पसंख्यकों के हैं।

भारत की यह एथनिक विविधता प्रजातंत्र के वैश्विक रूप को एक ऐसा प्रतिमान दे देती है जो इस देश की विशेषता बन जाती है। हमारे देश के लिए प्रजातांत्रिक व्यवस्था एक नया अनुभव है। यह अवश्य है कि हमारे गाँवों में ब्रिटिशकाल तक स्वायतत्ता थी। **हेनरी मेन** और **मेटकॉफ** ने तो यहाँ तक कहा है कि भारत का प्रत्येक गाँव एक गणतंत्र है। विदेशी मानवशास्त्रियों का यह कथन पूर्णरूप से तो सही नहीं है। यह इसलिए कि केंद्रीय शासन गाँवों को सुरक्षा देता था, उनसे राजस्व लेता था। लेकिन यह सही है कि गाँवों के आंतरिक मामलों में राज्य का हस्तक्षेप न्यूनतम था। इस संपूर्ण ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में जिस प्रजातांत्रिक संविधान की स्थापना हमने

नोट

सन् 1950 में की है वह हमारा पहला अनुभव है। यहाँ का प्रजातंत्र, यहाँ की सामाजिक संरचना, एथनिसिटी, जातीय सोपान, धार्मिक व्यवस्था, क्षेत्रीयता आदि स्थानीय इतिहास से जुड़ी हुई हैं। ये सब प्रजातंत्र के सामाजिक सांस्कृतिक और आर्थिक आधार हैं और इन्हीं के संदर्भ में हम आज देश की जो प्रजातांत्रिक व्यवस्था है, उसका उल्लेख करेंगे।

क्या आप जानते हैं रामायण का रचनाकाल ईसा से 1500 वर्ष पूर्व तथा महाभारत का रचनाकाल ईसा से 900 वर्ष पूर्व का है।

12.9 भारतीय प्रजातंत्र की प्रकृति (Nature of Indian Democracy)

हमारे देश का संविधान इस देश की प्रजातांत्रिक प्रणाली का बहुत बड़ा दस्तावेज़ है। इस संविधान के आधार पर ही क़ानून बनाया जाता है। संसद या सभा किसी भी ऐसे क़ानून को नहीं पारित कर सकती जो संविधान की अवहेलना करे। यह अवश्य है कि संसद संविधान में संशोधन अवश्य कर सकती है और चाहे तो इसे रद्द भी कर सकती है। लेकिन जब तक संविधान लागू है, देश उसी के नियंत्रण में चलता है। न्यायपालिका भी इसमें कोई दखल नहीं कर सकती। दूसरा, यदि सरकार कुछ नीति-निर्धारण करती है तब यह भी संविधान की धाराओं के अंतर्गत ही होता है। इस भाँति संविधान देश के लिए महत्त्वपूर्ण दस्तावेज़ इसलिए है कि सरकार का क़ानून, उसकी नीतियाँ और उसके कामकाज सब संविधान के क्षेत्र में आते हैं। संविधान ने प्रत्येक नागरिक को **मौलिक अधिकार** (Fundamental Rights) दिए हैं। ये अधिकार बोलने की, लिखने की, उपासना करने की स्वतंत्रता से जुड़े हैं। इनके अतिरिक्त राज्य के नीति निर्देशक तत्व हैं। ये निर्देशक तत्व इस बात का वादा करते हैं कि राज्य अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और अन्य पिछड़े वर्गों को विशेष सुरक्षा देगा।

यह संविधान ही है जिसने इन अनुसूचित समूहों को आरक्षण दिया है। संविधान ने ही विकास और सुरक्षा के संवैधानिक अधिकार दिए हैं। संविधान की धाराएँ इस बात का प्रयास करती हैं कि यह देश राजनीतिक, आर्थिक और प्रशासनिक दृष्टि से एक संघ की तरह काम करेगा। इसी कारण यहाँ की केंद्र और राज्य की सरकारें संघात्मक व्यवस्था के नाम से जानी जाती हैं। वस्तुत: भारत एक संघ है जिसमें राज्य है और केंद्रीय शासन है। राज्य और केंद्र के काम करने के क्षेत्रों को भी संविधान ने विभाजित कर दिया है।

ऊपर जो विवरण दिया गया है उसका सरोकार मौलिक अधिकारों और राज्य के नीति-निर्देशक तत्वों से है। हमारे यहाँ अमेरिका की तरह **दोहरी** (Dual) नागरिकता नहीं है। किसी एक राज्य का नागरिक संविधान के अनुसार संपूर्ण देश का नागरिक समझा जाता है। हम संविधान की और प्रजातांत्रिक व्यवस्था की किसी भी विस्तार के साथ यहाँ चर्चा करना उचित नहीं समझते। **हम तो केवल यह बताना चाहते हैं कि जो प्रजातांत्रिक व्यवस्था हमारे यहाँ काम कर रही है, वह संविधान के अंतर्गत इस देश को एक राष्ट्र के रूप में बाँधकर रखती हैं। आज भारत एक प्रजातांत्रिक, धर्मनिरपेक्ष (Secular) और समाजवादी राष्ट्र है।** संविधान और इसके अंतर्गत पिछले 50 वर्षों में जो नीतियाँ अपनाई गई हैं वे हमारे राष्ट्र की प्रकृति को बताती है। यहाँ हम ऐसी कुछ विशेषताओं का वर्णन करेंगे जो हमारी प्रजातांत्रिक व्यवस्था की विशेषताएँ हैं–

1. भारत एक प्रजातांत्रिक राष्ट्र है (India is a Democratic Nation)

हमने संविधान के सिलसिले में यह कहा है कि भारत एक प्रजातांत्रिक राष्ट्र है। यहाँ के प्रत्येक नागरिक को लिखने, बोलने और काम करने की स्वतंत्रता है। वह अपने अधिकारों के लिए अदालत में जा सकता है। राज्य और क़ानून के सामने सभी समान हैं। इसी कारण संविधान के अनुसार राज्य व्यक्तियों के लिंग, धर्म और जाति के आधार पर कोई भेदभाव नहीं करता। क़ानून के आगे सब समान हैं।

नोट

2. यह एक धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र है (It is a Secular Nation)

भारत में जो प्रजातांत्रिक, समाजवादी और धर्मनिरपेक्ष राजनीति है उसके संबंध में के.एम. पणिक्कर बड़े स्पष्ट शब्दों में लिखते हैं–''भारत के प्रजातांत्रिक, समाजवादी और धर्मनिरपेक्ष राज्यों की जड़ें पश्चिम में हैं, हिंदू राज्य में नहीं।''

डी.ई. स्मिथ ने भारतीय प्रजातांत्रिक व्यवस्था को धर्मनिरपेक्ष स्वरूप का विस्तार से विवेचन अपनी पुस्तक **इंडिया एज़ ए सेक्यूलर स्टेट** (India as a Secular State, 1963) में किया है। वे कहते हैं कि भारत के लिए यह बहुत महत्त्वपूर्ण बात है कि अपने पड़ोसी देशों की तुलना में इसने अपने आपको एक धर्मनिरपेक्ष राज्य घोषित किया है। भारत की धर्मनिरपेक्षता पश्चिमी देशों की उदार प्रजातांत्रिक परंपरा से ली गई है। इस राज्य में व्यक्ति को धर्म की पूरी स्वतंत्रता है। अगर हम भारत की सभ्यता और इसकी परंपरागत संस्थाओं को देखें तो ज्ञात होगा कि यहाँ अतीत में राज्य और धर्म का निकट का संबंध था। यह भी कहा जा सकता है कि यहाँ राज्य और राजा की उत्पत्ति भी धर्म से थी। पुरोहित या ब्राह्मण राजा को राज्य करने की वैधता देते थे। राज्य ही मंदिर और दान के ट्रस्ट बनाता था। मंदिर के साथ में सैकड़ों एकड़ ज़मीन व्यवस्था को बनाए रखने के लिए दी जाती थी। मुसलमान शासकों ने मस्जिदें बनाई। भारतीय इतिहास के किसी भी काल को हम ले लेवें तो ज्ञात होगा कि राज्य का संबंध धर्म के साथ था। ऐसे समाज में जब भारतीय संविधान इस राष्ट्र को धर्मनिरपेक्ष घोषित करता है तो यह एक बहुत बड़ी बात है। भारत में जो धर्मनिरपेक्षवाद है वह मार्क्सवाद के धर्मनिरपेक्षवाद से भिन्न है। मार्क्स धर्म को अपना विरोधी समझते हैं जबकि भारत का धर्मनिरपेक्षवाद जो सब धर्मों के साथ समान और आदर का भाव रखता है।

भारत जैसे पारंपरिक समाज में प्रजातंत्र का इस तरह धर्म और जाति से संबंध विच्छेद करना, कोई सामान्य बात नहीं है। अब भी यह समाज जाति व्यवस्था में जीवित है, शादी-ब्याह जाति में ही होते हैं। नातेदारी भी जाति में ही है और यहाँ के तिथि-त्यौहार, मेले-ठेले, व्रत-उत्सव सभी धर्म से बँधे हुए हैं। ऐसी स्थिति में राज्य का धर्मनिरपेक्ष होना भी एक बहुत बड़ी विशेषता है।

3. समाजवादी समाज (Socialistic Society)

संविधान तो आज भी कहता है कि हम भारत में एक समाजवादी समाज की स्थापना करेंगे। लेकिन संविधान की यह धारा, लगता है आदर्शात्मक ही है। इसके पीछे कुछ ऐतिहासिक कारक हैं। सोवियत रूस के पतन के बाद ऐसा लगता है कि दुनियाँभर में अब पूँजीवाद का कोई विकल्प शेष नहीं है। ऐसी अवस्था में भारत में समाजवादी समाज की स्थापना करना केवल संविधान तक ही सीमित रहेगा। आज के विश्वव्यापीकरण और उदारीकरण के दौर में समाजवादी समाज की कल्पना और भी धुँधली हो गई है।

4. मानववाद और वैज्ञानिक आचार (Humanism and Scientific Ethics)

यद्यपि संविधान ने ऐसा कुछ नहीं कहा है कि सरकार की नीतियों को मानववादी चेहरा दिया जाएगा या यहाँ का सरकारी कामकाज वैज्ञानिक आचार यानी **युक्तिमूलक** (Rational) होगा, फिर भी जो कुछ गतिविधियाँ सरकार कर रही है उनके पीछे मानवीय दृष्टिकोण अवश्य रहता है। नेहरू जी अपने व्यक्तिगत जीवन में पूर्णरूप से धर्म निरपेक्ष थे। उन्होंने अपने व्याख्यानों में बार-बार इस बात पर ज़ोर दिया है कि हम देश में मानववाद को अपनी नीति का आधार बनाएँगे। गाँधीजी ने भी यह आग्रहपूर्वक कहा है कि सरकार का कामकाज करने का तरीका विशुद्ध रूप से वैज्ञानिक होना चाहिए। आज बार-बार यह कहा जाता है कि सरकार से **सूचना लेने का अधिकार** (Right to Information) नागरिकों को है। यह भी कहा जाता है कि सरकार को अपनी गतिविधियों में **पारदर्शिता** (Transparency) रखनी चाहिए। इस पारदर्शिता का अर्थ ही है युक्तिमूलक होना।

5. विकास : राष्ट्र का मुहावरा (Development : The National Idiom)

राज्य के नीति-निर्देशक तत्व और सरकार द्वारा घोषित और लागू की गई नीतियाँ यह स्पष्ट रूप से बताती हैं कि हम संपूर्ण देश में आर्थिक विकास करना चाहते हैं। ऐसा लगता है कि यह विकास समाज में एकीकरण ले

नोट

आएगा। हमारी पंचवर्षीय योजनाएँ और अन्य कार्यक्रम विकास के लक्ष्य प्राप्ति में सहायक होंगे। पिछले कई वर्षों से यह बराबर दोहराया जा रहा है कि हम इस देश में आधुनिकीकरण लाना चाहते हैं। यह आधुनिकीकरण नये मूल्यों का सूत्रपात करेगा।

10.10 प्रजातंत्र : परंपरागत समाज की चुनौतियाँ (Democracy : Traditional Society's Challenges)

प्रजातंत्र को जिस भाँति हमारे देश ने स्थापित किया है, निश्चित रूप से वह एक नया अनुभव है। यहाँ लंबे समय से जाति व्यवस्था रही है और अब ये जातियाँ 4000 से ऊपर तक हो गई हैं। भाषा की भी कुछ यही स्थिति है। हमारे यहाँ तीन भाषा परिवार हैं और इनकी संविधान द्वारा मान्यता प्राप्त 18 भाषाएँ हैं। धर्म की हालत भी कुछ ऐसी ही है। यद्यपि हिंदू बहुसंख्यक हैं फिर भी अल्पसंख्यक धर्मावलंबी संविधान की दृष्टि से सुरक्षित हैं। इन सब सामाजिक आधारों पर हमें राष्ट्र निर्माण करना है। राष्ट्र निर्माण की समस्या केवल हमारी ही हो, ऐसा नहीं है। यह एक प्रक्रिया है जिससे अमेरिका और यूरोप के अनेक राष्ट्र गुजर रहे हैं। सन् 1971 में **नाथन ग्लेज़र** और **डेनियल मोनिहान** की पुस्तक **बीयोण्ड दि मेल्टिंग पोट** (Beyond the Melting Pot, 1971) प्रकाशित हुई। इन लेखकों ने इस पुस्तक के दूसरे संस्करण में अपनी पहले संस्करण की भूमिका को बदल दिया। पहले संस्करण में उनका कहना था कि अमेरिका एक ऐसा राष्ट्र है जिसमें कई **राष्ट्रीयताओं** (Nationalities) के लोग आते हैं और यहाँ आकर उनका सात्मीकरण हो जाता है। वे अपनी राष्ट्रीयता की पहचान भूल जाते हैं। जैसे उबलते घड़े में सिक्के पिघल जाते हैं। लेकिन न्यूयार्क शहर के उनके अध्ययन ने इस संपूर्ण थीसिस को बदल दिया। **द्वितीय संस्करण में उन्होंने लिखा कि विभिन्न राष्ट्रीयताओं वाले लोग चुनाव में अपना-अपना जोड़ लगाते हैं** और वे अपने अनुमान के हिसाब से धड़े बनाकर मतदान करते हैं। मतलब हुआ सात्मीकरण अधूरा है।

हमारे देश में **एकाधिकार** (Plural) संस्कृतियाँ हैं। इन संस्कृतियों ने एकीकरण के सामने समस्याएँ पैदा की हैं। किसी भी राष्ट्र का निर्माण करना एक बहुत बड़ा अनुभव है और इसमें कई प्रक्रियाओं से होकर गुजरना पड़ता है। प्रजातंत्र का जो स्वरूप हमारे देश में है वह इस देश की सभ्यता की, इतिहास की और सामाजिक संरचना की प्रक्रियाओं के परिणामस्वरूप है। पाकिस्तान में ये प्रक्रियाएँ जुदा हैं, वहाँ मुसलमानों में ही गला काटने वाला स्तरीकरण है, मुस्लिम संप्रदाय के लोग मुस्लिम संप्रदाय के खिलाफ ही लड़-झगड़ रहे हैं। वहाँ का प्रजातंत्र एक नये दौर से गुजर रहा है। श्रीलंका और म्यांमार की समस्याएँ भी वहाँ की परंपराओं की उपज है। यहाँ प्रजातंत्र को हमारे परंपरागत समाज ने जिन चुनौतियों को रखा है और जो राष्ट्र निर्माण में बाधक हो रही हैं उनका हम निम्न बिंदुओं में उल्लेख करेंगे–

1. धर्मनिरपेक्षता (Secularism)

डी.ई. स्मिथ ने भारत की सभ्यता का एक विस्तृत सर्वेक्षण किया है और वे कहते हैं कि भारत के लिए अपने आपको एक धर्मनिरपेक्ष राज्य कहना बहुत बड़ी बात है। हमारे इस राज्य में–(1) धर्म का संबंध व्यक्ति से है। इसका अर्थ हुआ व्यक्ति को धर्म की स्वतंत्रता है; (2) राज्य का व्यक्ति से संबंध है–यहाँ व्यक्ति एक नागरिक मात्र है; और (3) राज्य के साथ धर्म का संबंध है। इस संबंध में धर्म राज्य से पृथक् अस्तित्व रखता है। राज्य के साथ जो भी संबंध हैं चाहे वे नागरिक के हों, जेंडर के हों, जाति के हों, व्यवसाय के हों, धर्म इसमें कहीं नहीं आता। यह संवैधानिक स्थिति बहुत स्पष्ट है।

जब हम प्रजातंत्र को इस एकाधिक धर्मों की पृष्ठभूमि में काम करते देखते हैं तो राष्ट्र निर्माण का कार्य ढीला पड़ जाता है। सामान्यतया बहुसंख्यक हिंदू धर्मावलंबी अपने हितों के लिए शक्ति के बँटवारे में दखल देते हैं। धर्म चुनावों में निर्णायक नहीं तो महत्त्वपूर्ण भूमिका अवश्य अदा करता है। ऐसे राजनीतिक दल हैं जो एक निश्चित धर्मावलंबियों को राजनीतिक हितों के लिए एक करने का प्रयास करते हैं। कई बार यह नारा भी दिया जाता है कि यह एक हिंदू राष्ट्र है। आजकल एक नई प्रवृत्ति देखने को मिलती है। कुछ धर्मावलंबी ऐसे हैं जो राजनीतिक लाभ के लिए अपने आपको अल्पसंख्यक घोषित करने का प्रयास करते हैं। धर्म द्वारा प्रस्तुत कुछ ऐसी

नोट

चुनौतियाँ हैं जो राष्ट्र निर्माण में बराबर व्यवधान पैदा करती हैं। बाबरी मस्जिद और राम जन्म मंदिर का मसला और इसी तरह कश्मीर का विवाद अपने मूल में सांप्रदायिक विवाद है। हिंदुओं और इसाइयों के संबंध, हिंदुओं और सिखों के संबंध ऐसे मुद्दे हैं जो धर्म निरपेक्ष राष्ट्र के निर्माण में आड़े आते हैं। सीधा मतलब हुआ कि प्रजातंत्र इस परंपरागत समाज में आकर धर्म से आहत हो गया। यूरोप और अमेरिका में ईसाई धर्म हमारे यहाँ हिंदू धर्म की तरह बहुसंख्यक नागरिकों का धर्म है। लेकिन वहाँ कम से कम आज के इस ऐतिहासिक मोड़ पर धर्म और राज्य एकदम जुदा-जुदा हैं।

2. भाषा (Language)

सेलिग हेरिसन ने सन् 1960 में यह कहा था कि भारत में प्रजातंत्र को सबसे बड़ा खतरा भाषा से होगा। नेहरू जी हेरिसन से बहुत प्रभावित थे। यह सही है कि आज देश में भाषाई दंगे नहीं हुए हैं लेकिन दबी जबान से बराबर यह कहा जा रहा है कि हिंदी को राष्ट्र भाषा का दर्जा नहीं दिया जाना चाहिए। द्रविड़ भाषा परिवार के लोग हिंदी का घोर विरोध करते हैं। इसका परिणाम यह हुआ कि हम शिक्षा के माध्यम के लिए किसी एक भाषा को स्वीकार नहीं कर पाए हैं। भाषा के ऑफिशियल एक्ट के अनुसार, सरकारी काम-काज में हिंदी के साथ हमें अंग्रेजी का अनुवाद देना आवश्यक है। भाषा की इस विविधता ने राष्ट्र को अंत:क्रिया के क्षेत्र में पीछे धकेल दिया है।

3. जाति (Caste)

संविधान ने नागरिकों में जातिगत भेदभाव रखने की स्वीकृति नहीं दी है। व्यावहारिक जीवन में स्थिति कुछ दूसरी है। आज भारतीय जीवन में जाति का बहुत बड़ा महत्त्व है। बड़ी विचित्र स्थिति है—आम आदमी जाति की जीवन-शैली में जीवित रहता है। उसका खाना, पहनावा, तिथि-त्यौहार, व्रत-उत्सव, शादी-ब्याह सभी जाति के दायरे में निर्धारित होते हैं। ऐसा आदमी जब अपने कार्यालय में सरकारी काम करने के लिए जाता है तो अपनी जाति पद्धति को किसी पुराने कोट की तरह घर की खूँटी पर लटकाकर नहीं जाता। अर्थात् यह नहीं होता कि कार्यालय में तो उसकी कोई जाति व धर्म नहीं है, कोई सांस्कृतिक क्षेत्र नहीं है और वह पूर्ण रूप से नागरिक मात्र है और घर आकर वह इस लबादे को ओढ़ लेता हो। वास्तविकता यह है कि जाति का प्रभाव राजनीतिक प्रक्रियाओं, चुनाव के लिए उम्मीदवारों के चयन, मंत्रीमंडल बनाने की प्रक्रिया में, नियुक्ति व स्थानांतरण में, कहीं भी जाति का प्रभाव कम नहीं होता। **रुडोल्फ और रुडोल्फ** (Lioyd Rudolph and Susanne Rudolph) ने 1960 में भारत के राष्ट्रीय एकीकरण पर यह कहा था कि इस देश में चाहे कितने ही राजनीतिक दल चुनाव में उतरे, सबसे ताकतवर दल तो जातियों का दल है। बहुत स्पष्ट है भारत की राजनीति में जाति व्यवस्था की भूमिका बहुत महत्त्वपूर्ण है। **सेलिग हेरिसन** ने आंध्र प्रदेश की चुनाव प्रक्रिया का अध्ययन किया था। वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इस प्रदेश में कम्यूनिस्ट पार्टी की बहुत बड़ी ताकत जातियाँ हैं। जितना महत्त्व जातियों का है उतना महत्त्व शायद किसी विचारधारा या चुनावों का नहीं है। आंध्रप्रदेश में ही देखिए वहाँ **कम्मा** (Kamma) बड़े भू-पति हैं और चुनावों में उनकी भूमिका उल्लेखनीय है। दूसरी ओर रेड्डी भी बड़े भू-पति हैं, आंध्र की राजनीति के मुख्य प्रणेता हैं। कुल मिलाकर हम यह कहना चाहते हैं कि संविधान की दृष्टि में आज जातियों का कोई अस्तित्व नहीं है लेकिन राष्ट्र की जीवनधारा में जाति सब कुछ है। ऐसी अवस्था में राष्ट्र निर्माण का कार्य कौन-सी दिशा लेगा।

4. संस्कृति (Culture)

भारत के राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया में सबसे बड़ी समस्या संस्कृति की है। इस राष्ट्र का एक गौरवपूर्ण अतीत है। इसके खाते में कोई 5000 वर्ष पहले की महान् सभ्यताएँ हैं—मोहनजोदड़ों और हड़प्पा। राज्य का इस तरह की संस्कृति के प्रति क्या दृष्टिकोण होना चाहिए, यह एक बहस का मुद्दा है। एक विचारधारा भारतीय संस्कृति को हिंदू संस्कृति मानती है और इस संस्कृति में जो गैर-हिंदू तत्व आए हैं वे प्रदूषण फैलाने वाले प्रभाव ही हैं। इस विचारधारा के समर्थक कुछ राजनीतिक दल हैं। यह भी कहा जाता है कि जो गैर-हिंदू समुदाय इस देश में हैं उन्हें हिंदू संस्कृति को अपनाना पड़ेगा। वास्तव में हिंदू और मुस्लिम सांप्रदायिकता की समस्या इस देश में एक

नोट

ऐतिहासिक समस्या है। इस समस्या के निराकरण के लिए कुछ विचारकों ने भारत के लिए एक मिश्रित अर्थात् **कंपोज़िट** (Composite) संस्कृति की बात कही है। इस तरह की मिश्रित संस्कृति ऐसी होगी जो विभिन्न संस्कृतियों के मुख्य तत्वों को ग्रहण करेगी। नेहरू जी ने अपनी पुस्तक **द डिस्कवरी ऑफ इंडिया** (The Discovery of India, 1946) में अपने विचार **कंपोज़िट कल्चर** के बारे में स्पष्ट किए हैं। वे कहते हैं कि **भारतीय संस्कृति को हिंदू संस्कृति कहना भ्रमपूर्ण है। एक बौद्ध को लें या एक जैन को, इन दोनों की जड़ें, इनकी विचारधारा और संस्कृति पूर्णतया भारतीय है। यह होते हुए भी न तो बौद्ध और न जैन ही हिंदू है।** नेहरू जी यह स्वीकार करते हैं कि प्रारंभ में हिंदू जीवन पद्धति और दर्शन वास्तव में भारतीय संस्कृति ही थे लेकिन बाद में इस देश में मुसलमान आए, अंग्रेज आए और इन सबने यहाँ की हिंदू संस्कृति को प्रभावित किया। ऐसी स्थिति में आज के संदर्भ में भारतीय संस्कृति तो एक **कंपोज़िट कल्चर** ही हो सकती है।

संस्कृति के क्षेत्र में जो विवाद है वह आज दोराहे पर खड़ा है : एक विचारधारा के अनुसार भारतीय संस्कृति हिंदू संस्कृति है; और दूसरी विचारधारा के अनुसार भारतीय संस्कृति मिश्रित यानी मिली-जुली संस्कृति है। ऐसा लगता है कि इस देश के लिए मिश्रित संस्कृति को ही विकसित करना उचित है। भारतीय संस्कृति को हिंदू संस्कृति कहना तथ्यों के आधार पर गलत है। लेकिन यहाँ हमें तुरंत कहना चाहिए कि हिंदू संस्कृति आज भी एक शक्तिशाली और व्यापक संस्कृति है। इसी संस्कृति ने जिसे हम भारतीय संस्कृति कहते हैं को विकसित किया है।

भारत सरकार ने संस्कृति के इस मसले को सुलझाने का प्रयास किया है। सरकार देश भर के सांस्कृतिक संगठनों और साहित्यिक संस्थानों को आर्थिक मदद देती है ताकि ये सब संस्कृतियाँ विकसित हो सकें। सरकार विभिन्न सांस्कृतिक क्षेत्रों के दिग्गज़ नेताओं, साहित्यकारों और कलाकारों को भी आर्थिक सहायता देती है। भारत सरकार सांस्कृतिक मंत्रालय कुछ अकादमियों को भी आर्थिक सहायता देता है। उदाहरण के लिए संगीत नाटक अकादमी, कला के माध्यम से संपूर्ण राष्ट्र में एकता लाने का प्रयास करती है। यह आकदमी राज्य की अकादमियों के साथ अपने आपको जोड़ती है और सांस्कृतिक तथा साहित्यिक आयोजनों का प्रयास करती है। साहित्य अकादमी विभिन्न भाषाओं में एकता स्थापित करने का काम करती है। इसी तरह ललित कला अकादमी, चित्रकला, शिल्पकला और वास्तुकला को विकसित करने का काम करती है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

सही विकल्प चुनकर रखिए–

5. गोर्वाच्योव किस देश के राष्ट्रपति रह चुके हैं?
   (क) अमेरिका (ख) रूस (ग) चीन
6. 'लोकतंत्र, जनता का शासन है, जो जनता, द्वारा जनता के लिए चलाया जाता है।' लोकतंत्र की यह परिभाषा किसने दी है–
   (क) जॉर्ज डब्ल्यु बुश (ख) जॉन एफ़ केनेडी (ग) अब्राहम लिंकन
7. फ्रांसीसी क्रांति का समय है–
   (क) सन् 1789 (ख) सन् 1776 (ग) सन् 1866

संस्कृति मंत्रालय विदेशों के साथ भी सांस्कृतिक संबंध स्थापित करने का प्रयास करता है। वे लोग जो संस्कृति के प्रसार और प्रचार के लिए प्रवास पर जाते हैं और उन्हें आर्थिक सहायता भी दी जाती है। सामान्यतया सांस्कृतिक मामलों का यह मंत्रालय भारतीय संस्कृति के उन पहलुओं को भी विकसित करता है जो धर्मनिरपेक्ष हैं। उदाहरण के लिए भरत नाट्यम दक्षिण भारत का शास्त्रीय नृत्य है। देखा जाए तो इसका विकास दक्षिण के मंदिरों में हुआ है और इसलिए इसकी प्रकृति धार्मिक है। यह नाट्यम हिंदुओं की पूजा का एक अंग है। लेकिन **आज इसे धर्म का एक अंग न मानकर कला के रूप में समझा जाता है।** सरकार इसके विकास के लिए धन देती है। कोलकाता में रामकृष्ण मिशन हिंदू होते हुए भी भारतीय संस्कृति का एक अंग समझा जाता है और

नोट

इस कारण इसे भी बहुत बड़ी आर्थिक सहायता दी जाती है। अगर हम विश्लेषणात्मक दृष्टि से देखें तो भारतीय संस्कृति का सरकार का जो बोध (Perception) है वह एक **कंपोज़िट कल्चर** का है।

भारत में जो प्रजातांत्रिक व्यवस्था है वह भारतीय संस्कृति, परंपरा, भाषा और कला का ही एक स्वरूप है। हम जब इस तरह की परंपरागत सामाजिक व्यवस्था में राष्ट्र निर्माण करना चाहते हैं तब चुनौतियाँ आना स्वाभाविक है; इसका मूल कारण यह है कि प्रजातंत्र की अवधारणा, उसकी धर्म निरपेक्षता, अपने मूल में यूरोप की है; इसकी जड़ें वहाँ हैं। यहाँ जब हम इसे अमली जामा पहनाते हैं तो हमारी सामाजिक व्यवस्था इसे प्रभावित अवश्य करती है। हमारी सामाजिक संस्थाएँ जैसे जाति, गाँव, पंचायतें, स्त्रियों की स्थिति, उपनिवेशवादी-सामंतवादी मनोवृत्तियाँ इसे प्रभावित अवश्य करती हैं। हम किसी भी धर्म निरपेक्ष योजना को लागू करते हैं तब सामाजिक और सांस्कृतिक चुनौतियाँ मुँह बायें खड़ी हो जाती हैं। यूरोप और अमेरिका में प्रजातंत्र के सामने प्रजातिवाद का मसला आ जाता है। इन कठिनाइयों और चुनौतियों के होते हुए भी हमने इस देश में प्रजातंत्र को विकसित होने के लिए अच्छे अवसर दिए हैं। पाकिस्तान में ऐसा नहीं हुआ है। वहाँ प्रजातंत्र को फौजी हुकूमत ने कई बार ललकारा है। श्रीलंका में भी स्थिति निरापद नहीं है। लेकिन किसी भी राष्ट्र के निर्माण में इस तरह की चुनौतियाँ आना कोई नई बात नहीं है।

निष्कर्षत: कह सकते हैं कि इस देश में सभी वस्तुएँ राजनीतिक इसलिए है कि यहाँ प्रजातंत्र की मौजूदगी है। वर्षों से एक राजनीतिक प्रताड़ना से पीड़ित यह समाज अपनी दबी हुई अपेक्षाओं को पूरा करना चाहता है। भारतीय समाज वस्तुत: एक कृषक समाज है। इसने अपना संपूर्ण जीवन गरीबी में काटा है। इसे सामाजिक रूप से दबाया गया है और अब इसलिए यह अपनी राजनीतिक पहचान बनाना चाहता है और यही कारण है कि परंपरागत संस्थाएँ–संयुक्त परिवार, जाति, नातेदारी, गाँव इत्यादि प्रजातंत्र की लड़ाई पूरी ताकत से लड़ना चाहती है।

12.11 सारांश (Summary)

- अंतर्राष्ट्रीय रंगमंच पर आरंभ से ही राज्य सबसे महत्त्वपूर्ण इकाई समझा जाता रहा है। इस बारे में यह मान्यता आम है कि यह एक ऐसा भू-भाग व क्षेत्र है जिसपर राज्य का एक-छत्र अधिकार रहता है, जहाँ उसकी संप्रभु सत्ता को कोई चुनौती नहीं दे सकता। यहाँ यह जोड़ने की ज़रूरत है कि राष्ट्र-राज्य के उदय के पहले राज्य की इस भूमि को शासक की निजी संपत्ति समझा जाता था जिसका हस्तांतरण वह अपनी इच्छानुसार कर सकता था।
- आधुनिक राज्य के बारे में जो बात नहीं बदली, वह संप्रभुता से जुड़ी है। अंतर्राष्ट्रीय क़ानून का विकास लगभग राष्ट्र-राज्य की विकास यात्रा के साथ-साथ हुआ है। आधुनिक राज्य एक संप्रभु और स्वाधीन इकाई है। पारंपरिक व्यवस्था में शासक का व्यक्तित्व राज्य का पर्याय समझा जाता था और संप्रभुता शासक में ही मूर्तिमान, प्रत्यक्ष देखी जाती रही है।
- संयुक्त राष्ट्र संघ घोषणा की पत्र धारा 14 में यह स्वीकार करता है कि राज्य आपसी संबंधों को संप्रभुता के सिद्धांत और अंतर्राष्ट्रीय क़ानून के अनुसार संचालित करेंगे।
- राष्ट्र-राज्य की अवधारणा में यह अंतर्निहित है कि राज्य की पहचान के साथ राष्ट्रीयता का तत्व अभिन्न रूप से जुड़ा रहेगा। राष्ट्र-राज्य के नागरिक यह बात स्वीकार करते हैं कि उनके सामूहिक हित किसी दूसरे राष्ट्र-राज्य के नागरिकों के सामूहिक हितों की तुलना में अधिक साम्य रखते हैं।
- भूमंडलीकरण एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके अंतर्गत अंतर्राष्ट्रीय जगत के बहुआयामी पहलू एक-दूसरे के साथ गुथे हुए हैं–आर्थिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक। एक ओर विकेंद्रीकरण तो दूसरी ओर क्षेत्रीय एकीकरण की प्रक्रियाएँ साथ-साथ चल रही हैं। भूमंडलीकरण ने राष्ट्र-राज्य को प्रभावित तो किया है, पर यह नहीं कहा जा सकता कि उसके स्वरूप को अभी तक बुनियादी तौर से बदला है।
- आधुनिक राज्य अभी भी एक 'लक्ष्य' ही है–एक ऐसा सपना जिसे साकार किया जाना बाकी है। इस संदर्भ में यह याद रखना उपयोगी होगा कि विश्वभर में मान्यता प्राप्त करने के लिए यह आधुनिक राज्य की

नोट

पहचान सिर्फ पश्चिमी पूँजीवादी राष्ट्र-राज्य की नकल तक सीमित नहीं रह सकती, उसे वास्तव में बहुलवादी और जनतांत्रिक होना पड़ेगा।

- लोकतंत्र की आधुनिक अवधारणा आधुनिक युग की परिस्थितियों की देन है। आज के युग में 'लोकतंत्र' के विचार को सर्वत्र मान्यता दी जाती है।
- यहाँ का प्रजातंत्र, यहाँ की सामाजिक संरचना, एथनिसिटी, जातीय सोपान, धार्मिक व्यवस्था, क्षेत्रीयता आदि स्थानीय इतिहास से जुड़ी हुई हैं। ये सब प्रजातंत्र के सामाजिक सांस्कृतिक और आर्थिक आधार हैं।
- प्रजातंत्र का जो स्वरूप हमारे देश में है वह इस देश की सभ्यता की, इतिहास की और सामाजिक संरचना की प्रक्रियाओं के परिणामस्वरूप है।

12.12 शब्दकोश (Keywords)

1. **Composit Culture**–कई संस्कृतियों का आपसी मेल-जोल।

12.13 अभ्यास-प्रश्न (Review Question)

1. राज्य के उदय एवं उसके बदलते प्रतिमान पर प्रकाश डालिए।
2. भूमंडलीकरण के प्रभावों की व्याख्या कीजिए।
3. लोकतंत्र की आधुनिक अवधारणा पर प्रकाश डालिए।
4. भारतीय प्रजातंत्र के स्वरूप पर प्रकाश डालिए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer : Self Assessment)

1. (✓) 2. (✗) 3. (✗) 4. (✓)
5. (ख) 6. (ग) 7. (क)

12.14 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. सोश्योलॉजी–*गिडेंस, एंथनी 2008, विले–इंडिया।*
2. इंडियन सोसाइटी : इंस्टीट्यूशंस एंड चेंज–*शर्मा, राजेंद्र के. 2004.*
3. फंडामेंटल्स ऑफ़ सोश्योलॉजी–*गिसबर्ट, पास्कल 2006, ओरिएंट लॉंगमैन।*

नोट

इकाई–13 : धार्मिक व्यवहार के प्रकार : आत्मवाद, मानावाद, बहुदेववाद, संप्रदाय, पंथ
(Types of Religious Practices : Animatism, Manaism, Pluralism, Sects, Cults)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)
प्रस्तावना (Introduction)
13.1 धर्म का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Religion)
13.2 धर्म के मौलिक लक्षण (विशेषताएँ) (Basic Characteristics of Religion)
13.3 पूर्व-आधुनिक समाजों में धर्म का उद्भव (Origin of Religion in Pre-Modern Societies)
13.4 आत्मावाद या जीववाद (Animism)
13.5 जीवित-सत्तावाद या मानावाद (Animatism or Manaism)
13.6 प्रकृतिवाद (Naturalism)
13.7 तत्वपरक और बहुदेववाद (Metaphysical and Pluralism)
13.8 धर्म, संप्रदाय, पंथ तथा सम्मोहन (Religion, Sect, Cult and Hypnotism)
13.9 सारांश (Summary)
13.10 शब्दकोश (Keywords)
13.11 अभ्यास-प्रश्न (Review Question)
13.12 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- धर्म का अर्थ एवं उसके मौलिक रूप को समझने में।
- आधुनिक समाज से पहले धर्म, आत्मावाद अथवा जीववाद को समझने में।
- जीवित सत्तावाद अथवा मानववाद को समझने में।
- प्रकृतिवाद को जानने में।
- तत्वपरक और बहुवादी धर्म, संप्रदाय, पंथ तथा सम्मोहन को समझने में।

प्रस्तावना (Introduction)

धर्म मानव समाज का ऐसा व्यापक, स्थायी एवं शाश्वत तत्व है जिसको सम्यक् रूप से समझे बिना हम समाज के रूप को समझने में असफल रहेंगे। वर्तमान में मानव ने विज्ञान के सहारे अपने पर्यावरण पर काफी नियंत्रण

नोट

प्राप्त कर लिया है। इसका परिणाम यह हुआ है कि कई समाज या तो धर्मनिरपेक्ष हो गए हैं या धर्म में रुचि नहीं रखते एवं धार्मिक विश्वासों की वैधता को स्वीकार नहीं करते। फिर भी धर्म आज भी एक सार्वभौमिक तथ्य बना हुआ है। धर्म मानव का अलौकिक शक्ति से संबंध जोड़ता है। इसका संबंध मानव की भावनाओं, श्रद्धा एवं भक्ति से है। धर्म मानव के आंतरिक जीवन को ही प्रभावित नहीं करता, वरन् उसके सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक जीवन को भी प्रभावित करता है। **मार्क्स** धर्म को मानव के लिए 'अफीम' मानते हैं। मैक्स वेबर का मत है कि धर्म हमारे आर्थिक जीवन को प्रभावित करता है। यूरोप में जब प्रोटेस्टैंट धर्म का उदय हुआ तो पूँजीवाद ने जन्म लिया। क्योंकि धार्मिक आचार ही आर्थिक क्रियाओं को निर्धारित करते हैं, अतः जब धर्म में परिवर्तन होता है तो आर्थिक क्रियाओं में भी परिवर्तन आता है। इस प्रकार धर्म मानव जीवन का एक प्रमुख अंग है। हम यहाँ धर्म के विभिन्न पक्षों पर विचार करेंगे।

13.1 धर्म का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Religion)

स्टीफेन फच्स (Stephen Fuchs) के मतानुसार, ''रिलिजन (धर्म) शब्द रेलिगेयर (Religare) से बना है जिसका अर्थ है 'बाँधना' अर्थात् मनुष्य को ईश्वर से संबंधित करना।'' धर्म शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृति भाषा के 'धृ' शब्द से मानी जाती है जिसका अर्थ है 'धारण करना' अर्थात् सभी जीवों के प्रति मन में दया धारण करने को ही धर्म कहा गया है। हिंदू धर्म-ग्रंथों में तामस एवं राजस गुणों के स्थान पर सात्विक गुणों को धारण करने को ही धर्म माना गया है। धर्म के अर्थ को स्पष्ट करने हेतु विभिन्न विद्वानों ने परिभाषाएँ दी है। जो इस प्रकार हैं–

एडवर्ड टेलर (Edward Tylor) के अनुसार, ''धर्म आध्यात्मिक शक्ति में विश्वास है।''

सर जेम्स फ्रेजर (Sir James Frazer) कहते हैं, ''धर्म से ··· मैं मनुष्य से श्रेष्ठ उन शक्तियों की संतुष्टि या आराधना समझता हूँ जिनके संबंध में यह विश्वास किया जाता है कि वे प्रकृति और मानव जीवन को मार्ग दिखाती हैं और नियंत्रित करती हैं।''

मैलिनोवस्की ने धर्म में समाजशास्त्रीय एवं मनोवैज्ञानिक दोनों ही पहलुओं का समावेश करते हुए लिखा है, ''धर्म क्रिया की एक विधि है और साथ ही विश्वासों की एक व्यवस्था भी। धर्म एक समाजशास्त्रीय घटना के साथ-साथ एक व्यक्तिगत अनुभव भी है।''

पी. हॉनिगशीम (P. Honigsheim) के अनुसार, ''प्रत्येक उस मनोवृत्ति को धर्म कहेंगे जो इस विश्वास पर आधारित है कि अलौकिक शक्तियों का अस्तित्व है तथा उनसे संबंध स्थापित करना न केवल महत्त्वपूर्ण है वरन् संभव भी है।''

हॉबल (Hoebel) के अनुसार, ''धर्म अलौकिक शक्ति में विश्वास पर आधारित है जिसमें आत्मावाद और मानावाद दोनों सम्मिलित हैं।''

क्यूबर (Cuber) का विचार है, ''धर्म सांस्कृतिक जीवन से संबंधित व्यवहार का वह प्रतिमान है जिसका निर्माण पवित्र विश्वासों, विश्वासों से संबंधित उद्वेगपूर्ण विचारों तथा इन्हें व्यक्त करने वाले बाहरी आचरणों आदि से होता है।''

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर संक्षेप में कहा जा सकता है कि धर्म किसी-न-किसी प्रकार की अतिमानवीय (Super-human) या अलौकिक (Super-natural) या समाजोपरि (Supra-social) शक्ति पर विश्वास है जिसका आधार भय, श्रद्धा, भक्ति और पवित्रता की धारणा है और जिसकी अभिव्यक्ति प्रार्थना, पूजा या आराधना आदि के रूप में की जाती है।

13.2 धर्म के मौलिक लक्षण (विशेषताएँ) (Basic Characteristics of Religion)

धर्म की उपर्युक्त परिभाषाओं से धर्म के कुछ मौलिक लक्षण अथवा विशेषताएँ परिलक्षित होती हैं जो इस प्रकार हैं–

नोट

1. **अलौकिक शक्ति में विश्वास** (Belief in Super-natural Power)–जॉनसन का कथन है कि ''एक अलौकिक शक्ति में विश्वास धर्म का सबसे प्रमुख तत्व है।'' विश्वास के बिना किसी भी प्रकार धर्म का निर्माण और विकास नहीं हो सकता। धर्म के अंतर्गत एक ऐसी शक्ति में विश्वास किया जाता है जो अलौकिक और दिव्य चरित्र की होती है। इसी विश्वास पर धर्म टिका हुआ है और जो लोग इस प्रकार का विश्वास नहीं करते, वे नास्तिक कहलाते हैं। यह शक्ति साकार भी हो सकती है और निराकार भी।
2. **पवित्रता की धारणा** (Concept of Sacredness)–जिस धर्म को लोग मानते हैं, उनकी दृष्टि में उस धर्म से संबंधित सब कुछ पवित्र होता है। दुर्खीम ने धर्म में पवित्रता पर बल देते हुए लिखा है कि धर्म पवित्र वस्तुओं से संबंधित विश्वासों और आचरणों की वह समग्र व्यवस्था है जो इस पर विश्वास करने वालों को एक नैतिक समुदाय में संयुक्त करती है।''
3. **प्रार्थना, पूजा या आराधना** (Prayer, Worship or Conciliation)–धर्म में लोग जिस शक्ति पर विश्वास करते हैं, उससे लाभ उठाने व उसके कोप से बचने हेतु प्रार्थना, पूजा तथा आराधना करते हैं। हर धर्म के देवालय व विधियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं।
4. **संवेगात्मक भावनाएँ** (Emotional Feelings)–धर्म भावना-प्रधान होता है, तर्क-प्रधान नहीं। अलौकिक शक्ति के प्रति संवेगात्मक भावनाएँ होती हैं जिनकी अभिव्यक्ति उस शक्ति के प्रति श्रद्धा, भय, प्रेम आदि के रूप में की जाती है।
5. **विशेष धार्मिक सामग्री और प्रतीक** (Particular Religious Objects and Symbols)–धार्मिक क्रियाओं में अलग-अलग धर्म में अलग-अलग धार्मिक सामग्रियों (Religious objects), धार्मिक प्रतीकों (Religious symbols), जादू-टोनों, पौराणिक कथाओं आदि का समावेश होता है, जैसे हिंदू धर्म में हवन, पूजा-आरती, केले, पीपल आदि की पूजा व गंगाजल और तीर्थ स्थानों का विशेष महत्त्व है तो ईसाई धर्म में बाइबिल, क्रॉस, मोमबत्ती आदि का। इसी प्रकार अन्य प्रतीकों या कुछ भौतिक वस्तुओं का समावेश भी धर्म के अंतर्गत होता है।
6. **निषेध** (Taboos)–प्रत्येक धर्म में लोगों के व्यवहारों के नकारात्मक पक्ष को प्रभावित करने की दृष्टि से कुछ निषेध पाए जाते हैं। निषेध का तात्पर्य यही है कि उन्हें कुछ कार्यों की मनाही की जाती है, उन्हें बताया जाता है कि क्या-क्या नहीं करना चाहिए, जैसे झूठ नहीं बोलना चाहिए, दुराचार, व्याभिचार, बेईमानी आदि नहीं करनी चाहिए। कुछ निषेध सभी धर्मों में समान रूप से पाए जाते है। जबकि कुछ विशेष समाजों से ही संबंधित होते हैं। विवाह संबंधी निषेध प्रत्येक समाज में अलग-अलग पाए जाते हैं।
7. **धार्मिक संस्तरण** (Religious Hierarchy)–सामन्यत: प्रत्येक धर्म से संबंधित संस्तरण की एक व्यवस्था पाई जाती है। जिन लोगों को धार्मिक क्रियाएँ अथवा कर्मकांड कराने का समाज द्वारा विशेष अधिकार प्राप्त होता है, उन्हें अन्य लोगों की तुलना में संस्कारात्मक दृष्टि से उच्च एवं पवित्र समझा जाता है। ऐसे लोगों में पंडे, पुजारी, महंत-संत, पादरी, मौलवी, ओझा आदि आते हैं। संस्तरण की प्रणाली में दूसरा स्थान उन लोगों को प्राप्त होता है जो धर्म के अंतर्गत बताए गए मार्ग पर चलते हैं। जो लोग धार्मिक आदेशों का पालन नहीं करते, धर्म-विरुद्ध कार्य करते है। अथवा अपवित्रता लाने वाली वस्तुओं के संपर्क में आते हैं, उन्हें समाज में निम्नतम स्थान प्राप्त होता है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

दिए गए कथन में सही (✓) और गलत (✗) छाँटिए–

1. मार्क्स धर्म को 'अफ़ीम' मानता है। ☐
2. जॉनसन के अनुसार–'धर्म आध्यात्मिक शक्ति में विश्वास है।' ☐
3. 'धर्म भावना प्रधान होता है, तर्क प्रधान नहीं'। ☐
4. ईसाई धर्म में बाइबिल, क्रॉस, मोमबत्ती आदि का विशेष महत्त्व है। ☐

13.3 पूर्व-आधुनिक समाजों में धर्म का उद्‌भव (Origin of Religion in Pre-Modern Societies)

नोट

मनुष्य के मन में यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठा कि आखिर इस धर्म जैसी जटिल संस्था का जन्म कैसे हुआ। वे कौन-सी परिस्थितियाँ, दशाएँ एवं कारक थे जिन्होंने धर्म जैसी संस्था को जन्म देने में सहायता प्रदान की। टेलर ने धर्म का प्रारंभिक रूप आत्मा में विश्वास को माना है। मैरेट जीवसत्तावाद या मानववाद में, मैक्समूलर प्राकृतिक शक्तियों में विश्वास, फ्रेजर जादू-टोनों की असफलता में एवं दुर्खीम स्वयं समाज में तथा प्रकार्यवादी धर्म के प्रकार्यों में ही धर्म की उत्पत्ति ढूँढ़ते हैं। अब हम यहाँ धर्म की उत्पत्ति के विभिन्न सिद्धांतों की विवेचना करेंगे।

13.4 आत्मावाद या जीववाद (Animism)

आदिम धर्म के बारे में सर्वप्रथम सिद्धांत अंग्रेज मानवशास्त्री **टेलर** ने प्रस्तुत किया। आपने धर्म के उद्‌गम को खोजा और उसकी विस्तृत व्याख्या ही नहीं की वरन् उसका जादू एवं विज्ञान से भेद भी बताया। हरबर्ट स्पेंसर भी इस मत के समर्थक थे। टेलर ने कहा कि ऊपरी तौर पर तो हमें धर्मों की बहुलता एवं उनमें अंतर देखने को मिलते हैं पर मूल रूप में वे सभी एक ही विचार पर आधारित हैं और वह है 'आत्मा' या 'जीव' में विश्वास। आत्मा को आपने आदिम मनुष्यों से लेकर सभ्य मनुष्यों तक के धर्म का आधार माना। इसीलिए उनके सिद्धांत को आत्मावाद या जीववाद के नाम से पुकारा जाता है। उन्होंने मानवशास्त्रीय शब्दकोश को एक नया शब्द 'आत्मावाद' दिया।

टास्क वर्तमान समय में धर्म की प्रासंगिकता पर विचार कीजिए।

आत्मावाद को आप दो भागों में बाँटते हैं–प्रथम, आत्मा का सिद्धांत जिसके अनुसार यह विश्वास किया जाता है कि मनुष्यों में 'आत्माएँ' होती हैं जो कि उनकी मृत्यु के बाद भी शेष रहती हैं; द्वितीय, प्रेतों का सिद्धांत जिसके अनुसार ऐसी आत्माओं को भी स्वीकार किया गया है जो मनुष्यों की आत्माओं से पृथक् हैं, वे दैवी आत्माएँ हैं। इस प्रकार आत्माएँ प्रेतात्माओं से लेकर शक्तिशाली प्राणियों तक की होती हैं, जो अमर हैं तथा सांसारिक घटनाओं एवं मानव जीवन को नियंत्रित एवं निर्देशित करती हैं। यही कारण है कि मनुष्य इन आत्माओं से डरने लगता है और उन्हें भय मिश्रित श्रद्धा की दृष्टि से देखता है। इसलिए ही टेलर कहता है कि धर्म आत्मा या आध्यात्मिक शक्ति में विश्वास है। यह विश्वास उसमें दैनिक जीवन के विभिन्न अनुभवों से उत्पन्न हुआ जो कि उसने जाग्रत एवं निद्रा अवस्था में किए और जो जीवित एवं मृत अवस्था से स्पष्ट हुए। निद्रावस्था में स्वप्न के दौरान वह अपने को कई कार्यों में संलग्न देखता, अपने पूर्वजों से मिलता और ऐसे स्थान पर जाता जहाँ वह पहले कभी नहीं गया। जाग्रत अवस्था में वह अपनी परछाईं देखता, तालाबों एवं नदियों के पानी में अपना प्रतिबिंब देखता, अपनी आवाज की प्रतिध्वनि सुनता। इसी समय उसने जीवित और मृत व्यक्ति में भेद भी देखा। मनुष्य के मरने पर उसका बोलना, चलना, खाना-पीना सभी समाप्त हो जाता है, तब आदिम मानव के मन में यह विचार आया होगा कि ऐसी कोई-न-कोई शक्ति अवश्य है जिसके शरीर से निकल जाने पर वह निष्क्रिय हो जाता है। यद्यपि मृत्यु के बाद भी वह दिखाई तो जीवित की तरह ही देता है, परंतु वस्तुतः ऐसा नहीं है। इस प्रकार आदिम लोगों में उस अदृश्य वस्तु या शक्ति जिसके शरीर में रहने तक व्यक्ति जीवित रहता है और शरीर से अलग होने पर मर जाता है, के प्रति विश्वास पैदा हुआ और उसे 'आत्मा' के नाम से पुकारा गया। टेलर के अनुसार, **''आत्मा एक पतली निराकार मानव प्रतिमूर्ति, आकृति में कोहरा, चलचित्र या छाया की भाँति है।''**

इस प्रकार टेलर के मतानुसार इन अमूर्त और अभौतिक प्रेतात्माओं के प्रति भय एवं श्रद्धा ही आदिम धर्म का मूल है। ये आत्माएँ मानव के नियंत्रण से परे हैं, परंतु ये मनुष्य से संबंध बनाए रखती हैं, उसके अच्छे या बुरे कार्यों में प्रसन्न और अप्रसन्न होती हैं। इन्हें प्रसन्न रखने पर ही मनुष्य को लाभ एवं आनंद मिल सकता है। अतः

नोट

मनुष्य इनकी पूजा और आराधना करता है। इस प्रकार पूर्वज पूजा ही पूजा और आराधना का प्रारंभिक रूप तथा समाधि या कब्र ही प्रारंभिक मंदिर था।

क्या आप जानते हैं अबोध बच्चे की तरह आदिम मानव सजीव-निर्जीव में भेद नहीं कर सकता था, अत: उसने प्राकृतिक तत्वों में भी आत्मा की कल्पना की।

अनेक आत्माओं में विश्वास ने बहुदेववाद को जन्म दिया और धीरे-धीरे वह एकदेववाद में विकसित हुआ तथा यह धारणा बनी कि सारी दुनिया एक ही महान् आत्मा या विश्व-आत्मा (Anima mundi or world soul) द्वारा संचालित होती है।

समालोचना (Criticism)

इस सिद्धांत की एंड्रयूलैग, मैरेट, जेवेन्स आदि ने निम्नलिखित आलोचनाएँ कीं–

1. समस्त सिद्धांत को देखने से ज्ञात होता है कि टेलर ने आदिम मानव को तर्कशील व दार्शनिक व्यक्ति के रूप में प्रस्तुत किया है जो कि वह कभी नहीं था और जिस व्यवस्थित क्रम में उसने इस सिद्धांत को रखा, ऐसा आदिमानव तो क्या आधुनिक मानव भी नहीं कर सकता।
2. टेलर ने धर्म की उत्पत्ति को अति सीधे एवं सरल रूप में प्रस्तुत किया है। केवल परछाईं, प्रतिध्वनि, स्वप्न एवं मृत्यु के अनुभवों ने ही धर्म जैसी जटिल संस्था को जन्म दिया होगा, ऐसा नहीं माना जा सकता।
3. धर्म एक सामाजिक तथ्य है, अत: इसकी उत्पत्ति में सामाजिक कारकों का भी हाथ रहा है, केवल आत्मा में विश्वास से ही धर्म की उत्पत्ति स्वीकार करना सामाजिक तथ्यों की अवहेलना है।

उपर्युक्त आलोचनाओं के बावजूद भी टेलर के सिद्धांत का इस दृष्टि से महत्त्व है कि आपने ही सर्वप्रथम धर्म की परिभाषा देकर उसे व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया जिसने बाद में मानवशास्त्रियों के लिए इस क्षेत्र के अध्ययन का मार्ग खोल दिया।

13.5 जीवित-सत्तावाद या मानावाद (Animatism or Manaism)

कुछ मानवशास्त्रियों ने आत्मावाद से पूर्व जीवित-सत्तावाद का अस्तित्व स्वीकार किया है। इस सिद्धांत की मान्यता है कि प्रत्येक वस्तु में चाहे वह जड़ हो या चेतन जीवित सत्ता होती है जो कि अलौकिक है। इस सत्ता में विश्वास और उसकी आराधना एवं पूजा से ही धर्म की उत्पत्ति हुई। इस मत को प्रारंभ में **मैक्समूलर** (Maxmular) एवं **प्रीउस** (Preuss) ने प्रस्तुत किया। **कॉडरिंगटन** (Codrington) एवं **मैरेट** (Marett) ने इसे एक विशेष प्रकार से प्रस्तुत किया जो मानावाद (Manaism) के नाम से जाना जाता है। मेलेनेशिया के लोग अलौकिक शक्ति को **'माना'** के नाम से पुकारते हैं। इसी कारण मैरेट ने अपने सिद्धांत को मानावाद का नाम दिया। मलेनेशिया की जनजातियों में यह विश्वास है कि किसी भी कार्य की सफलता या असफलता माना की शक्ति पर निर्भर है। यदि कोई अधिक बुद्धिमान या शक्तिशाली है तो इसका कारण उसमें माना की शक्ति की अधिकता है। युद्ध में विजय, शिकार में सफलता और मछलियों का अधिक पकड़ पाना भी 'माना' की शक्ति के कारण ही है। कोई तलवार युद्ध में अधिक लोगों को मारती है या कोई नाव अन्य नावों को रफ्तार में पीछे छोड़ देती है, कोई गीत रोगियों को ठीक कर देता है, किसी तावीज से आपत्ति टल जाती है तो इसका अर्थ है कि उस तलवार, नाव, गीत एवं ताबीज में माना की शक्ति पूरे वेग से है। भारतीय जनजातियों में भी मजूमदार ने 'माना' जैसी शक्तियों का उल्लेख किया है। 'हो' लोगों में **बोंगा** (Bonga) की अवधारणा, उत्तरी अमरीका की जनजातियों में **ओरेंडा** और दूसरे स्थानों पर **'एरॉन'** एवं **'बकुआ'** की अवधारणा भी मैरेट के इस सिद्धांत के अंतर्गत ही आती है।

नोट

माना की परिभाषा करते हुए **कॉडरिंगटन** लिखते हैं, **''माना एक शक्ति है जो भौतिक या शारीरिक शक्ति से सर्वथा भिन्न है, यह भले और बुरे सभी रूपों में कार्य करती है और इस पर आधिपत्य या नियंत्रण पाना लाभदायक है..... यह अलौकिक इस अर्थ में है कि यह सब चीजों पर प्रभाव डालने के लिए जिस रूप में कार्य करती है, वह मनुष्यों की साधारण शक्ति से परे है और प्रकृति की साधारण प्रक्रियाओं से बाहर है।'' लोवी कहते हैं कि माना विद्युत्-धारा की तरह व्यक्ति एवं वस्तुओं को प्रभावित करती है और एक-दूसरे में आ-जा सकती है, किसी कार्य में सफलता 'माना' के कारण एवं असफलता इसकी अनुपस्थिति के कारण ही मिलती है। मैरेट** ने अपने अध्ययन द्वारा यह निष्कर्ष निकाला है कि **'माना' एक अवैयक्तिक, अशारीरिक और अलौकिक शक्ति है जो अच्छे और बुरे दोनों रूपों में मनुष्य को प्रभावित करती है।** आदि मानव में ऐसी शक्ति के प्रति भय-मिश्रित श्रद्धा पैदा हुई। वह उसके सामने झुका, नतमस्तक हो गया और जीवन में सफलता पाने तथा बुरे प्रभावों से बचने के लिए उस शक्ति की पूजा, प्रार्थना एवं आराधना करने लगा और यहीं से धर्म का जन्म हुआ।

आलोचना (Criticism)

आत्मावाद की तरह मानावाद भी पूरी तरह स्वीकार नहीं किया गया और इसकी विभिन्न विद्वानों ने निम्नलिखित आलोचनाएँ की हैं–

1. इस सिद्धांत में इस बात का कहीं उल्लेख नहीं है कि माना की अवधारणा का जन्म कैसे हुआ, क्या आदिम मानव इतना कल्पनाशील व दार्शनिक था कि बिना किसी आधार के ही उसने अलौकिक शक्ति की धारणा को जन्म दिया।
2. धर्म एक सामाजिक तथ्य है, अत: उसकी उत्पत्ति के लिए सामाजिक कारक भी उत्तरदायी हैं, परंतु इस सिद्धांत में समाज के महत्त्व को स्वीकार नहीं किया गया है।
3. आदिम जातियों में धर्म एवं जादू से संबंधित अनेक विश्वास पाए जाते हैं और उन सभी को मानावाद के आधार पर नहीं समझा जा सकता।
4. इस सिद्धांत में अशरीरी और अलौकिक शक्ति को स्पष्टत: परिभाषित नहीं किया गया है।
5. दुर्खीम का मत है कि धर्म का संबंध पवित्र वसतुओं से है, मानावाद में पवित्र एवं अपवित्र में भेद नहीं किया गया है।

13.6 प्रकृतिवाद (Naturalism)

मैक्समूलर का प्रकृतिवाद, जीवित सत्तावाद का ही एक रूप है। मैक्समूलर जर्मन विद्वान थे जो संस्कृत एवं अन्य भाषाओं के सुविज्ञ थे। उन्होंने धर्म की उत्पत्ति को प्राकृतिक शक्तियों एवं घटनाओं की पूजा में ढूँढ़ा। इसके लिए उन्होंने भारतीय एवं यूरोपीय पौराणिक कथाओं का सहारा लिया। इन पौराणिक कथाओं में सौरमंडल और तारामंडल से संबंधित अनेक कथाएँ हैं जो आकाशीय पिंड को सजीव के रूप में चित्रित करती हैं। वेदों में भी सूर्य, चंद्र एवं तारों से संबंधित गाथाएँ हैं जिनको पढ़ने पर ज्ञात होता है कि जैसे वे जीवित प्राणियों की कथाएँ हों। आदिम मानव प्रकृति और आकाशीय पिंडों से प्रभावित हुआ तथा उसमें उनके प्रति भय और प्रेम भी पैदा हुआ। मैक्समूलर के इस सिद्धांत को मिस्र एवं अन्य स्थानों पर होने वाली पुरातत्व खुदाइयों से भी बल मिला। मिस्र में 'रा' अर्थात् सूर्य को सबसे बड़ा देवता माना गया। भारत में भी सूर्य, चंद्र, वायु, अग्नि, वर्षा आदि प्राकृतिक वस्तुओं की पूजा की जाती रही है। प्राकृतिक शक्तियों से आदिम मानव के मन में भय, प्रेम, आश्चर्य एवं आतंक की भावना पैदा हुई होगी जब उसने देखा कि वर्षा की अधिकता और कमी उसके लहलहाते खेतों को नष्ट कर देती है, समुद्री तूफान उसकी नाव को डुबा देता है तथा आंधी उसकी झोपड़ी को उड़ा ले जाती है। उसने सोचा होगा कि इन प्राकृतिक वस्तुओं में अवश्य ही कोई शक्तिशाली वस्तु निवास करती है जो इनका संचालन, नियंत्रण और निर्देशन करती है। अत: उसने इन प्राकृतिक वस्तुओं को जानदार समझा। प्राकृतिक वस्तुओं को जानदार समझना ऐसे रुग्ण मस्तिष्क की देन है जो सजीव और निर्जीव में भेद नहीं कर सका। मस्तिष्क की

नोट

यह गलती त्रुटिपूर्ण भाषा के कारण पैदा हुई। जैसे अक्सर कहा जाता है कि सूर्योदय या सूर्यास्त हो रहा है, वर्षा हो रही है, पेड़ फल और फूल पैदा करते हैं, आँधी आ रही है। भाषा की त्रुटियों से यह विश्वास पैदा हुआ कि मानो सूर्य, वर्षा, आँधी और पेड़ों में कोई शक्ति निहित हो। प्रकृति की असीम विशालता एवं शक्ति के सम्मुख जब मनुष्य नतमस्तक होता है तो धर्म की उत्पत्ति होती है। मैक्समूलर का सिद्धांत एक लंबे समय तक अस्तित्व में रहा। प्राचीन समय से ही प्राकृतिक पदार्थों एवं शक्तियों की पूजा लगभग सभी देशों में देखने को मिलती है, लेकिन इस आधार पर धर्म की उत्पत्ति ढूँढ़ने पर अनेक कठिनाइयाँ पैदा होती हैं, इसलिए ही मैक्समूलर के प्रकृतिवाद की विभिन्न विद्वानों ने आलोचना की है।

आलोचना (Criticism)

1. एण्ड्रयूलैग कहते हैं कि त्रुटिपूर्ण भाषा के आधार पर धर्म की उत्पत्ति एक संकुचित व्याख्या है। केवल प्रकृति पूजा से ही धर्म की उत्पत्ति बताना उचित नहीं।
2. दोषपूर्ण भाषा के प्रयोग से प्राकृतिक पदार्थों को सजीव समझने की बात को सिद्ध करने के लिए कोई प्रमाण नहीं है।
3. धर्म एक सामाजिक संस्था है, मैक्समूलर ने धर्म की उत्पत्ति में कहीं भी सामाजिक कारकों को महत्त्व नहीं दिया। इस सिद्धांत में अनुमान और कल्पना पर ही अधिक ज़ोर दिया गया है।

13.7 तत्वपरक और बहुदेववाद (Metaphysical and Pluralism)

एक तत्वपरक और बहुवादी धर्म में प्रमुखत: यह अंतर किया गया है कि जहाँ तत्वपरक धर्म में केवल एक ईश्वर की सत्ता को स्वीकार किया गया है, वहाँ बहुवादी धर्म में एक के स्थान पर अनेक की सत्ता में विश्वास किया गया है। इस्लाम एक तत्वपरक धर्म का उदाहरण है जहाँ एकमात्र अल्लाह को ही सर्वशक्तिमान माना गया है। यदि हम वेद तथा उपनिषद् की दृष्टि से धर्म पर विचार करें तो उस समय का वैदिक धर्म एक तत्वपरक धर्म ही था। वेदों तथा उपनिषदों में मात्र एक ईश्वर को ही सर्वोपरि मानकर उसकी सत्ता में विश्वास किया गया है। बाद के काल में यहाँ अनेक देवी-देवताओं की सत्ता को स्वीकार किया गया जैसे ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि। लेकिन मूल रूप से देखा जाए तो ये सब भी सर्वशक्तिमान ईश्वर के अलग-अलग रूप ही थे जिनको भिन्न-भिन्न कार्य सौंपे गए थे। जैन धर्म को हम एक बहुवादी धर्म के उदाहरण के रूप में ले सकते हैं जहाँ चौबीस तीर्थंकर हुए हैं जिनमें अंतिम तीर्थंकर महावीर स्वामी थे। हिंदू धर्म यद्यपि अपने मूल रूप में एक तत्वपरक धर्म रहा है लेकिन कालांतर में पौराणिक धर्म बहुवादी धर्म बन गया जब शिव-पार्वती, नव दुर्गा, गणपति, ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि की उपासना की जाने लगी। मूलत: हम कह सकते हैं कि सैद्धांतिक रूप में हिंदू धर्म में एक ही ईश्वर में विश्वास किया जाता रहा है और उसी की सत्ता सर्वत्र व्याप्त मानी गई है, परंतु व्यावहारिक रूप में यहाँ अनेक सत्ताओं (देवी देवताओं) की उपासना की जाती रही है जो बहुवादी धर्म के रूप में प्रकट हुई है। ईसाई धर्म भी एक तत्वपरक धर्म का ही उदाहरण है।

नोट्स इस्लाम एकेश्वरवाद में विश्वास करता है। इस्लाम में एक 'अल्लाह' को ही सर्वशक्तिमान माना गया है।

13.8 धर्म, संप्रदाय, पंथ तथा सम्मोहन (Religion, Sect, Cult and Hypnotism)

धर्म की विवेचना पहले हम इसी अध्याय में कर चुके हैं। धर्म जीवन की एक वास्तविकता है जो व्यक्ति को अनेक रूपों में प्रभावित करता है।

नोट

संप्रदाय–धर्म के क्षेत्र में अनेक महापुरुष, साधु-संत पीर-पैगंबर आदि हुए हैं जिन्होंने ईश्वर प्राप्ति का अपने-अपने तरीके से प्रयत्न किया है। इसी आधार पर धर्म के अंतर्गत अनेक संप्रदाय बन गए। जैसे वेदांत के अंतर्गत अद्वैतवादी संप्रदाय बन गया, द्वैतवादी संप्रदाय बन गया। मुसलमानों में शिया तथा सुन्नी संप्रदाय बन गए। इसी प्रकार ईसाई धर्म में कैथोलिक व प्रोटेस्टैंट संप्रदाय बन गए। जैन धर्म में भी हमें दिगंबर और श्वेतांबर दो संप्रदाय देखने को मिलते हैं।

पंथ–संप्रदाय के अतिरिक्त धर्मों के अंतर्गत पंथों का भी निर्माण हुआ। पंथ एक प्रकार का मार्ग या रास्ता है जिस पर चलकर व्यक्ति अपनी धार्मिक मान्यताओं के अनुरूप आध्यात्म संबंधी कुछ अनुभूति करना चाहता है। ईश्वर की भक्ति पूजा या प्रार्थना करता है या अपने आराध्य देव को भजता है। साधारणतया पंथ का तात्पर्य बिना दीक्षा दिए किसी मार्ग या पंथ का अनुकरण करने से होता है। उदाहरण के रूप में कबीर पंथ, दाइ पंथ, खालसा पंथ आदि पाए जाते हैं।

सम्मोहन–वास्तव में चित्त की एक विशेष स्थिति है जिसमें हम किसी पर सत्ता से प्रभावित या आवृत्त होते हैं तथा उस आवरण को स्वीकार नहीं करते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि सम्मोहन की स्थिति में व्यक्ति दूसरों से प्रभावित होकर कार्य करता है, परंतु वह इस बात को स्वीकार नहीं करता है। उदाहरण के रूप में व्यक्ति गुरु से दीक्षा लेता है, गुरु उसे प्रभावित करता है और ये प्रभावित करने की प्रक्रिया सम्मोहन के रूप में चलती है परंतु व्यक्ति काम करते हुए उसकी सत्ता को स्वीकार नहीं करता और समझता है मैं ही सब कुछ कर रहा हूँ। पीर-पैगंबर, संत, महंत आदि के पास सम्मोहन की विशेष शक्ति रहती है जिसका वे अनुयायियों पर प्रयोग कर रहे हैं।

13.9 सारांश (Summary)

- धर्म मानव समाज का ऐसा व्यापक, स्थायी एवं शाश्वत तत्व है जिसको सम्यक् रूप से समझे बिना हम समाज के रूप को समझने में असफल रहेंगे। कई समाज या तो धर्मनिरपेक्ष हो गए हैं या धर्म में रुचि नहीं रखते एवं धार्मिक विश्वासों की वैधता को स्वीकार नहीं करते। फिर भी धर्म आज भी एक सार्वभौमिक तथ्य बना हुआ है। धर्म का अर्थ है 'धारण करना' अर्थात् सभी जीवों के प्रति मन में दया धारण करने को ही धर्म कहा गया है। हिंदू धर्म-ग्रंथों में तामस एवं राजस गुणों के स्थान पर सात्विक गुणों को धारण करने को ही धर्म माना गया है। जॉनसन का कथन है कि ''एक अलौकिक शक्ति में विश्वास धर्म का सबसे प्रमुख तत्व है।''
- आदिम लोगों में उस अदृश्य वस्तु या शक्ति जिसके शरीर में रहने तक व्यक्ति जीवित रहता है और शरीर से अलग होने पर मर जाता है, के प्रति विश्वास पैदा हुआ और उसे 'आत्मा' के नाम से पुकारा गया।
- अबोध बच्चे की तरह आदिम मानव सजीव-निर्जीव में भेद नहीं कर सकता था, अत: उसने प्राकृतिक तत्वों में भी आत्मा की कल्पना की। अनेक आत्माओं में विश्वास ने बहुदेववाद को जन्म दिया और धीरे-धीरे वह एकदेववाद में विकसित हुआ तथा यह धारणा बनी कि सारी दुनिया एक ही महान् आत्मा या विश्व-आत्मा द्वारा संचालित होती है। आदि मानव में ऐसी शक्ति के प्रति भय-मिश्रित श्रद्धा पैदा हुई। वह उसके सामने झुका, नतमस्तक हो गया और जीवन में सफलता पाने तथा बुरे प्रभावों से बचने के लिए उस शक्ति की पूजा, प्रार्थना एवं आराधना करने लगा और यहीं से धर्म का जन्म हुआ।
- धर्म एक सामाजिक संस्था है, मैक्समूलर ने धर्म की उत्पत्ति में कहीं भी सामाजिक कारकों को महत्त्व नहीं दिया। इस सिद्धांत में अनुमान और कल्पना पर ही अधिक ज़ोर दिया गया है। एक तत्वपरक और बहुवादी धर्म में प्रमुखत: यह अंतर किया गया है कि जहाँ तत्वपरक धर्म में केवल एक ईश्वर की सत्ता को स्वीकार किया गया है, वहाँ बहुवादी धर्म में एक के स्थान पर अनेक की सत्ता में विश्वास किया गया है। इस्लाम एक तत्वपरक धर्म का उदाहरण है जहाँ एकमात्र अल्लाह को ही सर्वशक्तिमान माना गया है।

नोट

- सैद्धांतिक रूप में हिंदू धर्म में एक ही ईश्वर में विश्वास किया जाता रहा है और उसी की सत्ता सर्वत्र व्याप्त मानी गई है, परंतु व्यावहारिक रूप में यहाँ अनेक सत्ताओं (देवी देवताओं) की उपासना की जाती रही है जो बहुवादी धर्म के रूप में प्रकट हुई है। ईसाई धर्म भी एक तत्वपरक धर्म का ही उदाहरण है।

13.10 शब्दकोश (Keywords)

1. **निराकार**–जिसका कोई आकार न हो, आकार रहित
2. **सम्मोहन**–मुग्ध करना (जैसे रूप का सम्मोहन)

13.11 अभ्यास-प्रश्न (Review Question)

1. धर्म का अर्थ स्पष्ट करते हुए विभिन्न विचारकों द्वारा दी गई धर्म की परिभाषाओं का उल्लेख कीजिए।
2. धर्म के उद्‌भव पर प्रकाश डालिए।
3. 'मानववाद' पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
4. प्रकृतिवाद से आप क्या समझते हैं?

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer : Self Assessment)

1. 1. (✓) 2. (✗) 3. (✓) 4. (✓)

13.12 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. फंडामेंटल्स ऑफ़ सोश्योलॉजी–*गिसबर्ट, पास्कल 2006, ओरिएंट लॉंग्मैन।*
2. डायनमिक्स ऑफ सोशल इंस्टीट्यूशंस–*अज़हर शेख़, सब्लाइम पब्लिकेशंस, 2008.*
3. इंडियन सोसाइटी एंड सोशल इंस्टीट्यूशंस–*(2 वॉल्यूम्स सेट) एन. जयापालन, एटलांटिक।*

नोट

इकाई–14 : आधुनिक समाज में धर्म (Religion in Modern Society)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)
प्रस्तावना (Introduction)
14.1 धर्म एवं विज्ञान (Religion and Science)
14.2 धर्म की सामाजिक अनुपयोगिता (हानियाँ) (Social Unusefulness (Demerits) of Religion)
14.3 धर्म की आधुनिक प्रवृत्तियाँ (Recent Trends in Religion)
14.4 धार्मिक संस्थाओं में परिवर्तन के कारण (Causes of Change in Religious Institutions)
14.5 धार्मिक रूढ़िवाद का अर्थ (Meaning of Religious Fundamentalism)
14.6 धार्मिक पुनरुत्थान में समाज-सुधार आंदोलनों की भूमिका (Role of Social Reform Movements in Regligious Revivalism)
14.7 धार्मिक एवं लौकिक प्रभाव (Religious and Secular Effect)
14.8 धर्मनिरपेक्षता के आवश्यक तत्व (Essential Elements of Secularism)
14.9 धर्मनिरपेक्ष समाज की प्रमुख विशेषताएँ (Major Characteristics of Secular Society)
14.10 धर्मनिरपेक्षता (Secularism)
14.11 सारांश (Summary)
14.12 शब्दकोश (Keywords)
14.13 अभ्यास-प्रश्न (Review Question)
14.14 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात विद्यार्थी योग्य होंगे–

- धर्म एवं विज्ञान को समझने में।
- धर्म की प्रवृत्तियों एवं उसकी अनुपयोगिता को समझने में।
- धार्मिक संस्थाओं में परिवर्तन को समझने में।
- धर्मनिरपेक्षता के आवश्यक तत्त्व एवं उसकी विशेषताओं को समझने में।

प्रस्तावना (Introduction)

धर्म एवं विज्ञान दोनों मानव जीवन का अभिन्न अंग हैं और दोनों का प्रयोग हम अपनी आवश्यकतानुसार करते हैं। आधुनिक युग में जैसे-जैसे विज्ञान ने प्रगति की है वैसे ही समाज में धर्म का प्रभाव शिथिल हुआ है।

नोट

आस्तिकता और नास्तिकता में संघर्ष बढ़ा है। ज्ञात और अज्ञात की सीमा रेखा बनती बिगड़ती रही है। अंधविश्वास जो धर्म के सहारे समाज को मज़बूती से जकड़े हुए था, विज्ञान ने उसे सर्वस्व झकझोर दिया है। आस्था अब अटूट नहीं रही, उसमें तर्क बुद्धि का समावेश हुआ है। किंतु यदि यह माना जाए कि धर्म पराजित हुआ है तो यह सर्वथा अनुचित होगा। धर्म का प्रभाव आज भी बना हुआ है।

14.1 धर्म एवं विज्ञान (Religion and Science)

धर्म एवं विज्ञान का मानव जीवन से घनिष्ठ संबंध है। दोनों ही संस्कृति के अभिन्न अंग हैं और दोनों का ही प्रयोग मानव आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किया जाता रहा है, किंतु जहाँ धर्म ईश्वर और पारलौकिक शक्ति के सहारे मानवीय समस्याओं का समाधान खोजता है, वहीं विज्ञान वास्तविकता के आधार पर कार्य एवं कारण के सहारे समस्याओं का तार्किक हल प्रस्तुत करता है। धर्म के बारे में हम पिछले पृष्ठों में विस्तार से विवेचन कर चुके हैं। धर्म एवं विज्ञान में संबंध तथा भेद जानने से पूर्व यहाँ विज्ञान का अर्थ जान लेना आवश्यक है। विज्ञान से तात्पर्य अध्ययन के एक उपागम से है। **प्रो. डेविस** लिखते हैं, ''विज्ञान संस्कृति का वह भाग है जो प्रकृति के व्यवस्थित ज्ञान का प्रतिनिधित्व करता है।'' विज्ञान में तथ्यों का अवलोकन एवं संकलन किया जाता है, उनका वर्गीकरण, परीक्षण एवं सत्यापन किया जाता है, कार्यकारण के संबंधों के आधार पर निष्कर्ष प्राप्त किए जाते हैं और सिद्धांतों का प्रतिपादन किया जाता है। वैज्ञानिक क्रिया का अंतिम परिणाम सत्य है। विज्ञान वास्तविकताओं के आधार पर ही भविष्यवाणी करता है।

वर्तमान युग में विज्ञान का महत्त्व बढ़ा है और धर्म का प्रभाव कम हुआ है। आदिम एवं ग्रामीण समाजों में धर्म का प्रभाव अधिक पाया जाता है, जबकि आधुनिक एवं विकसित समाजों में विज्ञान का। ईवान्स प्रिचार्ड और टेलर का मत है कि यद्यपि सभी संस्कृतियों में धर्म एवं विज्ञान पाए जाते हैं, किंतु अविकसित एवं निम्न संस्कृतियों में धर्म का महत्त्व अधिक होता है, जबकि विकसित और उच्च संस्कृतियों में विज्ञान का। मानव ज्यों-ज्यों सांस्कृतिक विकास करता है त्यों-त्यों वह विज्ञान का अधिक सहारा लेने लगता है। विज्ञान ने मानव को धार्मिक रूढ़ियाँ एवं अंधविश्वासों से मुक्ति दिलाई है, ज्ञान के द्वार खोले हैं, प्रकृति के रहस्यों को खोजने में सहायता की है। विज्ञान के कारण ही आज मानव ने चाँद पर विजय प्राप्त की है, समय और दूरी पर विजय पाई है, असाध्य रोगों की चिकित्सा कर मानव की आयु में वृद्धि की है। मशीनों के आविष्कार द्वारा ही मानव उत्पादन बढ़ाने एवं नवीन उद्योगों की स्थापना करने में समर्थ हुआ। इस प्रकार विज्ञान ने मानव सुख में वृद्धि की है यद्यपि विज्ञान के अनेक दुष्परिणाम भी हैं।

धर्म एवं विज्ञान में कई बार हमें संघर्ष दिखाई देता है। जो लोग यह मानते हैं कि धर्म एवं विज्ञान में कोई संघर्ष नहीं है उनका मत है कि धार्मिक विश्वास इंद्रियों से परे एक विश्व की ओर संकेत करते हैं। यदि इन विश्वासों को वैज्ञानिक आधारों पर प्रमाणित नहीं किया जा सकता है तो उनको हम अप्रमाणित भी नहीं कर सकते। धर्म का संबंध अतीत के कारणों से है, जबकि विज्ञान का तात्कालिक कारणों से। एक वैज्ञानिक भगवान् में विश्वास करके भी एक अच्छा वैज्ञानिक बना रह सकता है। वैज्ञानिक का अपनी प्रयोगशाला में वैज्ञानिक की तरह ही व्यवहार हो सकता है। साथ ही वह मंदिर, मस्जिद व गुरुद्वारे में धार्मिक परिस्थितियों के अनुसार आचरण कर सकता है। दोनों स्थानों पर उसके व्यवहार में कोई असंगति नहीं होगी।

किंतु कई बार ऐसा भी देखने को मिलता है कि कई वैज्ञानिक नास्तिक थे और धर्म से उनका कड़ा संघर्ष चलता रहा। इस प्रकार के संघर्ष का कारण यह रहा कि ज्ञात और अज्ञात की सीमा-रेखा बनती-बिगड़ती रही है। कल जो बात अज्ञात थी आज वह ज्ञात हो गई। उदाहरण के लिए, कुछ समय पूर्व तक मानव, पृथ्वी और जीवों की उत्पत्ति ज्ञात नहीं थी तो धर्म ने उनकी उत्पत्ति की व्याख्या की और कमी को पूरा किया। धर्म द्वारा की गई अलौकिक व्याख्या को स्वीकार कर लिया गया। लेकिन वैज्ञानिक अनुसंधानों ने इनकी उत्पत्ति की व्याख्या भिन्न प्रकार से की तो धर्म और विज्ञान में संघर्ष प्रारंभ हो गया। यदि वैज्ञानिक धार्मिक व्याख्या को मानते हैं, तो वे विज्ञान के प्रति निष्ठावान नहीं कहे जा सकते, किंतु वैज्ञानिक ऐसे व्यक्तियों के बीच रहता है जो वैज्ञानिक नहीं हैं, जो धार्मिक, अंधविश्वासों एवं रुढ़िवादी हैं। ऐसी स्थिति में वैज्ञानिक का साधारण व्यक्ति या धार्मिक व्यक्तियों

नोट

से संघर्ष छिड़ जाता है। अत: धर्म एवं विज्ञान के बीच संघर्ष का कारण ज्ञान और अज्ञान रहा है। **डेविस** कहते हैं, ''जब तक ज्ञान तथा अज्ञान के बीच सीमा-रेखा बनती व बिगड़ती रहेगी, अथवा दूसरे शब्दों में जब तक विज्ञान का विस्तार होता रहेगा तब तक विज्ञान और धर्म के बीच संघर्ष चलता रहेगा। इस संघर्ष में कोई भी दल पराजित नहीं होगा।'' जब धार्मिक सिद्धांत पराजित हो जाते हैं तो वे ऊंचे स्तर के दर्शन व अमूर्त क्षेत्र का सहारा लेते हैं, अंधविश्वास दर्शन में परिवर्तित हो जाता है और धर्म अधिक उदार बन जाता है।

धर्म और विज्ञान में संघर्ष का एक कारण यह भी है कि धर्म कभी भी आत्मसमर्पण नहीं करता, यह आस्था और विश्वास पर टिका हुआ है। एक व्याख्या के गलत सिद्ध होने पर धर्म द्वारा दूसरी व्याख्या प्रस्तुत की जाती है, किंतु विज्ञान किसी भी सिद्धांत को पूर्ण सत्य नहीं मानता, वह उसे शंका की दृष्टि से देखता है। इसलिए ही नये सिद्धांत अस्तित्व में आते हैं, नये ज्ञान की खोज होती है और नये आविष्कार किए जाते हैं।

प्रो. डेविस का मत है कि धर्म एवं विज्ञान में उस समय तीव्र संघर्ष दिखाई देता है जब धर्म की ही वैज्ञानिक व्याख्या की जाती है। धर्म तो विश्वासों और भावनाओं पर आधारित है, अत: उसकी वैज्ञानिक व्याख्या नहीं की जा सकती। जब कोई व्यक्ति मंदिर या धार्मिक स्थानों पर पूजा व आराधना की दृष्टि से न जाकर वहाँ पर किए जाने वाले व्यवहारों की वैज्ञानिकता, अवैज्ञानिकता देखता है तो यह स्थिति धार्मिक दृष्टि से उपयुक्त नहीं कही जा सकती है। यदि जन-सामान्य धार्मिक व्यवहारों का वैज्ञानिक विश्लेषण करने पर तुल जाएँ तो धर्म की मौत हो जाएगी। इस प्रकार हम देखते हैं कि धर्म व विज्ञान में कहीं संघर्ष पाया जाता है तो कहीं ऐसा नहीं है। वे क्षेत्र जिनकी व्याख्या वैज्ञानिक आधार पर नहीं दी जा सकी है, अब भी धर्म के प्रभाव में हैं और जिनके बारे में वैज्ञानिक ज्ञान उपलब्ध हैं, वे धर्म के प्रभाव से मुक्त हो चुके हैं या हो रहे हैं। धर्म एवं विज्ञान में पाए जाने वाले भेद को हम इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं–

(1) धर्म का संबंध अलौकिक शक्ति से है, जबकि विज्ञान का लौकिक शक्तियों से। (2) धर्म कार्य एवं कारण के संबंधों पर आधारित नहीं है जबकि विज्ञान कार्य एवं कारण पर जोर देता है। (3) धर्म आस्था और विश्वास पर टिका हुआ है जबकि विज्ञान तर्क-प्रधान है। (4) धर्म भाग्यवादी और रूढ़िवादी है, वह परिवर्तन विरोधी एवं यथा-स्थिति में विश्वास करता है, जबकि विज्ञान प्रगतिशील है और परिवर्तन में विश्वास करता है। (5) धर्म का प्रभाव आदिम एवं सरल समाजों में अधिक पाया जाता है, जबकि विज्ञान का आधुनिक, जटिल एवं विकसित समाजों में (6) धर्म बहुत कुछ कल्पना पर आधारित है, किंतु विज्ञान में काल्पनिक तत्वों का कोई अस्तित्व नहीं है, यह वास्तविकता से संबंधित है। (7) धर्म में प्रयोग व परीक्षण संभव नहीं है, जबकि विज्ञान प्रयोग व परीक्षण के आधार पर ही निष्कर्ष निकालता है। (8) धर्म पवित्रता पर अधिक बल देता है, किंतु विज्ञान में पवित्रता और अपवित्रता की धारणा नहीं पाई जाती है। (9) धर्म के कोई ऐसे सर्वमान्य सिद्धांत नहीं हैं जो सभी समाजों, युगों और समयों में मान्य और सत्य हों, जबकि विज्ञान के सिद्धांत सभी कालों, स्थानों और समाजों में सत्य होते हैं। (10) धर्म के आधार पर सही भविष्यवाणी नहीं की जा सकती, जबकि विज्ञान सही भविष्यवाणी करने में समर्थ है।

14.2 धर्म की सामाजिक अनुपयोगिता (हानियाँ) (Social Unusefulness (Demerits) of Religion)

धर्म के एक संस्था होने का कारण इसका विशेष लक्षण स्थायित्व है। धर्म में परिवर्तन तो अवश्य होते हैं, लेकिन इतनी मंद गति से कि वह बदलती हुई सामाजिक, आर्थिक तथा भौतिक परिस्थितियों के साथ अनुकूलन तथा अनुरूपता स्थापित नहीं रख पाता।

स्थायित्व के कारण प्रत्येक संस्था में निहित कुछ स्वार्थ विकसित तथा स्थापित हो जाते हैं। **प्रो. डेविस** (K. Davis) ने उचित ही लिखा है कि ''जिस प्रकार अनेक औषधियाँ कभी-कभी हमारे उस रोग को बढ़ा भी देती हैं जिससे छुटकारा पाने के लिए उनका उपयोग किया गया था, उसी प्रकार धर्म कभी-कभी लाभ देने के स्थान पर अनेक मानसिक रोगों तथा सामाजिक समस्याओं में भी वृद्धि करता है।''

नोट

धर्म निम्नलिखित दृष्टि से हानिप्रद भी है–

1. **धर्म समाज के लिए अफीम है–**मार्क्स धर्म को समाज के लिए अफीम मानते हैं, एक आध्यात्मिक शराब मानते हैं जिसका प्रयोग पूँजीपति अपनी स्थिति को सुधारने के लिए क्रांति कर रहे श्रमिकों के लिए करते हैं, उन्हें धर्म के नाम पर मदहोश और बेहोश करते हैं, मीठी नींद में सुलाते हैं जिससे कि वे क्रांति न कर सकें। मार्क्स के अनुसार धर्म एक व्यर्थ की वस्तु है, मानव की प्रगति में रोड़ा है, ईश्वर, पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक, भाग्य, कर्म-फल, पुनर्जन्म आदि धर्म से संबंधित अवधारणाएँ लोगों को अपने सांसारिक कष्टों के प्रति उदासीन बना देती है, धर्म से प्रेरित व्यक्ति यथा-स्थिति को सब कुछ ईश्वर की मर्जी समझकर स्वीकार कर लेता है। इसलिए धर्म व्यक्ति को प्रगति की प्रेरणा नहीं देता। यह सामाजिक परिवर्तन के चक्र को रोकता है।
2. **धर्म सामाजिक प्रगति में बाधक–**धर्म की प्रकृति रूढ़िवादी है। धर्म आज तक अपने अनुयायियों को हजारों वर्ष पुरानी मान्यताओं, कर्मकांडों व विधि-विधानों में बाँधे हुए है। बदलती हुई परिस्थितियों के साथ धर्म की आचार-संहिता में कोई खास परिवर्तन नहीं होता और साथ-ही-साथ वह नवीन विचारधाराओं व सिद्धांतों का भी विरोधी है। इस प्रकार धर्म व्यक्ति को आगे की ओर नहीं, वरन् पीछे की ओर धकेलता है। इसीलिए तो समाज में आज तक कई कुरीतियाँ ज्यों-की-त्यों विद्यमान हैं क्योंकि धर्म का वरदहस्त उन्हें प्राप्त है।
3. **सामाजिक समस्याओं में वृद्धि–**धर्म-वस्तुस्थिति बनाए रखने का समर्थक है। जैसे स्थिति है वैसी ही बनी रहे, धर्म इस बात का सदैव समर्थन करता है। वस्तु-स्थिति बनाए रखना समाज के लिए लाभदायक है अथवा हानिकारक, इस बात से धर्म का कोई संबंध नहीं है। इसीलिए धर्म के ठेकेदारों, पंडों, पुजारियों आदि ने धर्म की आड़ में कई कुरीतियों को संरक्षण प्रदान किया। ब्राह्मणों ने समाज में अपने आप को श्रेष्ठ घोषित कर अन्य वर्णों का शोषण किया। यद्यपि बाल-विवाह, दहेज-प्रथा, विधवा पुनर्विवाह निषेध आदि समस्याओं के निवारण हेतु सरकार ने कई कानून बनाए, परंतु अंधविश्वासी लोग धार्मिक नियमों की अपेक्षा सरकारी क़ानूनों की अवहेलना करना अधिक उचित समझते हैं।
4. **तनाव, भेद-भाव एवं संघर्ष के लिए उत्तरदायी–**प्रत्येक धर्म के अनुयायी अपने धर्म को अन्य धर्मों से श्रेष्ठ समझते हैं। इस प्रकार विभिन्न धर्मावलंबी एक-दूसरे को हीन समझते हैं और धर्म के कारण उनमें आपस में गहरी खाई बन जाती है। यह धार्मिक खाई सामाजिक एकता पर कुठाराघात करती है। समय-समय पर विभिन्न सांप्रदायिक दंगे होते हैं जिनसे समाज में तनाव एवं संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। धर्म के नाम पर मानव, मानव से भेदभाव, छुआछूत व पक्षपात करता है।
5. **विज्ञान विरोधी–**धर्म का आधार अलौकिक शक्ति पर विश्वास है, जबकि विज्ञान का आधार निरीक्षण एवं प्रयोग है। इस प्रकार इन दोनों का मेल कदापि नहीं हो सकता। विज्ञान अपनी नयी-नयी खोजों व तर्क के आधार पर पुरानी चली आ रही मान्यताओं पर प्रहार करता है, जैसे–हिंदू धर्म में चंद्रमा को देवता माना जाता है, परंतु वैज्ञानिकों ने चंद्रमा पर अपने कदम रखकर यह सिद्ध कर दिया कि चंद्रमा भी पृथ्वी की भाँति एक ग्रह है जहाँ मिट्टी, पहाड़ आदि सब कुछ हैं। इस प्रकार धर्म हमें विज्ञान से दूर ले जाता है, जबकि विज्ञान अपने आविष्कारों के द्वारा तर्क के आधार पर धार्मिक विचारधाराओं को झुठलाता है।
6. **समय के साथ परिवर्तन में अक्षम–**धर्म बदलती हुई परिस्थितियों के साथ कदम-से-कदम मिलाकर चलने में असमर्थ है। इस कारण धर्म हमारे व्यावहारिक जीवन में अधिक साथ नहीं दे पाता है। क्योंकि नवीन परिस्थितियों के साथ-साथ मानव की इच्छाएँ, आवश्यकताएँ आदर्शों तथा लक्ष्यों में भी परिवर्तन हो जाता है, अतः धर्म हमारे लिए उपयोगी नहीं रह पाता। इसीलिए कई महत्त्वपूर्ण कार्यों का उत्तरदायित्व अनेक समाजसेवी संस्थाओं ने ले लिया तथा धर्म-प्रधान शिक्षा के स्थान पर अब धर्मनिरपेक्ष शिक्षा का महत्त्व बढ़ने लगा है।
7. **अकर्मण्यता को जन्म देता है–**धर्म व्यक्ति को अकर्मण्य भी बनाता है। एक तरफ तो समाज का एक बड़ा भाग बिना किसी परिश्रम के अर्थात् पण्डे, पुजारी आदि ईश्वर के नाम पर अपनी आजीविका कमाकर

नोट

जीवनयापन करते हैं तो दूसरी तरफ ऐसे विश्वासों का प्रचार कि 'जिसने चोंच दी है वह चुग्गा भी देगा', व्यक्ति को निष्क्रिय बनाते हैं। व्यक्ति धार्मिक विश्वासों के आधार पर ही बिना कर्म किए अधिक-से-अधिक प्राप्त करने की कामना रखता है।

उपर्युक्त विवेचन से ऐसा आभास होता है कि शायद विज्ञान की प्रगति व समय के झंझावातों से धर्म रूपी महान् अट्टालिका एक दिन धराशायी हो जाएगी और धर्म का अस्तित्व समाप्त हो जाएगा, परंतु हमें यह नहीं सोचना चाहिए कि मानव केवल यंत्र चालित मशीन है जो केवल तर्कों के आधार पर ही संचालित होता है, परंतु इसके विपरीत मानव भय, प्रेम, घृणा, उत्साह, दु:ख आदि कोमल भावनाओं का एक पुलिंदा भी है। इन सब भावनाओं का आधार मात्र तर्क ही नहीं है। यदि धर्म के अतार्किक पक्ष को जो आधुनिक समाज में निराधार है तथा धर्म में व्याप्त असंगतियों व कुप्रथाओं को समाप्त कर उसे एक ठोस व तार्किक आधार प्रदान करें तो धर्म हमारे जीवन में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध होगा। इसके साथ-ही-साथ यदि सभी धर्म एकाकार हो जाएँ तथा केवल एक समूह अथवा संप्रदाय तक सीमित न रहकर उदार दृष्टिकोण अपनाएँ तो संपूर्ण मानव समाज का कल्याण संभव हो सकेगा। इस प्रकार धर्म का यह नया रूप यंत्रवत् मानव जीवन में तपते हुए रेगिस्तान में वर्षा की सुखद बौछारों द्वारा प्राप्त शीतलता के समान सिद्ध होगा। अत: धर्म के सामने अब एक चुनौती है कि या तो वह अपने अतार्किक चोले को उतार फेंके व मानव कल्याण का नया चोला धारण करे अथवा समाप्त होने को तत्पर रहे।

टास्क भारतीय समाज पर धर्म के प्रभाव को आप किस रूप में देखते हें। धर्म की उपयोगिता एवं अनुपयोगिता पर अपनी राय ज़ाहिर करें।

14.3 धर्म में आधुनिक प्रवृत्तियाँ (Recent Trends in Religion)

यद्यपि धर्म रूढ़िवादी प्रकृति का तथा वस्तु-स्थिति बनाए रखने का समर्थक है, परंतु आधुनिक समाज की बदलती हुई द्रुतगामी परिस्थितियों के परिवेश में यह अपने आप को बचा नहीं पाया। फलस्वरूप धर्म में नई प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर हुईं।

1. **धार्मिक कट्टरता का कम होना** (Lessening of Religious Rigidity)–बदलते परिवेश में धार्मिक कट्टरता में कमी आई है क्योंकि नवीन परिस्थितियों में धार्मिक नियमों का पहले जितनी कठोरता से पालन करना अब संभव नहीं है, इसीलिए समाज में चली आ रही कुरीतियों में कमी आई है। अब समाज में छूआछूत व भेदभाव जैसी धारणाओं में कमी आई है। हरिजनों की जहाँ परछाई भी देखना बुरा था वहाँ अब वे सार्वजनिक स्थलों में बेरोकटोक आ-जा सकते हैं। इसी प्रकार से बाल-विवाह व सती-प्रथा की भी समाप्ति हुई है तथा विधवा पुनर्विवाह तथा अंतर्जातीय विवाह का प्रचलन हुआ है।
2. **धार्मिक कर्मकांडों का सरलीकरण** (Simplification of Religious Rites)–औद्योगीकरण व नगरीकरण के फलस्वरूप मानव जीवन का मशीनीकरण हो गया है। ऐसे व्यस्त जीवन में मानव द्वारा जटिल व आडंबरपूर्ण कर्मकांडों को करते रहना संभव नहीं है। अत: अब धर्म सरलीकरण की प्रक्रिया के दौर से गुजर रहा है। जहाँ विवाह से संबंधित धार्मिक कर्मकांडों में पहले अत्यधिक समय लगता था वहाँ अब तीन-चार घंटों में ही सब कुछ संपन्न हो जाता है।
3. **धार्मिक संकीर्णता में कमी** (Lessening of Narrowness)–प्राचीन समय में धर्म की प्रकृति अत्यंत संकीर्ण थी। सभी अपने धर्मों को श्रेष्ठ समझते तथा अन्य धर्मों को हेय दृष्टि से देखते थे। इस दृष्टिकोण के परिणामस्वरूप कभी भी दो धर्मों का आपस में मेल नहीं हुआ, परंतु वर्तमान समय में परिस्थितियाँ बदल चुकी हैं तथा सब धर्म अब एक-दूसरे को समान दृष्टि से देखने लगे हैं। यही आज के समाज की सबसे महान् उपलब्धि है।

नोट

4. **मानवतावादी धर्म का विकास** (Development of Humanitarian Religion)–मानवतावादी धर्म की कल्पना समाजशात्र के जन्मदाता ऑगस्ट कॉम्ट ने अपने 'मानवता के धर्म' के अंतर्गत की थी। कॉम्ट के अनुसार दूसरों की सेवा के लिए अधिक-से-अधिक समर्थ होना और उसके लिए शारीरिक, बौद्धिक और नैतिक उन्नति करना मानवता के धर्म का उद्देश्य है। यह धर्म हिंसात्मक कार्यों का बहिष्कार करता है। प्रेम इसका सिद्धांत है, सुव्यवस्था इसका आधार और प्रगति इसका ध्येय है। इस प्रकार विभिन्न धर्मों के होते हुए समस्त मानव समाज के लिए एक सामान्य धर्म की प्रतिस्थापना धार्मिक क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण कदम है। गाँधीजी ने भी ऐसी धर्म की कल्पना की थी।

5. **धर्म का व्यवसायीकरण** (Commercialization of Religion)–आज धर्म आजीविका का एक साधन बन गया है। आज धर्म के ठेकेदार पण्डे-पुजारी अब उतनी निष्ठापूर्वक धार्मिक क्रियाओं को संपन्न नहीं करवाते हैं जितनी पहले कराते थे। आज इनका एकमात्र ध्येय येन-केन प्रकारेण अपने जजमानों से खूब पैसा प्राप्त करना होता है। अब छोटे-से-छोटे धार्मिक कार्य के लिए अधिकाधिक दक्षिणा देना आवश्यक है। पैसा देकर कोई भी व्यक्ति उलटी-सीधी जन्म-पत्री इनसे मिलवाकर योग्य वर अथवा वधू प्राप्त कर सकता है। हम समाचार-पत्रों में नित्य ही ऐसे समाचार पढ़ सकते हैं जिसमें संतान प्राप्ति अथवा धन दुगना कमाने या नक्षत्रों की शांति हेतु लोभ देकर कई लोगों को विशेषकर औरतों को लूटा जाता है। अधिक दान-दक्षिणा देने वालों को अधिक सुविधाएँ दी जाती हैं। इस प्रकार धर्म का यह व्यवसायीकरण हमें सभी धर्मों में देखने को मिलेगा।

6. **धर्म में लौकिकीकरण** (Secularization in Religion)–**डॉ. श्रीनिवास** ने लौकिकीकरण की अवधारणा दी। उनके अनुसार लौकिकीकरण वह प्रक्रिया हैं जिसके अंतर्गत पहले हम जिस चीज को धार्मिक मानते थे, उसे अब हम धार्मिक नहीं मानते तथा साथ ही प्रत्येक स्थिति को हम तर्क के द्वारा समझने की कोशिश करते हैं। इस प्रकार जिन अनुष्ठानों, व्रतों, यात्राओं, दान-दक्षिणा आदि को पहले धार्मिक निष्ठा व स्वर्ग प्राप्ति के कारण संपन्न किया जाता था, वे अब केवल धार्मिक निष्ठा के आधार पर ही संपन्न नहीं कर दिए जाते हैं, वरन् उनके पीछे कोई तर्क अवश्य होता है, जैसे सप्ताह में एक व्रत रखना पाचन शक्ति के लिए अच्छा होता है, इसीलिए कई लोग सप्ताह में एक व्रत रखते हैं। लौकिकीकरण की धारणा के कारण ही वर्तमान में कई धार्मिक अनुष्ठानों व कर्मकांडों का प्रभाव क्षीण होता जा रहा है।

7. **धार्मिक कार्यों का अन्य संस्थाओं को हस्तांतरण** (Transfer of many Religious Functions to other Agencies)–**डेविस** के विचारानुसार संस्कृति के जटिल होने के साथ-साथ धार्मिक कार्यों का विभाजन अन्य संस्थाओं में हो जाता है। आज राज्य भी अनेक धार्मिक कार्यों में रुचि लेता है व क़ानून बनाकर उन पर नियंत्रण रखता है। राज्य के अतिरिक्त अन्य कई संस्थाओं ने कई धार्मिक कार्यों को करना प्रारंभ कर दिया है। इस प्रकार धार्मिक कार्य अब केवल धार्मिक संस्थाओं तक ही सीमित नहीं रह गए हैं। राजनीति भी अब धर्म में लिप्त है। हिंदू महासभा, जमायते इस्लामी तथा अकाली दल इसके अच्छे व प्रत्यक्ष उदाहरण हैं।

8. **धर्म तथा धार्मिक नेताओं का प्रभुत्व क्षीण होना** (Lessening of Importance of Religion and Religious Leaders)–विज्ञान की प्रगति धर्म तथा धार्मिक नेताओं की अवनति का कारण बनती जा रही है। पहले जहाँ हमारे सामाजिक जीवन व प्रतिष्ठा का आधार केवल धर्म व धार्मिक नेता थे, अब उनका स्थान दूसरों ने ले लिया है। अब धर्म के आधार पर ही केवल उच्च स्थिति नहीं प्राप्त की जा सकती है, वरन् इसके लिए वैयक्तिक गुण, धन, शिक्षा, उच्च व्यवसाय आदि भी आवश्यक हैं। इसीलिए धर्म परिवर्तन की मनोवृत्ति समाज में अधिक परिलक्षित हो रही है। इतिहास साक्षी है कि राज-पुरोहितों का सम्मान राजा से अधिक था। सम्राट भी राज-पुरोहित के सम्मान में अपना सिंहासन छोड़ देता था, परंतु अब ये समाज के अन्य सदस्यों की भाँति ही सामान्य सदस्य हैं।

9. **धर्म मनोरंजन के साधन के रूप में** (Religion as a Means of Recreation)–आज अलौकिक शक्ति में निष्ठा की प्रवृत्ति का ह्रास होता जा रहा है। आज तीर्थ-स्थलों की यात्रा उस दिव्य शक्ति से प्रेरित

नोट

होकर नहीं, वरन् मनोरंजन व चिकित्सक की सलाह पर हवा बदलने के लिए की जाती है। धार्मिक उत्सवों पर भजन-कीर्तन, भोज का अयोजन केवल मनोरंजन, एक-दूसरे से मिलने-जुलने, खुशियाँ मनाने आदि के लिए किया जाता है। अत: स्पष्ट है कि धर्म का एक अलौकिक व अभूतपूर्व शक्ति के रूप में महत्त्व क्षीण होता जा रहा है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

दिए गए कथन के आधार पर सही (✓) और गलत (✗) का निशान लगाइए–

1. धर्म और विज्ञान एक दूसरे के पूरक हैं। ☐
2. धर्म आस्था और विश्वास पर टिका है जबकि विज्ञान तर्क-प्रधान है। ☐
3. मार्क्स ने धर्म को 'अफ़ीम' की संज्ञा दी है। ☐
4. आधुनिक समाज धर्म आधारित समाज है। ☐

14.4 धार्मिक संस्थाओं में परिवर्तन के कारण (Causes of Change in Religious Institutions)

उपरोक्त विवेचन से एक जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि वे कौन-से कारक हैं जो धर्म में इस नयी प्रवृत्ति तथा धर्म के ह्रास के लिए उत्तरदायी हैं। वे कारक इस प्रकार हैं–

1. **वैज्ञानिक प्रगति**–धर्म में होने वाले परिवर्तनों का मुख्य कारण यह है कि विज्ञान का आधार तर्क, प्रयोग व निरीक्षण है। विज्ञान के क्षेत्र में काल्पनिक तत्वों का कोई अस्तित्व नहीं है अर्थात् विज्ञान कल्पना से परे है, विज्ञान द्वारा सृष्टि के बारे में प्राप्त वास्तविक ज्ञान ने धर्म के काल्पनिक आधार पर कठोर प्रहार किया है तथा मानव को काल्पनिकता छोड़ वास्तविकता ग्रहण करने के लिए विवश किया है।
2. **शिक्षा की प्रगति एवं विस्तार** भी इस दिशा में एक महत्त्वपूर्ण चरण है। विज्ञान की भाँति शिक्षा भी व्यक्ति को तर्कशील बनाती है। इस प्रकार शिक्षा धर्म के गहन अंधकार में एक ज्योति-पुँज है। अब तक मानव किसी ठोस आधार के अभाव में केवल कल्पना जगत् में ही विचरण कर रहा था, परंतु शिक्षा ने इस कोहरे को छाँटने में अपना अभूतपूर्व योगदान दे मनुष्य को वास्तविकता के ठोस धरातल पर ला खड़ा किया है।
3. **औद्योगीकरण व नगरीकरण** के परिणामस्वरूप कई नये कारखानों व मिलों की स्थापना हुई तथा नये-नये नगरों का विकास हुआ। व्यक्ति जीविकोपार्जन हेतु अपनी जन्म-स्थली को छोड़कर इन उद्योगों तथा नगरों की ओर उन्मुख हुआ और वहाँ अनेक धर्मावलंबियों का संगम हुआ। उनमें विचारों का आदान-प्रदान हुआ, एक-दूसरे के बीच की दूरी कम हुई तथा धार्मिक कट्टरता का स्थान धार्मिक सहनशीलता ने लेकर धर्म को एक नया रूप प्रदान किया है।
4. राज्य के उद्भव के साथ ही इसके क्षेत्र में भी कल्पनातीत विस्तार हुआ, यहाँ तक कि कोई भी क्षेत्र इसके प्रभाव से अछूता नहीं रहा। राज्य ने धार्मिक संस्थाओं के भी कई कार्यों को अपना लिया है। **सरकारी क़ानूनों व हस्तक्षेप** ने धार्मिक निरंकुशता को भंग किया है तथा कई धार्मिक अंधविश्वासों व रूढ़ियों तथा कुरीतियों पर अंकुश लगाया है। इसीलिए आज समाज में देवदासी-प्रथा, सती-प्रथा व नर-बलि जैसी कुरीतियों की समाप्ति हुई है।

14.5 धार्मिक रूढ़िवाद का अर्थ (Meaning of Religious Fundamentalism)

रूढ़िवाद की सैद्धांतिक व्याख्या **मोंटगोमेरी वाट** (Montgomery Wat) ने अपनी पुस्तक **इस्लामिक फंडामेंटेलिजम एण्ड मोडरनिटी** (Islamic Fundmentalism and Modernity 1983) में कट्टरवाद की व्याख्या की

नोट

है। वे कहते हैं कि वास्तव में यह अवधारणा भ्रामक है। इसके स्थान पर **कट्टरवाद या मतांधता** (Fanaticism) पद का प्रयोग होना चाहिए । जब किसी धर्म विशेष के मतावलंबी सारी दुनियाँ को अपने धर्म के संदर्भ में ही देखते हैं तो यह रूढ़िवाद है। वास्तव में रूढ़िवाद और कुछ न होकर कट्टरपन का अधिकतम स्वरूप है। रूढ़िवादी न केवल अपने धर्म को वरन् संपूर्ण समाज को रूढ़िवादिता की दृष्टि से देखते हैं। इसमें वे मसले भी आ जाते हैं जो गैर-धार्मिक हैं। **मोंटगोमेरी वाट** का तो कहना है कि रूढ़िवादिता अपने आप में एक **धर्म जागरण** (Revivalism) है जिसके द्वारा धर्म के अतीत के विश्वासों, धर्म विधियों और कार्य-पद्धतियों को नया जीवन दिया जाता है। इस भाँति **भारत और पश्चिमी एशिया में रूढ़िवाद का जो अर्थ लिया जाता है, वह कट्टरपन, मतांधता तथा पुनर्जागरण है।** हमारे यहाँ रूढ़िवाद का अर्थ हिंदू-मुस्लिम रूढ़िवाद से है।

जब भारतीय रूढ़िवाद का दृष्टान्त दिया जाता है तब अयोध्या में 6 दिसंबर, 1992 का उल्लेख अवश्य किया जाता है जब हिंदू रूढ़िवादियों ने बाबरी मस्जिद को गिरा दिया। जिन लोगों ने इस मस्जिद को गिराया वे हिंदुत्व विचारधारा के मानने वाले थे। मुस्लिम रूढ़िवाद का दृष्टांत अफ़गानिस्तान में तालिबान ग्रुप द्वारा चलाए जा रहे जिहाद से है। जबकि मूल रूप में अफ़गानिस्तान सरकार का ढाँचा लोकतांत्रिक है। हिंदू मंचों का ईसाइयों के धर्म प्रचार पर आक्रमण, रूढ़िवाद का दूसरा दृष्टांत है। रूढ़िवाद तर्क पर काम नहीं करता । वह आँख बंद करके धार्मिक असहिष्णुता को औज़ार बनाता है।

जब हिंदू रूढ़िवादी अपनी विचारधारा को अमल में लाते हैं तब कहते हैं कि वे अपनी परंपराओं को जीवित रखना चाहते हैं। हिंदू या मुस्लिम रूढ़िवाद, दोनों ही राष्ट्र के निर्माण में घातक हैं। रूढ़िवाद कहीं भी हो, राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया को पीछे धकेल देता है और भारत जैसे देश में तो जहाँ संस्कृतियों का अनेकत्व है, रूढ़िवाद संपूर्ण संविधान को असफल बना देता है। यह अवधारणा हिंदू और मुसलमान दोनों के लिये घातक है।

14.6 धार्मिक पुनरुत्थान में समाज-सुधार आंदोलनों की भूमिका (Role of Social Reform Movements in Religious Revivalism)

सामाजिक परिवर्तन लाने में सुधार आंदोलनों के महत्त्व को आज कोई भी अस्वीकार नहीं करता और इसीलिए इस बात पर बल दिया जाता है कि कल्याणकारी समाज में समाज सुधार आंदोलनों की अत्यंत आवश्यकता है। इसके समर्थन में निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किया जा सकता है।

एक कल्याणकारी समाज वह है जो कि अपने समस्त नागरिकों की सर्वांगीण उन्नति और विकास को अपना लक्ष्य मानते हुए समानता के आधार पर उनके उचित न्यूनतम जीवन-स्तर को बनाए रखने में सफल हो। पर यह सफलता तभी मिल सकती है जबकि सामाजिक जीवन को जर्जर करने वाली सामाजिक कुप्रथाओं, धार्मिक अंधविश्वासों, सामाजिक-सांस्कृतिक भेदभाव आदि से सर्वप्रथम समाज को विमुक्त किया जाए। यह काम समाज सुधार कार्यों के माध्यम से ही संभव है। भारतीय उदाहरणों द्वारा इस बात को और भी स्पष्ट किया जा सकता है। भारतवर्ष में आज भी कभी-कभी सती होने का समाचार मिलता है, विधवा-पुनर्विवाह का आज भी लोग दिल से स्वागत नहीं करते हैं, बाल-विवाह खूब होता है, जातिवाद का डंका भी मजे से बज रहा है, पर्दा-प्रथा का प्रचलन आज भी है, दहेज लेना प्रतिष्ठा का एक विषय बन गया है, अस्पृश्यता को केवल कानून बनाकर दूर करने में हम असफल रहे हैं, नशाखोरी आज भी चालू है और धार्मिक अंधविश्वासों से हम आज भी विमुक्त नहीं हो पाए हैं। ये सभी परिस्थितियाँ हमें व हमारी प्रगति को निरंतर पीछे की ओर खींच रही हैं और राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के कार्यों में बाधा डाल रही हैं। अत: राष्ट्र के हित में सामाजिक आंदोलनों द्वारा इन बाधाओं को दूर करने की आवश्यकता आज हम अनुभव करते हैं और इन बाधाओं को दूर करे बिना न तो राष्ट्रीय पुनर्निर्माण संभव है और न ही कल्याणकारी समाज की स्थापना। अत: सामाजिक सुधार आंदोलनों का महत्त्व व आवश्यकता दोनों ही अत्यधिक हैं। निम्नलिखित विवेचना से यह बात और भी स्पष्ट हो जाएगी–

(1) सामाजिक परिवर्तन लाने में सामाजिक सुधार आंदोलनों का एक महत्त्व यह है कि इसके द्वारा विधवा-पुनर्विवाह के अनुकूल जनमत को विकसित किया जा सकता है और ऐसा हो जाने से भारत में

नोट

पाई जाने वाली 2.32 करोड़ विधवाओं को जीवन में फिर से घर बसाना संभव होगा और वे भी निश्चित होकर राष्ट्रीय पुनर्निर्माण कार्य में अपना योगदान कर सकेंगी।

(2) समाज सुधार आंदोलनों का एक और महत्त्व यह है कि इसके द्वारा बाल-विवाह प्रथा को रोका या कम किया जा सकता है। काफी कम आयु में विवाह इस देश में होते हैं। ऐसे विवाहों को सामाजिक आंदोलनों द्वारा रोकने से एक ओर लड़कियों के व्यक्तित्व का उचित विकास संभव होगा और दूसरी ओर, जोकि बहुत ही महत्त्वपूर्ण है, जनसंख्या की समस्या, जो कि समस्त राष्ट्र को आज अत्यधिक पीड़ित कर रही है, का भी हल हो सकेगा।

(3) समाज सुधार आंदोलन का एक महत्त्व दहेज-प्रथा को दूर करने से संबंधित है। सुधार आंदोलन के द्वारा ही दहेज के दुष्परिणामों के संबंध में लड़कों के माता-पिता को जागरूक किया जा सकेगा।

(4) जातिवाद राष्ट्रीय एकता के लिए घातक है। इस घातक अवस्था को दूर करने के क्षेत्र में सुधार-कार्य का अपना महत्त्व है। इसे दूर करने के लिए जन-शिक्षा या जनमत की जागृति आवश्यक है और यह काम सुधार आंदोलन के द्वारा ही संभव है।

(5) तथाकथित अस्पृश्य जातियों की जो दयनीय स्थिति भारत में सदियों से बनी रही है उससे तो प्रत्येक भारतवासी परिचित है। आज उनकी अवस्था में काफी सुधार हुआ है और यह संभव हुआ है महात्मा गांधी द्वारा चलाए गए अस्पृश्यता निवारण संबंधी आंदोलन के फलस्वरूप। भविष्य में भी इस दिशा में हमें जो कुछ भी सफलता प्राप्त होगी उसमें भी समाज सुधार आंदोलन का ही महत्त्व प्रमाणित होगा।

(6) अंतर्जातीय विवाहों के लिए अधिक अनुकूल वातावरण को विकसित करके राष्ट्रीय एकता व सद्भावना को बढ़ाने के लिए, नशाखोरी के दुष्परिणामों के संबंध में लोगों को शिक्षित करने के लिए तथा धार्मिक संकीर्णता व सांप्रदायिकता के पंजों से देशवासियों को छुड़ाकर नवभारत के निर्माण के लिए हमें सामाजिक आंदोलन के महत्त्व को स्वीकार करना ही होगा। निम्नलिखित विवेचना से सामाजिक परिवर्तन लाने में सामाजिक सुधार आंदोलन का महत्त्व और भी स्पष्ट हो जाएगा।

भारतीय समाज में सुधार आंदोलन को मुख्यत: दो वर्गों में बाँटा सकता है-

(1) ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज तथा **अलीगढ़ आंदोलन** जिन्होंने अपने-अपने क्षेत्र में सुधार करने का प्रयत्न किया। **(2) पुनर्नवीकरण आंदोलन** उदाहरणत: **आर्य समाज, रामकृष्ण मिशन** तथा **बंद आंदोलन** जिनका मुख्य उद्देश्य अपने पक्ष का पुनरुद्धार करना था। दानों प्रकार के आंदोलन भिन्न-भिन्न सीमा तक अपने धर्म को सुधारने का प्रयत्न कर रहे थे और अपने प्राचीन पवित्र धर्म की दुहाई देते थे। दोनों में भेद केवल मात्रा का था जो अपनी-अपनी परंपरा, तर्क अंतरात्मा पर निर्भर थी।

इन सुधार आंदोलनों का एक अन्य पक्ष यह भी था कि वे ऐसे धार्मिक व सामाजिक सुधार चाहते थे, जिनके लिए प्राचीन विश्वासों व परंपराओं को चुनौती देनी पड़ती थी। भारत में लगभग सभी सामाजिक कुरीतियाँ धार्मिक मान्यताओं पर आधारित थीं और इसीलिए धर्म को सुधारे बिना समाज-सुधार संभव नहीं था। एक अन्य कारण यह भी था कि भारतीय जीवन के भिन्न-भिन्न पक्षों में एक बहुत निकट का संबंध था। इसीलिए सामाजिक और धार्मिक सुधार एक-दूसरे के बिना संभव नहीं थे और उन्होंने एक-दूसरे को प्रभावित भी किया। उदाहरण के रूप में समाज में स्त्री-उद्धार के साथ-साथ उसका धार्मिक कल्याण भी हुआ। सती, शाश्वत वैधव्य तथा देवदासी प्रथा के समाप्त हुए बिना उसका सामाजिक कल्याण संभव नहीं हुआ और इसी परिवर्तन के परिणामस्वरूप उसे मताधिकार मिला और वह देश के उच्चतम पद अर्थात् प्रधानमंत्री जैसे पद प्राप्त करने में सक्षम हुई।

एक तरफ तीन प्रक्रियाएँ हैं-हिंदू कट्टरवाद, मुस्लिम कट्टरवाद और आधुनिकीकरण और इन तीनों के बीच में भारतीय समाज है और उसकी आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक संस्कृति है।

14.7 धार्मिक एवं लौकिक प्रभाव (Religious and Secular Effect)

धार्मिक और लौकिक दोनों का ही प्रभाव भारतीय समाज में देखने को मिलता है। किसी समय भारतीय समाज में धर्म का इतना प्रभाव था कि जीवन की सभी क्रियाओं का संपादन प्रमुखत: धार्मिक संस्कार, पूजा-पाठ, यज्ञ,

नोट

मंत्रोच्चारण या अनुष्ठान के बाद ही होता है, चाहे जीवन-पथ के संस्कार हों, चाहे मकान बनवाना हो, कोई व्यापारिक संस्थान प्रारंभ करना हो, कोई कल कारखाना स्थापित करना हो, प्रत्येक के पूर्व धार्मिक अनुष्ठान आवश्यक था। जन्म, विवाह, मृत्यु आदि के अवसर पर तो आवश्यक रूप से धार्मिक-क्रिया संपादित की जाती थी। धर्मनिरपेक्षता का क्या अर्थ है, यह समझ लेना भी यहाँ आवश्यक है।

वर्तमान समय में भारतीय समाज के आधुनिक आधार के रूप में धर्मनिरपेक्षता का महत्त्व बढ़ता जा रहा है। भारत अनेक धर्मों का न केवल उद्‌गम-स्थल बल्कि संगम-स्थल भी रहा है। भारतीय समाज एक धर्मप्राण समाज है। यहाँ हिंदू धर्म के अलावा इस्लाम, ईसाई, जैन, बौद्ध तथा पारसी धर्म के अनुयायियों की संख्या भी काफी है। यहाँ सभी देशवासियों के जीवन में धर्म की प्रधानता पाई जाती है। यहाँ धर्म जीवन के विभिन्न पक्षों को प्रभावित करता है। जिस देश में अनेक धर्मों के लोग साथ-साथ रहते हों, वहाँ समाज को संगठित रखने की दृष्टि से धार्मिक सहिष्णुता का होना अत्यंत आवश्यक है। भारतीय समाज में यह विशेषता प्रमुखत: पाई जाती है। आदिकाल से ही भारतवासी धार्मिक दृष्टि से सहिष्णु रहे हैं, अन्य धर्मों के प्रति आदर का भाव रखते हैं। यहाँ धर्म के अंतर्गत कर्त्तव्यपालन पर काफी ज़ोर दिया जाता है। लोग अपने वर्ण, आश्रम और जाति से संबंधित धर्म का पालन करते रहे हैं, कर्त्तव्यों को निभाते रहे हैं, इस देश में धार्मिक सहिष्णुता ने लोगों के दृष्टिकोण को व्यापक बनाने और धर्मनिरपेक्षता के मूल्यों को विशेष महत्त्व देने में काफी योग दिया है।

क्या आप जानते हैं

आज से करीब 2300 वर्ष पूर्व सम्राट अशोक ने घोषणा की थी कि राज्य किसी भी धर्म या संप्रदाय को नहीं सताएगा, राज्य की दृष्टि में सभी धर्म समान हैं, कोई किसी भी धर्म को मान सकता है। अशोक ने यहाँ तक कहा कि लोगों को अन्य धर्मों के प्रति न केवल सहिष्णुता का भाव रखना चाहिए बल्कि उनका आदर भी करना चाहिए।

उसने अन्य धर्मों के ग्रंथों के अध्ययन के लिए लोगों को प्रोत्साहित किया। न केवल भारतीय सभ्यता के बल्कि संपूर्ण मानव सभ्यता के इतिहास में अशोक का धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण एक युगांतकारी घटना है। इस दृष्टि से एक अन्य महत्त्वपूर्ण घटना उस समय घटित हुई जब ईसा मसीह ने कहा कि सीजर की वस्तुएँ सीजर को अर्पित कर दो और ईश्वर की वस्तुएँ ईश्वर को। इस कथन का तात्पर्य यही है कि राज्य और चर्च एक-दूसरे से पृथक् हैं। सम्राट अशोक की घोषणा से धर्मनिरपेक्षता के एक महत्त्वपूर्ण पहलू **'सहिष्णुता'** (Tolerance) का आधार तैयार हुआ और ईसा मसीह की घोषणा से एक अन्य पहलू **'राज्य और धर्म एक दूसरे से पृथक् होने'** का आधार निर्मित हुआ।

धर्मनिरपेक्षता के उपर्युक्त दो पक्षों के अतिरिक्त दो अन्य पक्षों का विकास आधुनिक समय में 15वीं व 16वीं शताब्दी में पश्चिमी यूरोप में **'पुनर्जागरण तथा सुधार'** (Renaissance and Reformation) तथा 18वीं व 19वीं शताब्दी में **औद्योगिक क्रांति** (Industrial Revolution) के कारण हुआ। पुनर्जागरण में धर्मनिरपेक्षता के तीसरे पहलू मानवतावादी दृष्टिकोण (Humanistic Outlook) पर ज़ोर दिया जिसमें परलोक के बजाय इस लोक को विशेष महत्त्व दिया। औद्योगिक क्रांति ने धर्मनिरपेक्षता के एक अन्य पहलू **विज्ञान और प्रौद्योगिकी** (Science and Technology) **के जीवन की समस्याओं को हल करने में प्रयोग पर जोर दिया।** इससे बड़ी-बड़ी मशीनों का निर्माण हुआ और मानव व पशु शक्ति के बजाय ऊर्जा के अन्य स्रोतों को काम में लिया जाने लगा। परिणामस्वरूप उत्पादन को बढ़ाने में काफी योग मिला।

इस 20वीं शताब्दी में भारतीय समाज में एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण परिवर्तन यह आ रहा है कि यह एक **'पवित्र समाज'** (Sacred Society) **से अपने को एक 'धर्मनिरपेक्ष समाज'** (Secular Society) में बदलता जा रहा है। जब एक परंपरावादी कृषि-प्रधान समाज अपने को आधुनिक औद्योगिक समाज में बदलता है तो उसे अपने को पवित्र से धर्मनिरपेक्ष समाज की दिशा में भी बदलना पड़ता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि अधिकांश भारतवासी धार्मिक सहिष्णुता के बावजूद भी अपने दृष्टिकोण में काफी धार्मिक हैं। यदा कदा व्यक्त की जाने वाली धार्मिक

नोट

कट्टरता और कुछ लोगों की धार्मिक असहिष्णुता तथा अंग्रेजों की 'फूट डालो और राज करो' की नीति के कारण ही देश का विभाजन हुआ और एक इस्लामी राज्य के रूप में पाकिस्तान का जन्म हुआ। फिर भी यह सही है कि अधिकतर भारतवासियों में धार्मिक सहिष्णुता पाई जाती है। इस शताब्दी में अनेक विद्वानों, समाज सुधारकों एवं राजनेताओं ने यह स्पष्टत: महसूस किया कि विभिन्न धर्मों वाले देश भारत में **'धर्मनिरपेक्षता'** (Secularism) ही समाज का एक सुदृढ़ आधार हो सकता है। इसी आधार पर समाज को सुसंगठित किया जा सकता है, आधुनिकीकरण (Modernization) की दिशा में आगे बढ़ाया जा सकता है और प्रगति की जा सकती है। धर्मनिरपेक्षता जीवन का एक ढंग है, संसार के प्रति एक विशेष दृष्टिकोण है जिसमें परलोक के बजाय इस लोक पर विशेष ध्यान दिया जाता है। जब हम भारतीय समाज के आधुनिक आधार के रूप में धर्मनिरपेक्षता पर विचार करते हैं तो पाते हैं कि यह तटस्थता की एक ऐसी स्थिति है जिसमें राज्य किसी भी धर्म को प्रोत्साहित नहीं करता, राज्य का कोई धर्म नहीं होता, धर्म के आधार पर राज्य किसी के साथ कोई भेदभाव नहीं करता, सभी को समान समझता है और धार्मिक दृष्टि से सबको स्वतंत्रता प्रदान करता है। धर्मनिरपेक्षता का तात्पर्य यही है कि राज्य सभी धार्मिक समूहों एवं धार्मिक विश्वासों को पूर्णत: समान मानता है, सबके प्रति निष्पक्ष दृष्टिकोण रखता है। यहाँ निरपेक्षता का अर्थ तटस्थता या समानता के भाव से ही है। राज्य सभी धर्मों को समानता की दृष्टि से देखता है, किसी के प्रति कोई पक्षपतापूर्ण रवैया नहीं अपनाता है। धर्मनिरपेक्षता का अर्थ ऐसी नीति या सिद्धांत में विश्वास है जिसके अंतर्गत लोगों को किसी धर्म विशेष को मानने के लिए बाध्य नहीं करके सबसे प्रति समभाव रखने पर ज़ोर दिया जाता है।

नोट्स यह सच है कि अधिकांश भारतवासी धार्मिक सहिष्णुता के बावजूद भी अपने दृष्टिकोण में काफ़ी धार्मिक हैं। यदा-कदा व्यक्त की जाने वाली धार्मिक कट्टरता और कुछ लोगों की धार्मिक असहिष्णुता अंग्रेजों की 'फूट डालो राज करो' की नीति का नतीजा हैं।

धर्मनिरपेक्ष होने का तात्पर्य जीवन के विभिन्न पक्षों में धर्म के प्रभाव के क्षीण होने से भी लिया जाता है। उदाहरण के रूप में, वर्तमान भारत में विभिन्न धार्मिक संस्कारों का संक्षिप्तीकरण हो रहा है, तीर्थ यात्राओं का मनोरंजनात्मक दृष्टि से महत्त्व बढ़ता जा रहा है, विवाह में एक धार्मिक संस्कार के बजाय सामाजिक समझौते के तत्व जुड़ते जा रहे हैं। स्त्रियों के नौकरी करने को अब बुरा नहीं समझा जाता है। आजकल शिक्षा धर्म के प्रभाव से प्राय: मुक्त हो चुकी है। आजकल ब्राह्मणों का महत्त्व कुछ धार्मिक अनुष्ठानों के संपादन एवं पूजा-पाठ तक ही सीमित है। **आक्सफोर्ड डिक्शनरी** में बताया गया है कि धर्मनिरपेक्षता वह सिद्धांत है जिसमें विश्वास से संबंधित सभी विचारों को पृथक् करके नैतिकता को वर्तमान में मनुष्य के कल्याण से पूर्णत: संबंधित माना गया है। **चैंबर डिक्शनरी** में धर्मनिरपेक्षता को ऐसे विश्वास के रूप में माना गया है जिसमें राज्य, नैतिकताएँ, शिक्षा आदि धर्म से स्वतंत्र होते हैं।

भारतीय समाज के संदर्भ में विचार करने पर हम पाते हैं कि धर्मनिरपेक्षता एक ऐसा दृष्टिकोण है जिसके अनुसार विभिन्न धर्मों के लोग सहिष्णुता, सह-अस्तित्व एवं समानता के आधार पर एक-दूसरे के धार्मिक विश्वासों में किसी प्रकार की बाधा डाले बिना, कल्याणकारी राज्य की स्थापना में योग देते हैं। ऐसे राज्य का अपना कोई निश्चित धर्म नहीं होता और उसकी दृष्टि में सभी धर्म समान होते हैं। इतना अवश्य है कि यहाँ संविधान के अनुसार राज्य को यह अधिकार दिया गया है कि वह देश में विभिन्न धार्मिक समूहों के सांस्कृतिक विकास, शांतिमय सह-अस्तित्व और हितों की रक्षा के उद्देश्य से उनके धार्मिक जीवन में हस्तक्षेप कर सकता है। राज्य को इस प्रकार के अधिकार दिए जाने का कारण यह है कि यहाँ अन्य देशों के समान चर्च जैसी कोई संगठित धार्मिक संस्था नहीं है जो बदलती हुई परिस्थितियों के समान धार्मिक रूढ़ियों या कर्मकांडों में कोई सुधार कर सके। ऐसी स्थिति में राज्य को ही यह कार्य करना पड़ता है। इसके अलावा भारतीय समाज में अनेक अंधविश्वास और सामाजिक कुरीतियाँ पाई जाती हैं जिनसे राज्य के हस्तक्षेप के बिना छुटकारा प्राप्त करना संभव नहीं है।

नोट

धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण वाला व्यक्ति विभिन्न विषयों पर धार्मिक दृष्टि से विचार नहीं करके सांसारिक दृष्टि से विचार करता है। ऐसा व्यक्ति मानवीय कल्याण हेतु नैतिकता को विशेष महत्त्व देता है। ऐसा व्यक्ति यह मानता है कि सार्वजनिक शिक्षा या अन्य मामलों में धर्म को किसी भी प्रकार का कोई स्थान नहीं दिया जाना चाहिए। धर्मनिरपेक्षतावादी व्यक्ति धार्मिक दृष्टि से सहिष्णु और उदार होता है, वह अन्य धर्मों का भी आदर और सभी की धार्मिक स्वतंत्रता में विश्वास करता है। उसका ध्यान परलोक की बजाय इस लोक पर अधिक होता है। धर्मनिरपेक्षता के अर्थ को स्पष्ट करते हुए **डॉ. आर.एन. सक्सेना ने बताया है कि धर्मनिरपेक्षता वह नीति अथवा सिद्धांत है जो धार्मिक नैतिकता एवं सहिष्णुता पर आधारित है तथा जो अपने सभी सदस्यों को उनके वर्ण, जाति, लिंग, धर्म, विश्वास तथा अन्य भेदों पर विचार किए बिना सभी को एक उचित सीमा तक अपने धर्म और विश्वास की स्वतंत्रता प्रदान करता है।**

14.8 धर्मनिपेक्षता के आवश्यक तत्व (Essential Elements of Secularism)

1. **धार्मिक सहिष्णुता** (Religious Tolerance)–यह धर्मनिरपेक्षता का एक आवश्यक तत्व है। इसमें व्यक्ति अन्य धर्मों के प्रति उदारता और सहिष्णुता का भाव रखता है। यह सभी धर्मों का आदर करता है। यह नास्तिकता या धार्मिक अध:पतन की स्थिति नहीं होकर धार्मिक दृष्टि से सह-अस्तित्व (Co-existence) की स्थिति है। धर्मनिरपेक्षता में धार्मिक संकीर्णता का कोई स्थान नहीं होता। यह **धार्मिक कट्टरता के बजाय तार्किक दृष्टि से सोचने-विचारने पर ज़ोर** देती है। यह विश्वासों के बजाय व्यवहारिक अनुभवों को विशेष महत्त्व देती है। यह धार्मिक अंधविश्वासों की अपेक्षा सुधार एवं उपयोगितावादी दृष्टिकोण पर विशेष ध्यान देती है।
2. **सांसारिकता या लौकिकता** (Worldiness)–धर्मनिरपेक्षता में परलोक या अलौकिक विश्व की बजाय इस लोक से संबंधित सांसारिक कर्त्तव्यों पर विशेष ज़ोर दिया जाता है है। इसमें लोगों पर धर्म का उतना नियंत्रण नहीं होता जितना पवित्र समाज में होता है। जब कोई समाज पवित्र से धर्मनिरपेक्ष समाज की ओर बढ़ता है तो उसमें धार्मिक कर्मकांडों, पोप, पादरियों, पंडितों, पुजारियों, पंडों और महंतों का महत्त्व कम हो जाता है तथा उन्हें अलौकिक शक्ति से संपन्न नहीं माना जाता। धर्मनिरपेक्षता मानवतावादी दृष्टिकोण, तर्क तथा आधुनिकता पर आधारित होती है।
3. **समानता एवं बन्धुत्व** (Equality and Fraternity)–धर्मनिरपेक्षता के साथ समानता और स्वतंत्रता के मूल्य जुड़ हुए हैं। इनके बिना धर्मनिरपेक्षता का कोई महत्त्व नहीं है। धर्मनिरपेक्षता एक ऐसी प्रवृत्ति या दृष्टिकोण है जिसके अनुसार सभी धर्मों के अनुयायियों को समान समझने और उन्हें विकास के समान अवसर प्रदान करने पर ज़ोर दिया जाता है। धार्मिक आधार पर किसी प्रकार के भेदभाव को प्रोत्साहन नहीं दिया जाता तथा सबको अपने धर्म को मानने और उसका प्रसार करने की स्वतंत्रता होती है।
4. **लचीलापन** (Flexibility)–धर्मनिरपेक्षता जीवन की एक शैली है, जीवन के प्रति एक विशेष प्रकार का दृष्टिकोण है। लेकिन, जैसे-जैसे परिस्थितियाँ बदलती हैं, उनके साथ-साथ व्यवहार के तरीकों में भी परिवर्तन आवश्यक हो जाता है। धर्मनिरपेक्षता में इस प्रकार के परिवर्तन या बदलती हुई दशाओं के साथ अनुकूलन की बात मौजूद होती है। वास्तव में, धर्मनिरपेक्ष प्रकार का व्यवहार रूढ़िवादी या कट्टरता युक्त नहीं होकर विवेक पर आधारित होता है। यह कहा जा सकता है कि धर्मनिरपेक्ष नैतिकता में परिस्थितियों के साथ बदलने का गुण विद्यमान है।

14.9 धर्मनिरपेक्ष समाज की प्रमुख विशेषताएँ (Major Characteristics of Secular Society)

धर्मनिरपेक्ष समाज में कुछ ऐसी विशेषताएँ पाई जाती हैं जो उसे पवित्र समाज से पृथक् करती हैं। **पवित्र समाज** (Sacred Society) में परंपरागत धार्मिक व्यवस्था जीवन के सभी पहलुओं को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करती है। ऐसे समाज में परंपरागत मान्यताओं तथा स्वीकृत आदर्श नियमों के आधार पर नियंत्रण और

नोट

संगठन बनाए रखा जाता है। इस देश में हिंदू, मुसलमान और ईसाई आदि समूह पवित्र समाज के अंतर्गत आते हैं। ऐसे समाज में परंपराओं, कर्मकांडों, धार्मिक विश्वासों, रीति-रिवाजों एवं स्वीकृत आदर्श-नियमों का विशेष महत्त्व होता है। इस प्रकार के समाजों में प्राकृतिक शक्तियों, जादू-टोने और अंधविश्वासों को काफी महत्त्व दिया जाता है। ऐसे समाज में किसी भी प्रकार के परिवर्तन को अच्छा नहीं समझा जाता, जैसे हिंदू समाज में किसी समय लोग सती-प्रथा, दास-प्रथा, बाल-विवाह पर प्रतिबंध लगाए जाने एवं विधवा-पुनर्विवाह की आज्ञा देने के विरोधी थे। मुस्लिम समाज के लोग आज भी 'परिवार नियोजन कार्यक्रम (Family Planning Programme) एवं विवाह के क्षेत्र में सरकार द्वारा किसी प्रकार का कोई क़ानून बनाए जाने के पक्ष में नहीं हैं। इसका कारण यह है कि वे अपनी धार्मिक परंपराओं में किसी प्रकार का कोई हस्तक्षेप नहीं चाहते हैं। धर्मनिरपेक्ष समाज में पवित्र समाज से विपरीत प्रकार की विशेषताएँ पाई जाती हैं। ऐसे समाज की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं–

1. **धार्मिक स्वतंत्रता**–धर्मनिरपेक्ष समाज में सभी को धार्मिक स्वतंत्रता होती है। कोई भी व्यक्ति किसी भी धर्म को मान सकता है, उसका प्रचार और प्रसार कर सकता है। आज धर्म और उससे संबंधित विश्वासों को सामूहिक घटना नहीं मानकार व्यक्तिगत घटना माना जाने लगा है। अत: एक धर्मनिरपेक्ष समाज में व्यक्तियों को अपनी इच्छानुसार धार्मिक जीवन व्यतीत करने की स्वतंत्रता होती है।
2. **सभी धर्मानुयायियों के साथ समान व्यवहार**–धर्मनिरपेक्ष समाज में विभिन्न धर्मों के मानने वाले लोगों के साथ समानता का व्यवहार किया जाता है। इसका कारण यह है कि समाज अथवा राज्य किसी भी रूप में किसी विशेष धर्म को बढ़ावा नहीं देता है। अत: धर्मनिरपेक्ष समाज में सभी व्यक्तियों को समान माना जाता है, उनके साथ एक ऐसा व्यवहार किया जाता है, चाहे उनका धर्म कोई भी क्यों न हो। ऐसे समाज में सभी को समान दृष्टि से देखा जाता है।
3. **किसी विशेष धर्म से संबंधित नहीं**–धर्मनिरपेक्ष समाज का किसी एक धर्म के साथ कोई विशेष संबंध नहीं पाया जाता है। ऐसे समाज का अपना कोई धर्म नहीं होता, यद्यपि यह धर्म विरोधी या अधार्मिक भी नहीं होता। ऐसा आज मानवोचित गुणों जैसे सत्य, अहिंसा, त्याग, समानता, बंधुत्व एवं प्रेम आदि को प्रधानता देता है। डॉ. राधाकृष्णन के अनुसार धर्मनिरपेक्ष होने का अर्थ अधर्मी होना या संकुचित धार्मिकता पर चलना नहीं होता, बल्कि पूर्णतया आध्यात्मिक होना है। इतना अवश्य है कि ऐसा समाज या राज्य अपने को किसी धर्म-विशेष के साथ नहीं जोड़ता है।
4. **धार्मिक हस्तक्षेप नहीं**–धर्मनिरपेक्ष समाज में धर्म को एक व्यक्तिगत मामला समझकर राज्य या समाज के द्वारा लोगों के धार्मिक जीवन में साधारणत: किसी प्रकार का कोई हस्तक्षेप नहीं किया जाता। इतना अवश्य है कि कभी-कभी जन-कल्याण को ध्यान में रखते हुए सामाजिक कुरीतियों से छुटकारा प्राप्त करने के उद्देश्य से राज्य विशेष परिस्थितियों में धार्मिक मामलों में भी हस्तक्षेप कर सकता है, परंतु ऐसा करने पर किसी समाज के धर्मनिरपेक्ष होने पर किसी प्रकार की कोई आँच नहीं आती। भारत के संदर्भ में यह बात सही है।
5. **विवेक व तर्क पर आधारित**–आदिम समाज या पवित्र समाज के लोग सभी सामाजिक घटनाओं को धर्म एवं अलौकिक शक्ति के साथ जोड़ते रहते हैं। लेकिन धर्मनिरपेक्ष समाज में ऐसा नहीं है। ऐसे समाज में कार्य-कारण संबंधों पर ज़ोर दिया जाता है, विवेक के आधार पर निर्णय लिए जाते हैं, किसी भी वस्तु, कार्य या व्यवहार के गुण-दोषों पर तार्किक ढंग से विचार किया जाता है। ऐसी स्थिति में जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में धर्म का प्रभाव घटता है और तार्किक व्यवहार का महत्त्व बढ़ता है।
6. **जनकल्याण पर विशेष ज़ोर**–ऐसे समाज में धार्मिक संकीर्णताओं या धार्मिक कट्टरता को अच्छा नहीं समझा जाता। साथ ही धर्म के पारलौकिक पक्ष के बजाय लौकिक पक्ष पर विशेष ज़ोर दिया जाता है। लौकिक पक्ष के अंतर्गत मानव-जाति की सेवा आती है। ऐसे समाज में पूजा-पाठ तथा देवी-देवताओं की आराधना पर उतना ज़ोर नहीं दिया जाता जितना ज़ोर सार्वजनिक कल्याण की वृद्धि पर दिया जाता है। धर्मनिरपेक्ष समाज में ऐसे कार्यों पर विशेष ध्यान दिया जाता है जिनसे सामाजिक समस्याओं से छुटकारा प्राप्त किया जा सके और जनकल्याण हो सके।

नोट

7. **प्रजातंत्रात्मक व्यवस्था में विश्वास**–धर्मनिरपेक्ष समाज प्रजातांत्रिक मूल्यों में विश्वास करता है। प्रजातंत्र समानता और स्वतंत्रता पर आधारित है। धर्मनिरपेक्ष समाज में भी सबकी समानता और स्वतंत्रता में विश्वास किया जाता है। ऐसे समाज में धार्मिक सहिष्णुता को प्रधानता दी जाती है और विभिन्न धर्मानुयायियों को एक-दूसरे के साथ अनुकूलन करने पर ज़ोर दिया जाता है। ऐसे समाज में व्यक्ति वंश, जाति, रंग, धर्म, भाषा या अन्य किसी प्रकार के अंतर पर ध्यान दिए बिना सभी को समान समझा जाता है। **गाँधीजी** के अनुसार विश्व के सभी धर्म एक विशाल वृक्ष के समान हैं तथा सभी धर्मों के अनुयायी एक-दूसरे के साथ अपने मुख्य या गौण भेदों पर ज़ोर दिए बिना प्रसन्नतापूर्वक साथ-साथ रह सकते हैं। धर्मनिरपेक्ष समाज में इस प्रकार की प्रजातंत्रात्मक समाज व्यवस्था में विश्वास किया जाता है।
8. **धार्मिक शिक्षा के बजाए धर्मनिरपेक्ष प्रकार की शिक्षा पर ज़ोर**–धर्म निरपेक्ष समाज में राज्य के द्वारा किसी प्रकार की कोई धार्मिक शिक्षा प्रदान नहीं की जाती। इसके अलावा राज्य ऐसी किसी शिक्षण-संस्था को भी आर्थिक सहायता नहीं देता जो किसी धर्म-विशेष से संबंधित हो। धर्मनिरपेक्ष समाज में तो ऐसी शिक्षा पर ज़ोर दिया जाता है जो नैतिकता और चरित्र-निर्माण को प्रधानता देती हो, साथ ही ऐसी शिक्षा अपने में विभिन्न धर्मों के आदर्शों को सम्मिलित कर सामाजिक एकीकरण का प्रयास भी करती है।

धर्मनिरपेक्ष समाज में समाज की सारी शक्ति जनता के सामान्य प्रतिनिधियों में निहित होती है, परंतु पवित्र समाज में यही शक्ति पुरोहित वर्ग के हाथ में केंद्रित होती है। धर्मनिरपेक्ष समाज की एक अन्य विशेषता यह है कि यह पवित्र समाज की तुलना में नवीन परिवर्तनों को सुगमता से अपना लेता है। ऐसे समाज में उन्हीं परंपराओं को बनाए रखा जाता है जो तर्क की कसौटी पर खरी उतरती हैं, उपयोगी सिद्ध होती हैं।

14.10 धर्मनिरपेक्षता (Secularism)

यूरोप, अमेरिका और अन्य विकसित देशों में धर्मनिरपेक्षता का संबंध औद्योगिक समाज के साथ होता है। औद्योगीकरण और शहरीकरण के कारण समाज में स्तरीकरण बढ़ जाता है उसमें जटिलता आ जाती है और तब ऐसे समाज में धार्मिक विश्वासों, व्यवहारों और धर्म विधियों की भूमिका कमज़ोर हो जाती है। उद्योग के साथ में शिक्षा की व्यापकता भी बढ़ जाती है। और सबसे बड़ी बात यह है कि संपूर्ण यूरोप में अब धर्म और चर्च एकदम पृथक् हो गए हैं। ये सभी राष्ट्र प्रजातांत्रिक और धर्मनिरपेक्ष हैं।

हमारे देश में धर्मनिरपेक्षता का कोई विकल्प नहीं हैं। यहाँ संस्कृतियाँ एकाधिक हैं, भाषाएँ कई तरह की हैं, जातियाँ हज़ारों की तादाद में हैं। यह देश बहुल एथनिसिटी का है। ऐसी स्थिति में जब मनुष्य की ज़मीनी यथार्थता में एकाधिकता आ जाती है तब अपने आप धर्म और धर्म विधियाँ कमज़ोर हो जाती हैं। जहाँ कहीं भी प्रजातांत्रिक व्यवस्था होती है, वहाँ **व्यक्ति प्रधान** (Individual) होता है और धर्मप्रधान देश में **समूह** (Group) प्रधान होता है। ऐसी स्थिति में धर्मनिरपेक्षता नवोदित भारत राष्ट्र का मुख्य मुहावरा है। ऐसे समाज में धर्म का स्थान **मानववाद** (Humanism) ले लेता है। यदि हम समाजशास्त्र के संस्थापक विचारकों का उल्लेख करें तब ज्ञात होगा कि इन विचारकों ने **आधुनिकता** (Modernity) की चर्चा की है। इस चर्चा का सारतत्व धर्म निरपेक्षता है। दुर्खीम ने कहा कि आधुनिकता वह है जहाँ अत्यधिक स्तरीकरण होता है। **उनका बहुत सामान्य सिद्धांत है–अधिक स्तरीकरण मतलब अधिक आधुनिकता और अधिक आधुनिकता यानी अधिक धर्म निरपेक्षता।** आधुनिकता के संबंध में कार्ल मार्क्स ने **पण्यीकरण** (Commodification) की अवधारणा को रखा है। वे कहते हैं कि इसमें धर्म, धर्म विधि और विश्वास सभी का बाज़ारीकरण हो जाता है। समाज में प्रत्येक वस्तु बिकाऊ हो जाती है। इस पण्यीकरण में धर्मनिरपेक्षता मुख्य आधार हो जाती है। मैक्स वेबर ऐसे सामाजिक विचारक हैं जिन्होंने **युक्ति मूलकता** (Rationality) को आधुनिक समाज का मुख्य स्तंभ माना है वे तो धर्म में भी युक्तिमूलकता देखते हैं। इस संदर्भ में, वेबर के अनुसार धर्म विश्वास और धर्म विधि न होकर एक प्रकार की युक्तिमूलकता बन जाती है। विचारकों का इस तरह का अवलोकन स्पष्ट करता है कि **धर्मनिरपेक्षता** किसी भी प्रजातांत्रिक और औद्योगिक समाज का बहुत बड़ा लक्षण है।

नोट

धर्मनिरपेक्षता : परिभाषा और अर्थ (Secularism : Definition and Meaning)

समाज विज्ञानों में धर्मनिरपेक्षता का एक निश्चित अर्थ लिया जाता है। इसका अर्थ है **निरपेक्षता** या **तटस्थता** (Neutrality)। कई समाज वैज्ञानिक धर्मनिरपेक्षता का अर्थ तर्कमूलकता से भी लेते हैं। इसका यह अर्थ दर्शनशास्त्र और तर्कशास्त्र में भी लिया जाता है। लेकिन जब धर्मनिरपेक्षता की परिभाषा यूरोप के राजनीतिक संदर्भ में की जाती है तब बहुत साफ शब्दों में कहा जाता है कि धर्म को राज्य से पृथक् रखना ही धर्मनिरपेक्षता है। **पीटर बर्गर** (Peter Berger) का उल्लेख यहाँ अवश्य करना चाहिए। वे कहते हैं कि **जब समाज और संस्कृति को धर्म के आधिपत्य से मुक्त कर दिया जाता है तो यह धर्मनिरपेक्षता है।** बर्गर की इस बात को मैक्स वेबर ने और तरह से रखा है। उनकी दृष्टि में **धर्मनिरपेक्षता युक्तिमूलकता की एक प्रक्रिया है। इस दृष्टि से जब समाज धीरे-धीरे तार्किक बनता जाता है, उसमें युक्तिमूलकता का निवेश प्रक्रिया के रूप में चलता रहता है तब यह धर्मनिरपेक्षता है। वस्तुतः वेबर के अनुसार धर्मनिरपेक्षता एक प्रक्रिया है जिसके अंतर्गत धर्म, राजनीति, समाज और संस्कृति से बराबर अलग होता जाता है।**

धर्मनिरपेक्षता की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि (Historical Background of Secularism)

यूरोप और भारत में धर्मनिरपेक्षता का जो अर्थ लिया जाता है वह यह है कि यह एक ऐसी स्थिति है जिसमें **राज्य का धर्म के साथ कोई सरोकार नहीं होता–राज्य अलग और धर्म अलग।** धर्म अपने विश्वासों और विधियों पर चलता रहता है और राज्य इसमें तब तक हस्तक्षेप नहीं करता जब तक कि धार्मिक गतिविधियाँ अन्य एथनिक समूहों की गतिविधियों में हस्तक्षेप नहीं करती। यूरोप में एक लंबी अवधि तक चर्च का राज्य के ऊपर प्रभुत्व था। इंग्लैंड के राजा हेनरी सप्तम का प्रेम एनाबोलिन नाम की एक महिला के साथ था। वह उसे बहुत चाहता था। उसके सामने चर्च ने दो विकल्प रखे : राज्य सिंहासन छोड़ देना या ऐनाबोलिन के गले लग लेना। हेनरी ने दूसरा विकल्प पसंद किया। इंग्लैंड के इतिहास में अनेक घटनाएँ हैं जो बताती हैं कि **मध्यकाल में चर्च का बहुत बड़ा प्रभुत्व राज्य पर था** और फिर भी धार्मिक आंदोलन चला। नतीजा यह हुआ कि चर्च और राज्य एक-दूसरे से पृथक् हो गए।

टास्क भारत के वर्तमान धर्मनिरपेक्ष स्वरूप से आप कहाँ तक सहमत हैं, तर्क सहित अपने विचार प्रस्तुत कीजिए।

भारत में भी धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा का उद्गम ब्रिटिशकाल की घटनाओं के साथ है। हमारे यहाँ प्राचीन और मध्यकालीन भारत में धर्म और राज्य पूरी तरह से मिले-जुले थे। राजा का धर्म प्रजा का धर्म हो जाता था। जब अशोक ने कलिंग युद्ध के बाद बौद्ध धर्म अपनाया तब उसके संपूर्ण साम्राज्य में बौद्ध धर्म की व्यापकता बढ़ गई। जगह-जगह स्तूप बनने लगे, विहार बनने लगे और अशोक के उपदेश पत्थरों पर लिखे जाने लगे। मुगलों के आने के बाद भी यही सब हुआ। राज्य धर्म प्रभुत्वशाली बन गया। लेकिन ब्रिटिशकाल में इतिहास ने देश को बहुत बड़ा झटका दिया। धर्म के नाम पर देश का विभाजन हो गया। इतिहास का यह सबक बहुत शक्तिशाली था और तब हमने अपने **संविधान में यह प्रावधान किया कि राज्य का धर्म के साथ कोई संबंध नहीं रहेगा। संविधान कहता है कि प्रत्येक नागरिक को अपने धार्मिक व्यवहार की स्वतंत्रता है और अपने धर्म प्रचार की आज़ादी है। कहा गया कि राज्य का कोई धर्म नहीं है।** यह घोषित किया कि राज्य के सामने सभी नागरिक समान हैं, चाहे वे किसी भी धर्म को मानने वाले हों, जाति के हों, लिंग के हों, या विचारधारा के हों।

भारत में धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा का उदय ब्रिटिश काल से है। वैसे परंपरागत भारत के लिए जो एक सभ्यता रहा है, धर्मनिरपेक्षता अ-ऐतिहासिक है। संविधान से पहले इस देश ने–इसके विभिन्न राज्यों और आँचलिक ठाकुरों ने कभी भी धर्म को राज्य से पृथक् नहीं किया। यह पहली बार है कि धर्म राज्य से जुदा है।

नोट

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

सही विकल्प चुनकर रखिए–

5. 'अधिक स्तरीकरण मतलब अधिक आधुनिकता और अधिक आधुनिकता यानी अधिक धर्मनिरपेक्ष'। यह कथन है–

   (क) कार्ल मार्क्स का (ख) दुर्खीम का (ग) मैक्स वेबर का

6. मध्ययुग में चर्च की बहुत प्रभावशाली भूमिका थी–

   (क) अमेरिका में (ख) भारत में (ग) इंग्लैंड में

7. भारत की शासन व्यवस्था है–

   (क) धर्मनिरपेक्ष (ख) धर्मसापेक्ष (ग) राजतंत्र

धर्मनिरपेक्षता के लक्षण (Characteristics of Secularism)

डी.ई. स्मिथ ने इण्डिया एज ए सेक्यूलर स्टेट (India as a Secular State, 1963, Princeton) में धर्मनिरपेक्षता की व्याख्या भारतीय इतिहास तथा सामाजिक-आर्थिक पृष्ठभूमि में की है। वे कहते हैं कि यद्यपि संविधान ने कहीं भी धर्मनिरपेक्षता को परिभाषित नहीं किया है फिर भी जो उसका अर्थ संविधान की धाराओं से निकलता है, इसके अनुसार इसके तीन तत्व हैं–(1) धर्म की स्वतंत्रता, (2) नागरिकता, और (3) राज्य की धर्म से पृथकता।

अब हम धर्मनिरपेक्षता के इन तत्वों का विश्लेषण करेंगे–

1. धर्म की स्वतंत्रता (Freedom of Religion)

इस तत्व के अनुसार संविधान ने धर्म और व्यक्ति के संबंधों को नियमित किया है। इन संबंधों में राज्य की कोई भूमिका नहीं है। संविधान के अनुसार धर्म के अंतर्गत संगठित धार्मिक संप्रदाय तथा धार्मिक विश्वास और धार्मिक व्यवहार सम्मिलित हैं। धर्म की आज़ादी का मतलब है कि **एक व्यक्ति अपने धर्म का पालन करने के लिए स्वतंत्र है। वह दूसरों के साथ अपने धर्म की विशेषता पर चर्चा करने को स्वतंत्र है और इसमें राज्य का कोई हस्तक्षेप नहीं होता।** व्यक्ति चाहे तो सभी धर्मों को अस्वीकार कर सकता है और चाहे तो किसी एक धर्म का अनुयायी हो सकता है। अपने धर्म के उपदेशों का अनुसरण कर सकता है, वह पूजा-अर्चना कर सकता है, अपने धर्म का प्रचार कर सकता है और अपने धार्मिक संप्रदाय में कोई पद ले सकता है। किसी अवस्था में पहुँचकर यदि वह अपने धर्म को छोड़कर दूसरा धर्म अपना लेता है, तो यह उसकी स्वतंत्रता है। राज्य का इससे कोई लेना-देना नहीं।

लेकिन एक अवस्था में पहुँचकर राज्य धर्म में हस्तक्षेप भी कर सकता है। आम लोगों के सार्वजनिक स्वास्थ्य, उसकी सुरक्षा और सार्वजनिक नैतिकता के कारण राज्य किसी भी धर्म में दखल कर सकता है। उदाहरण के लिए, यदि किसी देवी-देवता को पशु-बलि दी जाती है तो राज्य हस्तक्षेप कर सकता है। चाहे अमुक धार्मिक संप्रदाय इस बलि को धार्मिक रूप से आवश्यक समझता हो। लेकिन राज्य के धर्म में हस्तक्षेप करने के क्षेत्र बहुत थोड़े हैं और सीमित हैं।

2. नागरिकता (Citizenship)

नागरिकता व्यक्ति और राज्यों के संबंधों को निर्धारित करती है। राज्य की दृष्टि में कोई भी व्यक्ति न हिंदू है और न मुसलमान है। उसके लिए तो यह केवल नागरिक मात्र है। जब राज्य नागरिकता के संबंधों को निर्धारित करता है तो इसमें धर्म की कोई भूमिका नहीं होती। राज्य के जो भी कर्त्तव्य हैं या अधिकार हैं, उन पर व्यक्ति के धर्म और विश्वासों का कोई असर नहीं पड़ता।

नोट

3. राज्य और धर्म की पृथकता (Separation of State and Religion)

राज्य और धर्म के दो पृथक्-पृथक् क्रिया क्षेत्र हैं और इन दोनों में कोई संबंध नहीं है। राज्य के अपने नियम हैं, क़ानून हैं और इनके अनुसार वह अपना कार्य करता है और इसी तरह धर्म का भी एक निश्चित कार्य क्षेत्र है, उसकी अपनी विधियाँ हैं और इन्हीं के अनुसार वह चलता है। यह राज्य का कार्य नहीं है कि वह धर्म को प्रोत्साहित करे, उसे आदेश दे या नियमित करे। भारत में राज्य और धर्म एकदम स्वतंत्र है। यदि यूरोप के संदर्भ में कहें तो जिस तरह वहाँ **एक स्वतंत्र राज्य में स्वतंत्र धर्म** (A Free Church in a Free State) का मुहावरा है वह हमारे यहाँ भी लागू होता है।

भारत में धर्मनिरपेक्षता की व्याख्या परस्पर जुड़े हुए इन तीन तत्वों के आधार पर–स्वतंत्र धर्म, नागरिकता और राज्य और धर्म की पृथकता–होनी चाहिए। यहाँ अवश्य कहना चाहिए कि हमने ऊपर भारतीय धर्मनिरपेक्षता की जो व्याख्या की है वह वेबर की अवधारणा में एक **आदर्श प्रारूप** (Ideal Type) मात्र है। व्यावहारिक जीवन में तो कई ऐसी घटनाएँ होती हैं जिनमें राज्य का धर्म में हस्तक्षेप होता है। हमारे यहाँ कई बार जो राजनीतिक दंगे होते हैं उनके पीछे राजनीतिक दलों का राजनीतिकरण होता है। इन तीनों तत्वों के संबंध राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया को चलाते हैं। राष्ट्र-निर्माण की यह प्रक्रिया एक लंबी प्रक्रिया है और वर्षों तक चलती रहती है।

14.11 सारांश (Summary)

- धर्म एवं विज्ञान का मानव जीवन से घनिष्ठ संबंध है। दोनों ही संस्कृति के अभिन्न अंग हैं और दोनों का ही प्रयोग मानव आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किया जाता रहा है, किंतु जहाँ धर्म ईश्वर और पारलौकिक शक्ति के सहारे मानवीय समस्याओं का समाधान खोजता है, वहीं विज्ञान वास्तविकता के आधार पर कार्य एवं कारण के सहारे समस्याओं का तार्किक हल प्रस्तुत करता है।
- धर्म एवं विज्ञान में कई बार हमें संघर्ष दिखाई देता है। जो लोग यह मानते हैं कि धर्म एवं विज्ञान में कोई संघर्ष नहीं है उनका मत है कि धार्मिक विश्वास इंद्रियों से परे एक विश्व की ओर संकेत करते हैं। यदि इन विश्वासों को वैज्ञानिक आधारों पर प्रमाणित नहीं किया जा सकता है तो उनको हम अप्रमाणित भी नहीं कर सकते।
- (1) धर्म का संबंध अलौकिक शक्ति से है, जबकि विज्ञान का लौकिक शक्तियों से। (2) धर्म कार्य एवं कारण के संबंधों पर आधारित नहीं है जबकि विज्ञान कार्य एवं कारण पर जोर देता है। (3) धर्म आस्था और विश्वास पर टिका हुआ है जबकि विज्ञान तर्क-प्रधान है।
- मार्क्स धर्म को समाज के लिए अफीम मानते हैं, एक आध्यात्मिक शराब मानते हैं। धर्म की प्रकृति रूढ़िवादी है। जैसे स्थिति है वैसी ही बनी रहे, धर्म इस बात का सदैव समर्थन करता है। धर्म बदलती हुई परिस्थितियों के साथ कदम-से-कदम मिलाकर चलने में असमर्थ है।
- धर्म में होने वाले परिवर्तनों का मुख्य कारण यह है कि विज्ञान का आधार तर्क, प्रयोग व निरीक्षण है। विज्ञान के क्षेत्र में काल्पनिक तत्वों का कोई अस्तित्व नहीं है अर्थात् विज्ञान कल्पना से परे है, विज्ञान द्वारा सृष्टि के बारे में प्राप्त वास्तविक ज्ञान ने धर्म के काल्पनिक आधार पर कठोर प्रहार किया है तथा मानव को काल्पनिकता छोड़ वास्तविकता ग्रहण करने के लिए विवश किया है।
- वर्तमान समय में भारतीय समाज के आधुनिक आधार के रूप में धर्मनिरपेक्षता का महत्त्व बढ़ता जा रहा है।
- धर्मनिरपेक्षता एक ऐसा दृष्टिकोण है जिसके अनुसार विभिन्न धर्मों के लोग सहिष्णुता, सह-अस्तित्व एवं समानता के आधार पर एक-दूसरे के धार्मिक विश्वासों में किसी प्रकार की बाधा डाले बिना, कल्याणकारी राज्य की स्थापना में योग देते हैं।

नोट

14.12 शब्दकोश (Keywords)

1. **धर्मनिरपेक्ष**–जहाँ धर्म के प्रति पक्षपात न हो (जैसे–धर्म निरपेक्ष देश)
2. **युक्तिमूलकता**–विचार से युक्त।
3. **झंझावात**–प्रचंड वायु, आँधी तूफ़ान।

14.13 अभ्यास-प्रश्न (Review Question)

1. मानव जीवन में विज्ञान की भूमिका स्पष्ट कीजिए।
2. आधुनिक युग में धर्म और विज्ञान के संघर्ष को विस्तार से समझाइए।
3. वर्तमान वैज्ञानिक युग में धर्म की प्रासंगिकता पर अपने विचार प्रस्तुत कीजिए।
4. धर्मनिरपेक्षता की परिभाषा देते हुए उसकी विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।
5. 'भारत एक धर्म निरपेक्ष राज्य है।' इस पर एक टिप्पणी लिखिए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer : Self Assessment)

1. (✗)
2. (✓)
3. (✓)
4. (✗)
5. (ख)
6. (ग)
7. (क)

14.14 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. इंडियन सोसाइटी : इंस्टीट्यूशंस एंड चेंज–*शर्मा, राजेंद्र के. 2004.*
2. फंडामेंटल्स ऑफ़ सोश्योलॉजी–*गिसबर्ट, पास्कल 2006, ओरिएंट लॉंग्मैन।*
3. डायनमिक्स ऑफ सोशल इंस्टीट्यूशंस–*अज़हर शेख़, सब्लाइम पब्लिकेशंस, 2008.*

LOVELY PROFESSIONAL UNIVERSITY
Jalandhar-Delhi G.T. Road (NH-1)
Phagwara, Punjab (India)-144411
For Enquiry: +91-1824-300360
Fax.: +91-1824-506111
Email: odl@lpu.co.in